दो शब्द

वर्तमान समय में हिन्दी-साहित्य का बहुत-कुछ विकास हो रहा है और वह बढ़ भी अच्छी गति से रहा है, किन्तु यह युग वास्तव में गद्य का ही युग हो रहा है। यद्यपि खड़ी बोली ने काव्य-क्षेत्र में भी प्रवेश प्राप्त कर लिया है और उसके द्वारा सुन्दर काव्य का सृजन भी हो रहा है तथापि प्राचीन ब्रज भाषा और अवधी के काव्य बहुत कुछ जनता से दूर हुए जा रहे हैं। न केवल जनता ही से, क्योंकि जनता में तो अभी ये ही काव्य अधिक पढ़े, सुने और समझे जाते हैं, वरन् नवयुवक-समाज से अवश्यमेव यह एक प्रकार से बहुत अधिक दूर हो रहे हैं। यद्यपि स्कूलों और कालेजों तथा यूनीवर्सिटियों के पाठ्य-क्रमों में इन को स्थान दिया जाता है, किन्तु प्रायः गौण रूप में ही। एक प्रकार से इन काव्यों के पठन-पाठन की परम्परा इस युग में शिथिल हो रही है, किन्तु इसका परिणाम अच्छा नहीं। जिस प्रकार वाण धनुष पर रक्खा जाकर जितनी ही दूर पीछे खींचा जावेगा उतनी ही दूर वह आगे जायेगा, इसी प्रकार प्राचीन साहित्य का जितना ही अधिक और गहराई से अध्ययन होगा नवीन साहित्य को उतनी ही अधिक वृद्धि और समृद्धि बल-वेग के साथ प्राप्त होगी।

इसी के साथ कहना चाहिये कि वास्तव में हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का मूल मर्म इन्हीं साहित्यों में है अथवा यों भी कहा जा सकता है कि हिन्दुत्व और हिन्दू-हृदय तथा हिन्दू-मनोवृत्ति का सच्चा स्वरूप इन्हीं साहित्यों में मिलता है, इसलिए इन साहित्यों का जीवित रखना, इनके पठन-पाठन को बनाये रखना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य ही है। यह बात भी नहीं है कि यह साहित्य आधुनिक दृष्टि-कोण और विचार-धारा के साथ कोई संगति ही न रखते हों

और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से देखे न जा सकते हों। सत्य बात तो यह है कि इन साहित्यों अथवा काव्यों में ज्ञान और विज्ञान; बोधवृत्ति और भावना - वृत्ति, हृदय-पक्ष और कला-पक्ष, लौकिकता और अलौकिकता, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, अनुराग और विराग सब का बहुत ही सुन्दर और सार्थक समन्वय हुआ है।

यह अवश्यमेव सत्य है कि आधुनिक खड़ी बोली के प्रचार और प्रसार से व्रजभाषा, जो समस्त उत्तरीय भारत में लगभग ४०० वर्षों तक एक मात्र काव्य-भाषा होकर रही है, बहुत कुछ इस समय दुर्बोध और कठिन प्रतीत होने लगी है जिसका मुख्य कारण इसके साथ हमारे संपर्क में आई हुई शिथिलता है।

इसके साथ ही व्रज - भाषा के साहित्य की जिज्ञासा रखने वालों के लिए ऐसे उपयुक्त साधनों की कमी भी है, जिनसे उन्हें सहायता मिल सकती है, इसलिए अब आवश्यकता यही है कि व्रजभाषा के समस्त कवियों की यदि नहीं तो सभी प्रमुख सत्कवियों की रचनाओं की अच्छी टीकाएं प्रकाशित की जांय। इससे यह लाभ भी होगा कि व्रज-भाषा के काव्य की परम्परा और विचार-धारा न केवल सुरक्षित ही रह सकेगी वरन् उसके न जानने वालों के अनर्गल आक्षेपों से दूषित भी न हो सकेगी। इसी विचार को ध्यान में रखकर हमने यह अल्प प्रयास किया है और कविवर नन्ददास की दो प्रमुख रचनाओं की यह टीका प्रकाशित कराई है।

यद्यपि टीका को यथेष्ट विस्तार नहीं दिया जा सका, क्योंकि इस समय कतिपय कठिनाइयां हैं, फिर भी आशा है कि इस सांकेतिक सूक्ष्म व्याख्या से हमारे पाठकों को यथेष्ट लाभ पहुँच सकेगा। इसी टीका के साथ ही नन्द दास के काव्यालोचन पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है, जिससे उनके काव्य के देखने में भावुक जनों को कुछ सुविधा हो सके।

१२ डी० बेली रोड,   विनीत
प्रयाग   रामशङ्कर शुक्ल "रसाल"

नंद-काव्यालोचन

काव्य और साहित्य को स्थूल रूप से तीन मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं। वस्तुतः ये ही तीन भाग काव्य के होते भी हैं, इनके ही अन्तर्गत अन्य सारी बातें या विशेषतायें आ जाती हैं। ये तीन भाग हैं :—१—**भाव या वर्ण्यवस्तु** अथवा विचार-धारा २—**भाषा**, जिसमें वर्ण्यवस्तु अनुवादित होती है ३—**रचना या वर्णन की रीति अथवा शैली**, जिसे भाव-प्रकाशन-विधि भी कह सकते हैं। भाव या विचार के अन्तर्गत कल्पना, सिद्धान्तादि भी आ जाते हैं। रचना-रीति से प्रायः तात्पर्य छंद-रचना-शैली और भावाभिव्यंजन रीति, वाक्य-विन्यास और शब्द-संगठन की विशेषता से है। अलंकार-योजना उक्ति-वैचित्र्यादि का इसी में समावेश है। कोई भी काव्य हो, उसे इन्हीं भागों में विभक्त कर इनमें से प्रत्येक की विवेचना के साथ आलोचना करनी चाहिये।

इसी विचार से यहाँ नन्ददास जी के दो मुख्य ग्रन्थों की, जो प्रस्तुत हैं, संक्षिप्त आलोचना और विवेचना की जाती है। विवेचना में वस्तुतः काव्य का यथोचित अध्ययन (जिसमें मनन और चिन्तन भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है) कर उसे यथेष्ट रूप से समझकर उसका स्पष्टीकरण होता है। आलोचना का कार्य इसके अनन्तर किया जाता है। आलोचना में काव्य-रचना का सम्यक् निरीक्षण और परीक्षण कर उसके गुण-दोषादि तथा न्यूनताओं और विशेषताओं का विचार किया जाता तथा फिर उस पर अपना निर्णय दिया जाता है। आलोचना केवल दोष-दर्शन और गुण-स्तवन ही नहीं, वरन् वह इन दोनों का

वास्तविक निरूपण है, और इन दोनों का समन्वय इस का एक विशेष गुण है।

यों तो नन्ददासकृत लगभग १५ से २३ पुस्तकें तक कही गई हैं, किन्तु उन सब में से अति प्रसिद्ध और प्रचलित केवल दो ही हैं—१-रासपंचाध्यायी और २-भ्रमर (भँवर)-गीत। इनसे अतिरिक्त सिद्धान्त-पंचाध्यायी, रूप-मंजरी, रस-मंजरी जैसी रचनायें भी उल्लेखनीय और सराहनीय हैं। यहाँ उक्त दो ही पुस्तकों पर कुछ संक्षेप से विचार किया जाता है। विवेचना-भाग पर तो इस लिये कुछ अधिक प्रकाश नहीं डाला जा रहा क्योंकि इस टीका में सर्वत्र प्रायः प्रत्येक छंद के साथ उन पर टिप्पणी के रूप में विवेचनात्मक प्रकाश संक्षिप्त किन्तु पर्याप्त रूप में मार्मिक ढङ्ग से डाला गया है। इसलिये केवल संक्षिप्त आलोचना ही इन दोनों ग्रंथों की दी जा रही है।

रासपंचाध्यायी में तो श्रीकृष्ण कृत गोपियों के साथ रास लीला का वर्णन है, और यह विशेष रूप से भागवत पर ही समाधारित है, उसका यह सर्वथा अनुवाद तो नहीं है, किन्तु भावानुवाद और कहीं-कहीं छायानुवाद अवश्यमेव है। कथा-वस्तु तो एक प्रकार से सर्वथा भागवत से ही ली गई है किन्तु कहीं कहीं उसे कुछ न्यूनाधिक रूप भी दिया गया है, कहीं तो कुछ विशेषता के साथ और कहीं कुछ न्यूनता के साथ उसका वर्णन किया गया है। टीका से यह कथन पूर्णतया स्पष्ट और पुष्ट हो जायेगा, क्योंकि स्थान-स्थान पर वस्तु-विवेचन के साथ ही भागवत की कथा-वस्तु का तुलनात्मक दृष्टि से उल्लेख भी किया गया है। यही बात भ्रमर गीत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, यह भी भागवत पर ही समाधारित है। भागवत से सहायता लेते हुए नन्ददास ने स्थान-स्थान पर अपने मौलिक भाव भी दिये हैं। टीका में इसका भी उल्लेख किया गया है, अतएव यहाँ उदाहरणों का देना कलेवर का बढ़ाना ही होगा।

वर्ण्यवस्तु के देखने से पूर्व यह समझ लेना चाहिये कि नन्ददास उन श्री कृष्ण की ललित लीला लिख रहे हैं, जिन्हें उन्हं ने और उनके समान सारे वैष्णव समाज अथवा हिन्दू - समाज ने ईश्वर-वतार माना है । ईश्वर में सब प्रकार का विरोध चरितार्थ होता है। भगवान विष्णु को शृंगार रस का अधिष्ठाता और नायक माना गया है। साथ ही उनके दो रूप कहे गये हैं, एक तो क्षीरशायी रमापति विष्णु-रूप तथा दूसरा परात्पर गोलोक के वासी नारायण-रूप, इसी प्रकार उनके नर-नारायण-रूप भी दिखलाये हैं—

"नर-नारायण की तुम दोऊ"—तुलसीदास। नारायण रूप से भगवन शान्त रस के अधिष्ठाता या देवता हैं। शृंगार रस का स्थायी भाव रति या प्रीति है—यह दो प्रकार की है लौकिक और अलौकिक—

"मन विहँसे रघुवंस मनि, प्रीति अलौकिक जान।" रामा०

एक दृष्टि या विचार से लौकिक और अलौकिक का भेद अविद्या-जन्य है, हरि के लिए यह भेद नहीं, इसी प्रकार हरि-भक्त के लिए भी यह भेद-भाव नहीं। यह भी स्मरणीय है कि प्रीति, प्रेम, स्नेह, अनुराग, और प्रणय में बहुत बड़ा अन्तर है। प्रेम परम शुद्ध, पवित्र, आनंद-रस-युक्त, नित्य एक रूप और स्वात्त्विक है, यही ईश्वर का भी रूप है तथा यही ईश्वर को प्रगट करने वाला भी है: -

"प्रेम ते प्रगट होहि भगवाना।" —तुल०

प्रीति इससे कुछ अल्प महत्व की भावना है और मन से सम्बन्ध रखती है किन्तु शुद्ध प्रेम आत्मा-सम्बन्धी है। अनुराग शुद्ध होता हुआ भक्त को भगवान के सगुण रूप से मिलाता है:—

"मिलहिं न रघुपति बिन अनुरागा।" —तुल०

स्नेह मायामय और लौकिक है, मन से इसका भी सम्बन्ध है, इसी प्रकार प्रणय को भी जानना चाहिये। प्रणय में नम्रता और आदर का भाव भी रहता है। भक्ति-काव्य में यद्यपि इन सब का यथा-

स्थान उल्लेख हुआ है किन्तु प्रधानता प्रेम, अनुराग और प्रीति को ही दी गई है। इनका प्रयोग बहुत ही विचार-पूर्वक और नियमानुसार ही एक निश्चित रूप और अर्थ में किया गया है।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि भक्ति के क्षेत्र में आने वाला प्रेम वह प्रेम नहीं जिसका उल्लेख प्रेमात्मक सूफी काव्य (उर्दू-फारसी) में जायसी जैसे कुछ मुसलमान फकीरों के द्वारा किया गया है, वरन् दोनों में अन्तर है। भक्ति-गत प्रेम शुद्ध, निर्विकार श्रद्धा-समादरभाव-युक्त और सात्विक है, इसमें सेवा-भाव भी रहता है, किन्तु सूफी प्रेम ऐसा नहीं, उसमें रति-भाव लौकिक रूप से चलता हुआ आगे कुछ अलौकिक स्वरूप में आ जाता है। भक्ति में अनुरक्ति और विरक्ति दोनों का समसंतुलन और समन्वय रहता है, तथा विराग और अनुराग दोनों का सामंजस्य रहता है। भक्ति इच्छा-रहित या निष्काम रहती है, जिसमें अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के मानवीय सम्बन्धों के भाव प्रस्फुटित होते हैं। शत्रु-भाव भी भक्ति में तो प्रेम का विलक्षण रूप ही रहता है, उसे प्रायः समझा ही नहीं जा सकता, वह नितांत अंतर्भूत और शुद्ध रहता है। ईश्वर-ध्यान एवं प्रभु-भाव इसमें प्रधान होकर अनवरत चिन्ता उत्पन्न करता है। इस प्रकार भक्ति का क्षेत्र बहुत ही गूढ़, गंभीर और जटिल है।

नंददास ने प्रेम-भक्ति को विशेषता दी है। भक्ति तो मूल में है ही किन्तु यह भक्ति प्रेम-रस-सिंचित है, इसी से इसे **प्रेमा भक्ति** भी कहा गया है। नंददास ने सूर दास के समान वात्सल्य भाव को नहीं अपनाया, वरन् इन्होंने प्रेमा भक्ति को लिया है, और कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में प्रवेश ही [illegible] है जिसमें प्रेमा भक्ति का ही प्राबल्य-प्राचुर्य है। रासपंचाध्यायी और भ्रमर गीत दोनों ही रचनाओं में प्रेमा भक्ति [illegible] है। इसमें रति-भावना अथवा [illegible] है, [illegible] लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्ष दिखलाये गये हैं और दोनों का [illegible] ही भाव माधुरी से समन्वय किया गया है।

जिस प्रकार भगवान प्रगट होता हुआ भी अप्रगट और अप्रगट होकर भी प्रगट कहा जाता है, उसी प्रकार उसकी लीला तथा प्रीति भी व्यक्ताव्यक्त रूप में रहती है। इसी लिये कृष्ण-काव्य में भगवत् प्रीति के दो रूप साथ ही साथ चलते हैं, और परस्पर ऐसे मिले हुए हैं कि दोने प्रगट और दोनों ही अप्रगट से रहते हैं। हरि-लीला को दुर्ललिताद्भुत भी कहा गया है, इसका पूरा निर्वाह कृष्ण काव्य में हुआ है। अद्भुत तो लीला ऐसी है कि जान पड़ता है कि वह नितान्त ऐहिक और वैषयिक है किंतु वास्तव में वह है परम पुनति और निर्विकार। इसी भाव को लेकर गो० तुलसीदास ने लिखा है— उमा राम-गुन गूढ़, पंडित जन पांवहिं विरति"। इसी हरि-लीला के कीर्तन में ज्ञान और भावना दोनों का लय होता है, पंडितों के लिये तो यह ज्ञानगम्य और गूढ़ है किन्तु साधारण जनों के लिये लौकिकतामय और साधारण वस्तु सी है। जैसे हरि-रूप निज-निज भाव के आधार पर पृथक-पृथक दीखता है— वैसे ही हरि-लीला भी दीखतो है—भगवत रसिक ने एक पद में इसी बात को व्यक्त करते हुए लिखा है—

"अमल अनूप रूप हरि-लीला स्वाति-विंदु-जल जैसे।
'भगवत रसिक' विषमता नाहीं पात्र-भेद गुन तैसे।"

यही कारण है कि हरि-भक्तों को हरि-चरित्र में केवल पवित्रता ही दीखती है, उसमें उन्हें अलौकिक सुन्दर सरसता ही प्राप्त होती है किंतु अन्य जनों को उसमें लौकिकता और विकारवत्ता आभासित होती है। नंद दास ने इस भाव को हृदय में रखते हुए इस प्रकार रास-वर्णन किया है कि दिव्यादिव्य का विलक्षण समन्वय कर दिया है, इसे हमने टीका में स्थान-स्थान पर संकेत-रूप से दिखलाने का प्रयत्न किया है, अतएव यहां नमूने दे कर विस्तार करना व्यर्थ है।

रास-क्रीड़ा वास्तव में प्रकृति और पुरुष या माया तथा हरि का नर्तन है। केन्द्र में माया-पुरुष और चारो ओर फिर माया-पुरुष का परिभ्रमण होता है—विज्ञान भी मानता है कि एक अणु के चारों ओर दूसरा

अणु वेग से घूमता है, बस इसी से सृष्टि की सारी उत्पत्ति, स्थिति और लय का कार्य चलता रहता है—सारी सृष्टि एक हरि रूपी केन्द्र में केन्द्रीभूत हो नर्तन सा करती रहती है। भक्ति-क्षेत्र में माया के दो रूप माने जाते हैं—एक विद्या-माया और दूसरी अविद्या-माया। विद्यामाया ही राधा है, जिसे हरि की आह्लादिनी शक्ति भी कहा गया है—अविद्यामाया के अनेक रूप हैं:—गोपियाँ, अथवा विश्व की भक्तात्मायें।

नंद दास ने यह भी सूचित किया है कि सारी प्रकृति इस रास में लगी है और अनुचरी का कार्य कर रही है। अंत में जाल-क्रीड़ा के व्याज से सब गोपियों या आत्माओं को हरि ने रस-स्नान करा शुद्ध किया और उन्हे दिव्याभरणों और वस्त्रादिकों से अलंकृत किया, ये वस्त्राभरण उनकी आज्ञा से एक वृक्ष ने दिये हैं, इससे स्पष्ट है कि यह लीला अलौकिक और दिव्य थी—

इसी के साथ नंद दास ने यह भी सूचित किया है कि गोपियों और राधिका को गर्व हुआ, उसे नष्ट करने के लिये हरि ने उन्हें त्याग दिया और इस प्रकार उन्हे वियोग-व्यथित किया, जब वे गर्व-रहित हो फिर अपने मूल रूप में आ गयीं तब हरि प्रगट हो गये। इस प्रकार हरि के गर्वापहारी होने का भाव भी व्यक्त किया गया है।

रास से पूर्व हरि ने गोपियों से पूछा था कि वे क्यों अपने घरों और पतियों आदि को छोड़कर यहाँ चली आई हैं, किसने उन्हें बुलाया है। गोपियां इसके उत्तर में कहती हैं कि आपने ही हमें अपनी वंशी के द्वारा बुलाया क्या, आकर्षित किया है, और अब आप ही यों पूछते हैं। मुरली को वेणु कहा गया है, वेणु से तात्पर्य है :— ब्रह्म-नाद या नाद-ब्रह्म का, जिसके समक्ष यह सारा संसार अणु मात्र ही है (व + इद + अणु)। इसी को लेकर दिखाया गया है कि वंशी में विश्व-विमोहिनी शक्ति है, उसके नाद से चराचर विमोहित हो जाते हैं। नंद ने भी इसी रहस्य को ध्वनिति किया है।

नंददास ने मुरली को हरि की योग-माया सी अघटित-घटना-पटीयसी तथा नाद - ब्रह्म की उत्पादिनी - मोहिनी शक्ति कहा है— (छं०—नं० २८)।

इस मुरली के नाद को सुनने के लिये सभी अधिकारी नहीं, शुद्ध प्रेम-रूपिणी पंचभूत-परे गोपियाँ ही इसे सुन सकती हैं क्यों कि उनमें दिव्य शक्ति है— (छं० ३१)।

गोपियों में शुद्ध हरि प्रेम और भक्ति का भाव बड़ी ही चारु चातुरी से शृंगार के साथ नंद दास ने दिखलाया है। गोपियाँ कहती हैं कि धर्म-कर्म का फल या प्रयोजन हरि-प्राप्ति है, उसके अनन्तर धर्म की क्या बात है, अब हमारे लिये और कोई भी धर्म नहीं, फिर मुरली - नाद सुन धर्म रहे कैसे, धर्म-विचारक मन तो इसीके वश हो इसी में लोन हैं। यह रहस्य है, गोपियों और उनके प्रेम-नेम का, वे लोक-धर्म से परे हैं, धर्म-प्रयोजन-रूप हरि को प्राप्त कर वे सब धर्म-कर्म से मुक्त हो चुकी हैं। आगे गोपियाँ हरि के अधर-रस को मुरली-माधुरी का कारण कह हरि से उसी की याचना करती हैं और कहती हैं कि उसके न मिलने पर वे स्वशरीरों को भस्मसात कर देगीं।

गोपियाँ मुरली को महादूती कहती हैं, क्योंकि यही गोपियों को कृष्ण के निकट बुला लाती है, किन्तु फिर स्वयमेव कृष्णाधर-रस पीती हैं और उनकी प्रिया हो जाती है।

गोपियाँ को हरि छोड़ कर चले गये, इस समय नंद - दास ने गोपियों की वियोगावस्था का वर्णन सुन्दरता से किया है। गोपियाँ वियोग से व्याकुला हो वन के द्रुमादिकों से हरि की खोज पूछती हैं। यह भाव प्रायः अन्य कवियों ने भी लिया है। हनुमन्नाटक, रामचरित - मानस आदि कतिपय अन्य काव्यों में भी इसी प्रकार लिखा गया है।

यहाँ इस प्रसंग से ही यह भी ध्वनित किया गया है, कि हरि का पता माया या प्रकृति कदाचित बता सके, क्योंकि वे मायापति हैं और प्रकृति में ही पुरुष रम रहा है, किन्तु कोई पता नहीं चलता,

क्यं कि माया या प्रकृति से वह मायापति परे है, तब माया को उसका भान कैसे हो सकता है। इस संकेत के पश्चात् गोपियों की उस उन्मत्तावस्था का चित्रण है जिसमें वे अपने को ही हरि-रूप में रख सारी लीला तद्वत तन्मयता के कारण करती हैं। यहां लीला-हाव का सुन्दर आभास है और वह यह भी ध्वनित करता है कि गोपियों में ध्यानैकाग्रता तथा तल्लीनता का उत्कृष्ट भाव है।

इसके पश्चात् हरि के द्वारा राधा का त्याग भी दिखलाया गया है, वह भी गर्व के कारण, आगे गोपियों को परित्यक्ता राधा भी मिल जाती हैं। इस समय गोपियों में कोई भी सपत्नीक भाव नहीं रहता, वरन् राधिका के साथ उनमें सच्ची सहानुभूति और समवेदना होती है। इस प्रसंग में कवि ने मनोविज्ञान और मानव-प्रकृति के सच्चे रूप का अच्छा उपयोग कर सुन्दर चित्रण किया है।

तीसरे अध्याय में कवि ने गोपियों के वियोग का वर्णन किया है। वियोगावस्था में गोपियाँ कृष्ण के अनुचित व्यवहार का कथन करतीं हैं और अपनी प्रीति के बदले में उनके अन्यथाचार का उल्लेख करती हैं। यहीं हरि - कथा का कुछ महत्व भी कहा गया है। गोपियाँ इस उपालम्भ के पश्चात् अपनी यह इच्छा प्रगट करती हैं कि हरि आकर उनके हृदयों और सिरों का स्पर्श कर उन्हें सुख दें। इस अध्याय को सर्वथा भगवत पर ही आधारित सा समझना चाहिये, फिर भी जैसा टीका में स्थान-स्थान पर दिखलाया गया है, कवि ने अपनी मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है।

एक बात यहाँ और देख लेनी चाहिये, वह है राधिका के परित्याग का कारण। राधिका को हरि गोपियों के परित्याग पर साथ ले गये थे और राधा - माधव दोनों गोपियों को छोड़ गये थे, राधा कुछ दूर और कुछ समय तक तो माधव के साथ गई थीं, किन्तु आगे जाने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए कृष्ण से साभिमान आगे ले चलने को कहा था। इसी प्रसंग में नंद दास ने यह भी कहा है कि

राधा ने भली-भाँति हरि की आराधना की है इसी से वे उसे साथ ले गये। प्रथम वे यह भी न जान सकी थीं कि हरि राधा को साथ ले गये हैं, यह तो आगे परित्यक्ता राधिका के एक स्थान पर हरि-वियोग कृत दुःखितावस्था में मिलने पर उन्हें ज्ञात हुआ, साथ ही यह भी कवि ने सूचित किया है कि हरि - धाम तक माया अपनी शक्ति से नहीं जा सकती। यहीं कवि ने राधिका के वियोग-वैकल्य का भी चित्रण उसी प्रकार किया है। विशेषता यह है कि उसके साथ खग-मृग, वेलि आदि को भी रोते हुए दिखलाया है—सारी चराचरमयी प्रकृति मानो दुखी हो। इससे राधिका का आह्लादिनी शक्ति-रूपा माया का होना भी ध्वनित किया है।

सारा प्रसंग अध्यात्म विचार - धारा के साथ प्रगतिवान हुआ है; जिससे स्पष्ट है कि कवि का तात्पर्य भक्ति और प्रेम के साथ ही हरि की आध्यात्मिक लीला का चित्रण करना भी है। यह भी स्मरणीय है कि राधिका अन्य गोपियों के समान वियोग-व्यथिता हो हरि के प्रति उपालम्भादि-सूचक वचन नहीं कहतीं।

घन से बिजली और चंद्र से चंद्रिका के समान पृथक होकर राधा, 'कासि प्रिय' ! कहती हुई रोती है, बस और अधिक कुछ नहीं कहतीं; किन्तु दशा उनकी दयनीय है। गोपियाँ उससे सब राग-द्वेष छोड़कर बड़े प्रेम से मिलती हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि उन्होंने बहुत अधिक साधना और हरि की आराधना की है। साथ ही यहाँ "हरि ते प्रिय मोहिं हरि कर दासा" का भाव भी व्यंजित होता है।

चतुर्थ अध्याय में गोपियों का विह्वल होकर अंड-बंड बकना दिखाकर हरि का प्रगट होना कहा गया है। यहाँ प्रगट होना व्यंजकतामय है और यह सूचित करता है कि हरि कहीं गये न थे, केवल गोपियों की दृष्टि से परे हो अप्रगट हो गये थे। हरि के मिलने पर गोपियों की हर्षितावस्था तथा तत्समय के अनुभावादि का भी उल्लेख किया गया है। गोपियों ने पुलिन पर अपने वस्त्र बिछा दिये,

और हरि उन्हीं पर बैठ गये। कवि ने प्रत्येक गोपी के वसन पर हरि को बैठा कर हरि की योगेश्वरता ध्वनित की है, और कहा है कि योगी-जन बहुत कठिन साधना करते हैं किन्तु हरि उन्हें नहीं मिलते, वे ही हरि गोपियों के साथ उनके वसनों पर बैठे हैं—यही है भक्ति-प्रेम-प्रभाव। यहीं गोपी-कृष्ण का प्रेम - सम्बंधी प्रश्नोत्तर बहुत ही मार्मिक और व्यंग्य के रूप में दिया गया है। कृष्ण यहीं गोपियों ने अपने दोष को हृदय से दूर करने को कहते हैं।

पंचमाध्याय में फिर गोपी-कृष्ण की जल-क्रीड़ा का वर्णन है। तत्पश्चात गोपियों का हरि के आदेश से दिव्याभरणादि को प्राप्त कर अधिक शोभित हो घर वापस जाने का कथन है। इससे गोपियों के दिव्य-रूपों के प्राप्त करने की भी व्यंजना दी गई है। घर वे सब ऊषा से कुछ ही पूर्व पहुँच जाती हैं और घर वालों को उसी अवस्था में पाती हैं, जिसमें वे उन्हें छोड़ गई थीं। सारा रहस्य गोपों के मोह-निद्रा में ही हुआ और इसी से वह रहस्य ही बना रहा। हरि-रहस्य तो वही जाने जिसे वे जनावें, और कोई कैसे जान पावे :—

"सोइ जानै जेहि देहु जनाई।" —तुलसीदास

सूर ने इसी रास का वर्णन इस प्रकार किया है मानो यह राधा-माधव के विवाह के व्याज-रूप में हो। नन्ददास ने इस प्रकार इसे नहीं दिया, वे प्रायः भागवत के ही आधार पर चले हैं।

प्रकृति-चित्रण

इसी प्रसंग में कुछ प्रकृति-चित्रण की भी चर्चा कर देना समीचीन जान पड़ता है। काव्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण का अपना अलग महत्व है। हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-चित्रण बड़ा ही चारु और चमत्कार-पूर्ण है। प्रायः यह कहा जाता है कि प्रकृति का चित्रण हिन्दी में वास्तविक और स्वतंत्र रूप में नहीं किया गया, उसे आलंबन रूप से नहीं लिया

गया, वरन् प्रकृति को रस-सिद्धान्तानुसार उद्दीपन विभाव के रूप में ही लिया गया है, किन्तु इस कथन में पूरी तथ्यता नहीं।

प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध अनिवार्य है, अब देखिये वह सम्बन्ध हो कितने प्रकार से सकता है। कवि या कोई भी व्यक्ति प्रकृति को केवल उसी रूप में देख सकता है जिस रूप में वह स्वयमेव है। अथवा अपनी मानसिक अवस्था के ही आधार पर सब को प्रकृति दीखती है, प्रकृति की सत्ता और महत्ता मानव मन तक ही है, बिना उसके प्रकृति की सत्ता में संदेह है। संसार तभी तक है जब तक उसे देखने वाला है, साथ ही वह वैसा ही है जैसा उसे देखा जाता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक रूप में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण हो ही क्या सकता है, उसकी सत्ता और महत्ता सापेक्ष है।

भक्ति-काव्य में प्रकृति का चित्रण भी दो मुख्य विचारों या सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। प्रथम आध्यात्मिक या दार्शनिक विचार से और दूसरे औपासनिक विचार से।

दार्शनिक विचार से प्रकृति ही माया है; वह जड़-चेतन या विद्या-विद्या-रूप है। ईश्वर मायापति है, किन्तु है वस्तुतः माया से परे। माया तदिच्छानुवर्तिनी नर्तकी और दासी सी है। भगवान को सदा प्रसन्न करने और सुख पहुँचाने की वह चेष्टा करती हुई कार्य करती है। इस विचार के साथ ही भक्ति-काव्य में प्रकृति को उद्दीपन के रूप में रक्खा गया है। किन्तु विचार-पूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि ईश्वर-लीला के प्रसंग में प्रकृति सर्वथा बदल जाती है। वह भी दिव्यता के साथ प्रगट होती है। उसका कार्य-कलाप भी साधारण नियमानुसार न रह कर विचित्र रूप में होने लगता है, हाँ मूलभूत नियम अवश्यमेव बने रहते और अपना आभास देते रहते हैं। प्रकृति की शक्तियाँ भी विशेष रूप में व्यवहार करती हैं यह सब ईश्वरेच्छा को देखते ही हुए होता है। इसी आधार पर प्रकृति-क्रिया को देखकर ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होने वाली अग्रिम-घटनादि का ज्ञान किया जाता है।

और हरि उन्हीं पर बैठ गये। कवि ने प्रत्येक गोपी के वसन पर हरि को बैठा कर हरि की योगेश्वरता ध्वनित की है, और कहा है कि योगी-जन बहुत कठिन साधना करते हैं किन्तु हरि उन्हें नहीं मिलते, वे ही हरि गोपियों के साथ उनके वसनों पर बैठे हैं—यही है भक्ति-प्रेम-प्रभाव। यहीं गोपी-कृष्ण का प्रेम - सम्बंधी प्रश्नोत्तर बहुत ही मार्मिक और व्यंग्य के रूप में दिया गया है। कृष्ण यहीं गोपियों ने अपने दोष को हृदय से दूर करने को कहते हैं।

पंचमाध्याय में फिर गोपी-कृष्ण की जल-क्रीड़ा का वर्णन है। तत्पश्चात गोपियों का हरि के आदेश से दिव्याभरणादि को प्राप्त कर अधिक शोभित हो घर वापस जाने का कथन है। इससे गोपियों के दिव्य-रूपों के प्राप्त करने की भी व्यंजना दी गई है। घर वे सब ऊषा से कुछ ही पूर्व पहुँच जाती हैं और घर वालों को उसी अवस्था में पाती हैं, जिसमें वे उन्हें छोड़ गई थीं। सारा रहस्य गोपों के मोह-निद्रा में ही हुआ और इसी से वह रहस्य ही बना रहा। हरि-रहस्य तो वही जाने जिसे वे जनावें, और कोई कैसे जान पावे :—

"सोइ जानै जेहि देहु जनाई।" —तुलसीदास

सूर ने इसी रास का वर्णन इस प्रकार किया है मानो यह राधा-माधव के विवाह के व्याज-रूप में हो। नन्ददास ने इस प्रकार इसे नहीं दिया, वे प्रायः भागवत के ही आधार पर चले हैं।

प्रकृति-चित्रण

इसी प्रसंग में कुछ प्रकृति-चित्रण की भी चर्चा कर देना समीचीन जान पड़ता है। काव्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण का अपना अलग महत्व है। हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-चित्रण बड़ा ही चारु और चमत्कार-पूर्ण है। प्रायः यह कहा जाता है कि प्रकृति का चित्रण हिन्दी में वास्तविक और स्वतंत्र रूप में नहीं किया गया, उसे आलंबन रूप से नहीं लिया

गया, वरन् प्रकृति को रस-सिद्धान्तानुसार उद्दीपन विभाव के रूप में ही लिया गया है, किन्तु इस कथन में पूरी तथ्यता नहीं।

प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध अनिवार्य है, अब देखिये वह सम्बन्ध हो कितने प्रकार से सकता है। कवि या कोई भी व्यक्ति प्रकृति को केवल उसी रूप में देख सकता है जिस रूप में वह स्वयमेव है। अथवा अपनी मानसिक अवस्था के ही आधार पर सब को प्रकृति दीखती है, प्रकृति की सत्ता और महत्ता मानव मन तक ही है, बिना उसके प्रकृति की सत्ता में संदेह है। संसार तभी तक है जब तक उसे देखने वाला है, साथ ही वह वैसा ही है जैसा उसे देखा जाता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक रूप में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण हो ही क्या सकता है, उसकी सत्ता और महत्ता सापेक्ष है।

भक्ति-काव्य में प्रकृति का चित्रण भी दो मुख्य विचारों या सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। प्रथम आध्यात्मिक या दार्शनिक विचार से और दूसरे औपासनिक विचार से।

दार्शनिक विचार से प्रकृति ही माया है; वह जड़-चेतन या विद्या-विद्या-रूप है। ईश्वर मायापति है, किन्तु है वस्तुतः माया से परे। माया तदिच्छानुवर्तिनी नर्तकी और दासी सी है। भगवान को सदा प्रसन्न करने और सुख पहुँचाने की वह चेष्टा करती हुई कार्य करती है। इस विचार के साथ ही भक्ति-काव्य में प्रकृति को उद्दीपन के रूप में रक्खा गया है। किन्तु विचार-पूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि ईश्वर-लीला के प्रसंग में प्रकृति सर्वथा बदल जाती है। वह भी दिव्यता के साथ प्रगट होती है। उसका कार्य-कलाप भी साधारण नियमानुसार न रह कर विचित्र रूप में होने लगता है, हाँ मूलभूत नियम अवश्यमेव बने रहते और अपना आभास देते रहते हैं। प्रकृति की शक्तियाँ भी विशेष रूप में व्यवहार करती हैं यह सब ईश्वरेच्छा को देखते ही हुए होता है। इसी आधार पर प्रकृति-क्रिया को देखकर ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होने वाली अग्रिम घटनादि का ज्ञान किया जाता है।

यहां इस सम्बंध में विशेष कथन तो नहीं किया जा सकता, इसके लिये यहां स्थान और समय भी नहीं है। यहां अब संक्षेप से नंददास के प्रकृति-चित्रण का उल्लेख किया जाता है।

प्रारम्भ में नंददास ने श्रीवृन्दावन का चित्रण किया है। इसमें वे सूचित करते हैं कि इस वन तथा इसके खग-मृग कुंजादि पर काल और गुण का कोई भी प्रभाव नहीं, अर्थात् यह वन दिव्य है, वहां विरोध भाव का (सिंह-मृगादि में) अभाव है। सभी जीव-जन्तु काम-क्रोधादि से रहित हैं। यहां सदा पवित्र वसंत छविमान रहता है,— क्योंकि इस पर काल का कोई प्रभाव नहीं। यह हरि का विहार-वन है इसलिये सदा वसन्त यहां रहता है, क्योंकि कृष्णावतारी विष्णु शृंगार रस के देवता हैं। यही वन श्री और श्रीकान्त का रमण-स्थल है। इस प्रकार यहां प्रकृति का स्वरूप दिव्य और हरीच्छानुकूल है। देखो छं० १२, १३, १६, १७, १८, १६, २४।

वृन्दावन के विटप सर्व कामप्रद हैं और वहां की भूमि भी चिंतामणि सी अभिमत फलदातार है। यहां एक कल्पतरु हीरा-मोती के पत्र-पुष्पादि रखता है। यह देखिये प्रकृति का रूप। इसी वन में अमृत की फुहार गिरती है, जिससे रास-रसिक हरि का श्रम दूर हो सके। प्रकृति की सेवा और परिचर्या देखिये। उक्त वृक्ष के पत्र-पुष्पादि में कृष्ण-प्रतिविम्ब विराजता है। वन की कनक-भूमि पर वन का प्रतिबिम्बित होना भी कहा गया है। कनक-भूमि आदि पदों से स्पष्ट है कि यह वन हरि-प्रभाव से दिव्य सम्पदामय होकर कल्पनाकृत आदर्श वन है, प्राकृतिक वन वहां रह नहीं गया। यमुना का भी यहीं उल्लेख साधारणतया कर दिया गया है।

वृन्दावन में कृष्ण का सब काल में निवास भी कहा गया है। यद्यपि प्रथम कहा गया है कि इस वन में सदैव पूत वसंत रहता है, किंतु रास के समय यहां शरद ऋतु कही गई है। इसी समय मालती का प्रफुल्लित

ऐसा उदाहरण के द्वारा दिखलाया गया है। यहीं समस्त चंद्रोदय का आलंकारिक-चित्रण हुआ है, जिसमें मदन के बाण छोड़ने की उत्प्रेक्षा चरितार्थ की गई है। इस प्रकार इसके द्वारा अग्रिम रास-रस-क्रीड़ा की सूचना दी गई है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ प्रकृति-वर्णन को कवि साभिप्राय रखना चाहता है। इसी के साथ चंद्र-किरणों के वृक्ष-कुञ्जादि से झलकने की चाहना में दिखलायी हुई उत्प्रेक्षा के ब्याज से यहाँ आकर उनके हरि-रास के देखने की इच्छा भी प्रगट की गई है।

आगे राम-वर्णन है, जिसमें प्रकृति के विविध सुन्दर पदार्थों को उपमानों के रूपों में लिया गया है। यह तो सामान्य कवि-परंपरा और काव्य-पद्धति के ही रूप में है।*

रास-लीला के लिये हरि आगे यमुना-तीर पर आते हैं, इस स्थल पर फिर तनिक प्रकृति का उल्लेख किया गया है। यहाँ शीतल, मंद, सुरभित समीर, पराग-रज का प्रसार, तथा मधुप-गुंजार दिखाते हुए, मालती, मंदार, लवंगादि कतिपय पेड़ों और पौधों की सुरभि-प्रसारण-प्रगति का उल्लेख केवल उद्दीपन के रूप में किया गया है। ऐसे स्थल पर श्री हरि बालुका के ऊपर बैठ गये, यहाँ गोपियों ने अपने वस्त्र नहीं बिछाये, किंतु आगे हरि के लुप्त होकर फिर प्रगट होने पर बिछाये हैं, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।†

इस सब रति-भावोत्पादक परिस्थिति के साथ गोपियों के होते हुए भी श्री हरि ने अपने प्रभाव से मदन को पराजित कर दिया है, स्वयमेव उससे प्रभावित नहीं हुए। यह हरि की काम पर विजय है। मदन विफल होकर गिर पड़ा, तब रति निज मुखोदक से उसे सचेत कर ले भागी। इस प्रसंग से कवि ने ध्वनित किया है कि यह सारा प्रसंग काम-विजय का प्रसंग है—इसमें लौकिक वासना का आरोप करना समीचीन नहीं।

*एतदर्थ देखिये—हमारा "साहित्य और प्रकृति"— नामक ग्रंथ। †छं: १२, १३, १६, १८, १६, २४

द्वितीय अध्याय में फिर कृष्ण के अप्रगट हो जाने पर वियोग-विफला गोपियों को यत्र-तत्र घुमाते हुए कवि ने फिर प्रकृति को उठाया है । यहाँ विटपादि से वे हरि की खोज पूछती फिरती हैं । इस प्रकार यहाँ प्रकृति को गोपियों की मानसिक दशा का व्यंजक रूप दिया गया है । यहाँ कहीं कहीं गोपियाँ मानव-भावनारोप भी प्रकृति के पदार्थों - लता-विटपादि पर करती हैं । देखिये छं० ७, ।

यहीं यमुना को जग दुद्धारक जल-वाहिनी भी कहा गया है, जिससे एक विशेष सिद्धान्त का संकेत मिलता है, तदनन्तर, कमल, धरा, तुलसी आदि को भी लिया गया है ।

आगे चलकर राधिका की विरह-व्याकुलावस्था देख खग-मृगादि को कवि ने रुला ।दिया है । इससे सूचित होता है कि प्रकृति चेतन होती हुई भावनामयी है, उसमें समवेदना और सहानुभूति आदि की भावनायें हैं । इसे हम भावनारोप-पद्धति कह सकते हैं ।

इसके उपरान्त फिर अंत में प्रकृति का उल्लेख किया गया है। रास-क्रीड़ा का समय इतना अधिक हो गया कि रवि-रथ और चंद्र भी थकित हो गये, प्रभात होने को ही नहीं आता, इससे यह ध्वनित किया गया है कि हरि "माया प्रेरक सींव" हैं, प्रकृति या माया उनकी इच्छानुवर्तिनी है, काल भी उन्हीं के अधिकार में है । सारी प्रकृति कृष्ण की रास-लीला के विलास-रस-विहार में लीन है ।

इसके पश्चात् फिर कुछ रस-विलास चलता है, तब फिर कवि ने चंद्रादि को उससे सशंकित सा होता हुआ कहा है, इससे उनमें चेतनता का भी आभास दिया गया है ।

जल-केलि के पश्चात् हरि के आदेश का पालन करता हुआ एक वृक्ष विशेष गोपियों को उनके इच्छानुकूल दिव्य वस्त्राभरण देता है । यह वृक्ष वही कल्पतरु है, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में ही कवि ने किया था ।

इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि नंददास का प्रकृति-चित्रण साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुकूल है तथा रस-पद्धति के आधार पर उद्दीपन विभाव का आभास रखता है।

अन्य विशेषतायें

नंददास ने अपनी रचना में यों तो भागवत का आधार रक्खा ही है, किंतु यथावश्यकता स्थान स्थान पर सिद्धान्तानुसार अपनी कुछ विशेषतायें भी मौलिक रूपों में दिखलाई हैं।

गोपियों में प्रेम के साथ ही भक्ति भी है और वह भक्ति भी साधना तथा तपस्या मयी है। प्रेम-चित्रण में नंददास ने मनोविज्ञान के मूलभूत नियमों का भी पूरा ध्यान रक्खा है। साथ ही अध्यात्मवाद के भी सिद्धान्तों का यथोचित निर्वाह किया है। सारे शृंगार-पूर्ण रास-रस-विलास और जल-कोलि-कौतुक का वर्णन वास्तव में अध्यात्मवाद और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर ही आधारित है, वह वस्तुतः आलौकिक शृंगार-वर्णन के रूप में है। योग-शक्ति का भी यथास्थान अच्छा आभास दिया गया है। रासपंचाध्यायी से यह भी सूचित किया गया है कि हरि तो उपास्य और सेव्य हैं ही, हरि-प्रिया राधा भी उपास्या हैं। इसीलिये गोपियाँ उनके प्रति ईर्षा-द्वेष, या रोष-दोष के भाव नहीं रखतीं वरन् उन्हें सेव्या ही मानती हैं। वे स्वीकार करती हैं कि यह राधा की उत्कृष्ट साधना और आराधना ही है जिससे हरि ने उन्हें अपनी विशेष प्रिया बनाया है।

यह एक विशेष बात यहाँ भी देख लेनी चाहिये कि हरि गर्वापहारी हैं। वे गर्व किसी का भी नहीं रखते, इसी के कारण गोपियां और राधिका को उन्होंने छोड़ दिया और वियोग-दुखिता कर दिया। जब यह गर्व उनका दूर हो गया तब वे उन्हें फिर प्राप्त हो गये और उन्होंने उन्हें फिर अपना कर अपना दर्श-स्पर्श-सुख-रस दिया।

मुरली उनकी मोहिनी माया-शक्ति और नाद-ब्रह्म की उत्पादिनी कही गई है, ठीक भी है। इसी के प्रसंग में धर्म की मार्मिकता भी संकेत

रूप में दिखलाई गई है और कहा गया है कि धर्म-कर्म का प्रयोजन महात्माओं के लिये हरि-प्राप्ति ही है, इसी कारण धर्म-कर्म चाहे वह लौकिक रूप में हो या नीति-रूप में, अनावश्यक है। गोपियों में इसी के साथ दाम्पत्य या माधुर्य (पति-पत्नी) भाव की भक्ति का संकेत किया गया है। भगवान के साथ उन्हीं के समान उनकी लीला-भूमि भी महत्व-मयी और समादरणीया कही गयी है, इसी विचार से वृन्दा-वन का वंदन और वर्णन किया गया है।

प्रथम ही छं० २२ में कृष्ण में निर्गुणत्व और सगुणत्व का समन्वय दिखलाया गया है। उन्हें व्यापक, परम आत्मा-रूप, धर्मकर और सर्वेश के साथ ही, पर ब्रह्म भी कहा गया है, इसी प्रकार गोपियों को भी, शुद्ध प्रेम-मय, पंचभूत से परे और ज्योति-स्वरूप कहा गया है, ऐसा कह चुकने पर ही आगे के रास-रस-प्रसंग के द्वारा उनमें कोई भी अन्यथा विचार का आभास भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ गोपियाँ घर पर ही रह गई थीं, और मुरली की ध्वनि सुनकर कृष्ण के निकट रास के लिये न आई थीं, उन्हें कृष्ण ने ध्यान में ही अपना-दर्श-स्पर्श-सुख दे दिया, ऐसा लिखकर कवि ने ध्यान-योग को भी ध्वनित कर दिया है। कुछ गोपियाँ गुणमय शरीरवाली तो हैं, किंतु हैं वे भी हरि-भक्ति-प्रेम-पुनीता। गोपियों को घर आदि के छोड़कर चले आने से कवि ने ध्वनित किया है कि हरि के लिये भक्तात्मा स्वसर्वोत्सर्ग करता है और लौकिक-नियमादि को कुछ न मानकर उनसे अपने को पृथक या परे कर लेता है। लोक-मर्यादा उसके लिये वस्तुतः है भी नहीं, क्योंकि वह तो अलौकिक शक्ति का सान्निध्य प्राप्त करता है। साथ ही यह भी सूचित किया गया है कि हरि के प्रेमाकर्षण की शक्ति को कोई भी अन्यथा कर रोक नहीं सकता, उसका अतिक्रमण करने में कोई भी लौकिक शक्ति क्षम नहीं।

यह रास-रस-विलास, जैसा ऊपर कहा गया है, वस्तुतः कृष्ण की काम पर विजय के दिखाने के लिये है, चूंकि काम को भी देवादि के

वश करने का गर्व था। यह भी सूचित किया गया है कि रति और काम भी विलास की वे विधियां नहीं जानते, जिनका उपयोग गोपी-कृष्ण की रास-विलास-लीला में हुआ है। इस प्रकार यह लीला यथार्थतः कल्पनातीत और लोकातीत है, सर्वथा परम दिव्य, शुद्ध, पवित्र और अलौकिक होकर धार्मिक और अध्यात्मिक भावनामयी है।

इसी प्रसंग से यह भी सूचित किया गया है, कि हरि गर्व-नाश के लिये अपने प्रिय भक्तात्मा के लिये भी अप्रगट हो जाते हैं। वह उन्हें कहीं भी कितना ही, क्यों न खोजे, किसी से भी क्यों न पूछे, नहीं पा सकती और कोई भी उसे बता नहीं सकता, किन्तु जब गर्व छोड़ कर वह फिर दास्य प्रेम-भाव से असहाय हो शरण में आ जाती है, तब श्री हरि कृपा कर प्रगट होते हैं।

एक बात और भी देखने की है, वह यह है कि नंददास ने द्वितीय अध्याय के छं० १६ में कृष्ण-प्रेम से कृष्णत्व को प्राप्त हो जाने का उल्लेख किया है। ठीक उसी प्रकार जैसे ब्रह्म-ज्ञान से ब्रह्मत्व के प्राप्त होने का कथन ज्ञान-वाद में होता है।

इसी के साथ छं० १७ में कृष्ण के पद-रज का महत्व यहाँ नंददास ने भी सूचित किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी प्रभु-पद-रज का महत्व बहुत विस्तार के साथ दिखलाया है। गोपियों ने हरि-पद-चिह्नांकित रज की वंदना की है और उसे अपने शिरों पर धारण भी किया है।

भ्रमरगीत में नंददास ने गोपियों के भी पद-रज का महत्व दिखलाते हुए उद्धव के द्वारा उसे वंदित और शिरो धार्य सूचित किया है। इस प्रकार प्रभु और प्रभु-भक्त दोनों के पदों की रज का महत्व नंद दास ने स्थापित किया है। गोपियों को उन्होंने निर्मत्सर और संत-चूड़ामणि भी कहा है (छं० २१ अ० २)।

यह भी ध्यान में रखने के योग्य है कि गोपियों को कृष्ण का यथार्थ ज्ञान है, वे उन्हें अपने प्रेमी-नायक या पति के रूप में ही नहीं

देखतीं, वरन् ईश्वर और परम-ब्रह्म के रूप में ही मानती हैं, इसीलिये वे उन्हें अपना नाथ मानकर उनमें शुद्ध प्रेम और अनन्य भक्ति रखती हैं। इतना होते हुए भी अति अनन्यता के भाव से वे हरि को "कपटी" भी कहती हैं, यह सूचित करता है कि उन्हें हरि का पूर्ण ज्ञान नहीं, वे भावावेश में होकर विस्मृति को भी प्राप्त हो जाती हैं। कृष्ण को गोपियाँ पृथक-पृथक अपने-अपने विशेष रुचि-भाव से लेती हैं (छं० ३, ४, ५, ६,—अ० ४)।

अंत में यह भी सूचित किया गया है कि भक्ति और प्रेम से भगवान को अपना किया जा सकता है, किन्तु योग-ज्ञान के द्वारा उतना नहीं (छं० ८, ६—अ० ४)।

इस प्रकार संक्षेप से देखने पर नंददास की विशेष विचार-धारा का परिचय प्राप्त होता है। अब तनिक उनके भ्रमर-गीत के भी आधार पर देखना चाहिये।

भ्रमरगीत की भाव-धारा

नंददास का भ्रमरगीत सूर के समान नहीं, वरन् अपनी पृथक सत्ता और महत्ता रखता है। यह एक क्रम-बद्ध रचना है, जिसमें विचारों की संवाद के रूप में एक शृंखला सी चलती है। यह बात तो अवश्यमेव नहीं है कि इसमें उत्तर-प्रत्युत्तर की क्रम-बद्ध शृंखला हो।

प्रथम छंद में गोपियों का परिचय दिया गया है, वे प्रेम-पताका सुख-पुंज, रस-रूपिणी और नव वृन्दावन-कुञ्ज में श्याम के साथ विलास करने वाली चतुर ब्रज-बालायें हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रेम, सुख, रस और विलास चार मुख्य तत्व उनमें हैं, और वे श्यामानुरक्ता हैं। उद्धव उनसे बस यही कह सके कि मैं श्याम-संदेश कहने आया हूँ—और गोपियों को आत्म-विस्मृति और हरि-स्मृति हो आई, साथ ही आनंद, रस और प्रेम का प्रसार उनमें हो गया। रति या प्रीति की यहाँ चर्चा नहीं, क्योंकि यहाँ दिव्य के प्रति दिव्य का भाव है। इसलिये पुलका-

वली, प्रेमाश्रु या आनंदाश्रूदय, कंठावरोध और गद्गदता जैसे अनुभाव हुए हैं, जो रति में उसकी न्यूनताधिकता पर होते हैं। कवि ने कहा है, कि यह प्रेम की व्यवस्था है।

अब फिर उनमें स्मृति आती है, वे उद्धव का सत्कार कर कृष्ण की कुशलता पूछती हैं। उद्धव कुशलता बताकर शीघ्र ही सान्त्वनार्थ हरि का लौटना सूचित करते हैं, और वह भी थोड़े ही दिनों में। बस फिर गोपियों की दशा बदलती है, उन्हें हरि-रूप का स्मरण हो आता है, अंगों में पुलकावली और मुख पर प्रेमावेश आ गया, वे विकल हो मूर्छित हो गईं। तब सचेत कर उद्धव ने उन्हें ज्ञान-चक्षुओं से कृष्ण को निज उर में देखने का उपदेश दिया। यहाँ उद्धव ने कृष्ण का ब्रह्मत्व स्पष्ट रूप से कहा है, फिर व्यापक ब्रह्म को ज्योति-स्वरूप बताया है। यहीं से गोपियों और उद्धव का विवाद भी चलता है।

गोपियाँ ब्रह्म-ज्योति और ज्ञान से अपरिचय बता अपना प्रेम-मार्ग बताती हैं, और ईश्वर को सुन्दर साकार तथा अपने को उसकी मुरली के द्वारा मुग्ध और मोहित बताती हैं। उद्धव इसे सगुणोपाधि कह ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, विश्व-प्राण और अच्युत ज्योति-प्रकाश-रूप कहते हैं। अपने प्रत्यक्षानुभव के आधार पर गोपियाँ इसका खंडन करती हैं, और यह मान लेती हैं कि कृष्ण ब्रह्म ही हैं, किन्तु हैं मोहन सौंदर्य-मय शरीर वाले।

उद्धव फिर कृष्ण को ब्रह्म कह अजन्मा और विश्वात्मा-रूप बताते हुए लीलावतारधारी कहते हैं। यह अद्वैतवाद नहीं वरन् अवतारवाद हैं, इसमें वे अपना पक्ष शुद्धाद्वैत के आभास के साथ रखते हैं। वे पूर्णतया अद्वैतवादी योगी और ब्रह्म-ज्ञानी नहीं। यद्यपि उन्हें माना ऐसा ही गया है। नंददास का यह चित्रण अपनी यही विशेषता रखता है। ब्रह्म की प्राप्ति उद्धव योग के ही द्वारा बताते हैं।

गोपियाँ इसका खंडन तो नहीं करतीं किंतु अपने को इस योग के लिये क्षम नहीं मानतीं, साथ ही प्रेम को अक्षय संजीवन शक्ति देने

वाला कह अपने लिये, चूंकि वे मोहन-मुग्ध हो इसका अनुभव कर चुकी हैं, उपयुक्त बताती हैं, फिर भी वे प्रत्यक्षानुभूति को प्रमाण के रूप में रखती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सब प्रमाणों में अधिक पुष्ट और मान्य है।

उद्धव फिर कर्म-वाद को उठाकर कर्म से ही हरि-पद-प्राप्ति का कथन करते हैं, और गोपियां के यह कहने पर कि हम योगी सी धूल क्यों धारण करें, धूल को विश्वोत्पत्ति-हेतु बना विशेष महत्त्व देते हैं। गोपियाँ फिर भी इसका खंडन न कर इसके मर्म को अधिकारी व्यक्तियों पर ही छोड़ अपने प्रेम को इससे अलग रखने की बात कहती हैं। साथ ही कर्म का प्रयोजन हरि-प्राप्ति के रूप में बता अपने को कर्म से भी परे कहती हैं, क्योंकि उन्हें हरि-प्राप्ति हो चुकी है।

कर्मवाद का फिर दो छंदों में खंडन-मंडन दे, कवि ने ब्रह्म-ज्योति को उद्धव से उठवाकर गोपियों से कहलाया है, कि ज्योति-ध्यान योगियों के लिये और भक्त के लिये निज (अपना तथा स्वप्रिय प्रभु का) रूप ध्येय है, प्रेमामृत ही उसके लिये है, निर्गुण ब्रह्म को सगुण रूप में पाकर न ग्रहण करना उपयुक्त नहीं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि गोपियाँ यहाँ उद्धव के विचारों का पूर्ण खंडन नहीं करतीं वरन् अपने लिये उन्हें उपयोगी और ठीक नहीं मानतीं। इससे यह भी ध्वनित किया गया है, कि कवि का दृष्टि-कोण योग-ज्ञान-कर्म-वाद से सर्वथा विरुद्ध नहीं है। हाँ वह उसे भक्तोचित नहीं मानता।

यहीं फिर निर्गुणवाद का विचार उठता है, गोपियाँ अपने कृष्ण को ही ब्रह्म मानती हुई उनका साकार रूप स्वप्रत्यक्षानुभूति के आधार पर प्रमाणित करती हैं। साथ ही यह भी कहती हैं कि माया-दर्पणगत ब्रह्म-प्रतिबिम्ब से ही सगुणता का समावेश होता है। उद्धव इसे काटते हैं, और माया को ब्रह्म से पृथक कह ब्रह्म को निर्गुण बता उसे वेद-प्रमाण से पुष्ट करते हैं। गोपियाँ ब्रह्म की सक्रियता से वेदोत्पति दिखा

कर्मवाद पर आती हुई इसे ठीक नहीं मानतीं और फिर प्रेम ही को बल देती हैं।

उद्धव प्रेम को द्वैताधारित कह चित्त के लगाव के रूप में मान कर काटते हैं, और गुणातीत को प्रेम-गम्य या प्रत्यक्ष ज्ञात न कह कर ज्ञान-गम्य ही ध्वनित करते हैं।

गोपियों ने तब दिव्य दृष्टि से ही ब्रह्म को दृष्ट कह ज्ञेय न रख प्रत्यक्ष दृष्ट ही कहा है। यह दिव्य दृष्टि कर्मासक्त को नहीं प्राप्त होती, और बिना इसके तेजोमय ब्रह्म, जिसमें सूर्याकाश-प्रकाश (ज्ञान-भावना-रूप) लय हो जाते हैं (छं० २४) नहीं दीखता। उद्धव भक्ति को भी कर्म कहते हैं और कर्म से ही कर्म-नाश बता निष्कर्म आत्मा में ब्रह्म का समावेश बताते हैं।

हरि को ब्रह्म मानती हुई गोपियाँ उन्हें भी कर्म के वश दिखा कर निर्गुण को एक वस्तु ही मानने पर ससीमिता की उपाधि दिखाती हैं, इसलिये वे सगुणत्व-वाद को ही ठीक मानती हैं। उद्धव दृष्ट-गुण-रहित निर्गुण ब्रह्म को (जिसमें दृष्ट।गुणाभाव किंतु अदृष्ट गुण भाव है) परे मानते हुए स्वरूप - ज्ञान से आत्म-तुष्टि बताते हैं। गोपियाँ उत्तर में हित -(लोक-हित, मुक्त) रूप ईश्वर की स्पष्ट प्रत्यक्ष सत्ता को न मानने वालों को नास्तिक कहती हैं और बताती हैं कि वे उस रूप को ही चाहती हैं और उसमें कोटि ब्रह्म-सत्ता को सहज ही कर-तलामलक सा देखती हैं। इसी समय उन्हें प्रेमासक्त जान हरि उनके लिये प्रत्यक्ष ही आ गये, तब वे उद्धव से मुख मोड़ प्रेम में विभोर हो रस-रीति का तर्क उन्हीं से करने लगीं। वे हरि से कहती हैं कि तुम्हारे बिना गायें भीत हो रही हैं, क्यों कृपा कर गो-ग्वालों की सुधि नहीं लेते और दुखाब्धि में डूबती हुई गोपियों को सहारा नहीं देते।

इसी के पश्चात् गोपियाँ पृथक पृथक अपने आप व्यंजित करती हुई उपालम्भ देकर आत्म-निवेदन के साथ हरि से कृपा-याचना करती हैं। साथ ही हरि के उन सब प्रमुख अवतारों का कथन भी करती है, जिनमें

वर्ण यथासाध्य आये ही नहीं, साथ ही लम्बी समासों का भी पूरा अभाव है, समासाधिक्य से रचना में दुरूहता सी आ जाती है और स्वाभाविकता को आघात पहुँचता है।

छंद भी उन्होंने वे ही रक्खे हैं जिनकी गति या लय स्वभावतः बहुत ही सरल और मंजुल है। शब्दों का संगुफन इस रूप में है कि स्वभावतः रसना और बुद्धि दोनों एक शब्द से फिसल कर दूसरे शब्द पर पहुँच जाती है।

भाषा में नियम-नियंत्रितता का पूरा निर्वाह है, कहीं भी वह व्याकरण तथा काव्य-शास्त्र के नियमों से पृथक नहीं जाती। उसकी स्वाभाविकता और उसके चलतेपन की सुंदरता के लिये कवि ने यथावश्यकता लोकोक्तियों और प्रयोगों (मुहावरों) का बहुत ही स्वाभाविक और सच्चा प्रयोग किया है, साथ ही उसमें भाव-व्यंजकता भी बड़ी अनोखी और चोखी रक्खी है।

इस बात का सर्वत्र बराबर ध्यान रक्खा है कि कोई भी शब्द व्यर्थ, निरर्थक और अनावश्यक न हो। प्रत्येक शब्द न केवल मूल भाव या विचार का पोषक ही हो वरन् अन्य यथेष्ट गम्भीर भावों का अभीष्ट रूप से व्यंजक भी हो। भाषागत शब्द-प्रयोग का यही कवि-कौशल सराहनीय होता है।

कहीं-कहीं कारकों और क्रियाओं का अपना विशेष प्रयोग भी ऐसा किया गया है कि यद्यपि वह नियम के सर्वथा अनुकूल तो नहीं हैं, फिर भी भद्दा न लगकर सुन्दर, स्पष्ट तथा सुवोध ही रहता है।

विशेषणों के प्रयोग में कवि ने बड़ी सावधानी और सतर्कता दिखलायी है। प्रायः विशेषणों का प्रयोग वह केवल सौंदर्य और चरण-पूर्ति के ही लिये नहीं करता वरन् उसके द्वारा बड़ी गूढ़ व्यंजनायें भी प्रगट करता है, समस्त विशेषण प्रायः साभिप्राय ही हैं, सब में हेतु रक्खा हुआ है। प्रेम, अनुरागादि शब्दों का भी प्रयोग सिद्धान्तानुसार

ही किया गया है। विशेष्यों के भी प्रयोगों में प्रायः यही बात रक्खी गई है।

भ्रमरगीत में प्रत्येक छंद के साथ चलने वाली अंतिम टेक को भी छंद के चरणगत भाव के साथ बड़ी ही चारुता से मिलाया गया है, और इस प्रकार कि पृथक होते हुए भी वह व्याकरण की भी दृष्टि से पूर्वगत वाक्य का मुख्यांश सा बन जाती है, और ऐसा अंश होती है कि उसे मूल वाक्य से पृथक रखने में भी कोई क्षति नहीं हो सकती। वाक्य-विन्यास सुसंगठित और संयत है। किसी प्रकार उसमें अन्यथार्थ की सम्भावना नहीं। दूरान्वय जैसे दोषों की भी आशंका नहीं। विशद व्यंजकता के होते हुए भी वाक्य-विन्यास नितांत निर्दोष सा ही है। यह अवश्यमेव हुआ है कि शब्दों या पदों के विशेष प्रयोग बड़ी कला-कुशलता से किये गये हैं।

इसके अनन्तर भाषा को काव्य की दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि सर्वत्र भाषा को सरल, सुबोध और स्पष्ट रखते हुए कवि ने उसकी मधुरता और मृदुलता के विशेषतया बढ़ाने का ही सफल प्रयत्न किया है। प्रसाद गुण भी पूरी मात्रा में पाया जाता है, यद्यपि बड़े बड़े गूढ़ और गम्भीर भावों के भी व्यक्त करने की यथेष्ठ क्षमता शब्दों में रक्खी गई है। इसी के साथ भाषा में लालित्य की भी कोई ऊनता नहीं है। सारा वाक्य-विन्यास प्रवाह-पूर्ण और गतिशील है। भावों को यथार्थता के साथ वह अपने प्रवाह एवं अपनी प्रगति के सहारे आगे मृदुल गति से बहाता जाता है। अर्थात् भाव-प्रवाह और वाक्य-प्रवाह दोनों के सफल समन्वय के साथ भाषा का प्रवाह चलता है, इन प्रवाहों के साथ ही छंद की गति अथवा लय भी दुग्धगत मिश्री के समान मिलकर प्रगति-त्रिवेणी का उद्भव करती है।

शब्दों के प्रयोगों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है, शब्द यथेच्छया स्वतः आते जाते हैं, मानो कवि को उन्हें सयत्न खोजकर नहीं रखना पड़ता। इसी के साथ विशेष

सराहनीय कौशल की बात यह है, कि शब्द-संगठन शब्दालंकारों से सफलता-पूर्वक सुसज्जित किया हुआ है। अनुप्रास बिना विशेष प्रयास के ही स्वाभाविक ढंग से आते रहते हैं। सयत्नज प्रयोग उनमें कहीं परिलक्षित नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि कवि सिद्ध-हस्त और कला-कुशल तथा अलंकाराभ्यस्त है। टीका में स्थान स्थान पर उक्त सारी 'विशेषताओं की ओर यथेष्ट संकेत किये गये हैं, और शब्दादि के विशेष प्रयोगों का भी उल्लेख किया गया है, अतएव यहाँ उदाहरण देकर कलेवर के बढ़ाने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं किया गया।

रसालंकार-प्रयोग

काव्य-कौशल में रसों और अलंकारों के परिपाक और प्रयोगों का भी विचार करना अभीष्ट होता है। इस विचार से संक्षेप में इन पर भी कुछ दृष्टिपात किया जाता है।

रास पंचाध्यायी में आद्योपान्त शृंगार-रस की ही सुन्दर धारा प्रवाहित हो रही है। उसके दोनों रूप अर्थात् संयोग और वियोग दिखलाये गये हैं। प्रथम संयोग शृङ्गार उठाया गया है। यह स्मरणीय है कि कवि ने इस शृंगार को केवल लौकिक रूप में ही नहीं रक्खा वरन् उसमें बराबर अलौकिक रसत्व का आभास दिखलाया है, सर्वथा उसकी शुद्ध पवित्रता और दिव्यता का विचार रक्खा है। यह अलौकिक शृंगार प्रेम-भाव वाला है। इसकी उद्दीप्ति या उत्पत्ति मुरली के नाद-ब्रह्म के आनन्द-रस से होती है, उसी की मधुर मीठी ध्वनि को सुनकर गोपियों का भव्य-भावुक हृदय प्रेम-रसार्द्र हो उठता है, और आकर्षित हो स्व सर्वस्व त्याग उसी की ओर जाता है। शृंगार के देवता का ही यह कार्य है, इसी से उसी के पास गोपी-हृदय दौड़कर पहुँचता है।

चारु-चंद्र की रजत चन्द्रिका से चर्चित शरद-यामिनी है, यमुना-तट है, मनोरम वन है, मंद मधुर सुरभि-प्रसारिणी मंजु मालती फूली हुई है, यह उद्दीपन की प्राकृतिक सामग्री है। मुरली का मधुर-गायन भी

इसी के साथ है। इस प्रकार शृङ्गार-रस के संयोग रूप की सारी परिस्थिति रखकर कवि ने रास-नृत्य का कमनीय कृत्य प्रारम्भ किया है।

रास में ही प्रिया-प्रिय और गोपी-कृष्ण का मिलन हो गया है। इसके उपरान्त कृष्ण स्वप्रिया राधा को साथ ले चले जाते हैं, इस प्रकार हरि से पृथक हो गोपियों को वियोग-विकलता बाधित करती है, यहाँ शृंगार का द्वितीय पटल आता है। इस वियोग के पक्ष में भी कवि ने कमाल किया है। विरह-व्याकुलता के साथ गोपियों की हरि में लीनता का शुद्ध सच्चा आभास दिया है।

वियोगिनी गोपियाँ प्रथम तो इसे परिहास समझती हैं, फिर कृष्ण को वन में सर्वत्र खोजती हैं। अपनी विकलता में वे वृक्षादि से कृष्ण की खोज पूछती हैं। इसी समय उन्हें प्रेमावेश होता है, और वे आत्म-विस्मृति के कारण अपने को हरि-मय जानकर तद्वत ही सब लीला करने लगती हैं।

आगे जाकर उन्हें राधिका भी मिल जाती है, इसे भी कृष्ण ने छोड़ दिया था, वह भी वियोग-दग्धा है। इस प्रकार वियोग-चित्रण कर फिर संयोग का सुखद अवसर उपस्थित किया गया है। इस बार संयोग-वर्णन में जल-क्रीड़ा का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार लीला-कथा सुखान्त रक्खी गई है।

इस सभी वर्णन में रस का पूरा परिपाक हुआ है, साथ ही आध्यात्मिक विचारों और भक्ति-प्रेम की सच्ची व्यंजना सर्वत्र सुन्दर सफलता से दी गयी है, जैसा टीका से स्पष्ट ही हो जाता है।

भ्रमरगीत में वियोगिनी व्रज-बालाओं और उद्धव का सम्वाद प्रधान है। उद्धव का कथन-भाग तो शान्त-रस की ओर और गोपियों का कथन भाग हरि-प्रेम-भक्ति की ओर चलता है, और अपने में कुछ शृंगार का प्रभाव भी रखता है, बीच-बीच में कुछ हास्य की व्यंजना सी भी है।

इस प्रकार रस-विवेचन के पश्चात् अब कुछ अर्थालंकार-कौशल पर भी विचार करना है। अर्थालंकारों का उद्देश्य न केवल भाषा को

चमत्कृत करना ही है, वरन् विचारों या भावों को उत्कृष्ट बनाते हुए तत्संबंधी रस को उत्कर्ष देना भी है। एक विचार यह भी है कि काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं क्योंकि काव्य-गत भावों का प्रकाशन भाषा के ही द्वारा हो सकता तथा होता है। यदि भाषा सब प्रकार सुन्दर सुखद और समाकर्षक है तो काव्य भी रमणीय होगा। इसी लिये कहा गया है, कि "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"—अर्थात् भाव को प्रभाव-पूर्ण और प्रभाव-शून्य बनाना शब्द-संगुफन और वाक्य-विन्यास का ही काम है। शब्द-संयोजन ही यदि मधुर, मंजुल और मृदुल है तो वह श्रुति-सुखद होकर प्रथम ही भावुक हृदय को आकर्षित कर अपने अर्थ या भाव के समझने और चाहने-सराहने की ओर हो चलेगा, अन्यथा नहीं, इसलिये यदि भाषा की शब्दावली अलंकृत होगी तो वह रोचक होकर पाठकों या श्रोताओं को काव्यार्थ की ओर आकर्षित कर उसके अवगत करने के लिये प्रेरित करेगी। इस विचार से काव्य-भाषा की शब्दावली को अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों से सुसज्जित करना ही समीचीन है। यह स्मरणीय है, कि शब्दालंकारों का संबन्ध मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्तियों से है, अतएव वे स्वभावतः मानव-मनोवृत्तियों को अति प्रिय हैं।

शब्दों से परे अर्थ या भाव और भावार्थों से परे भावनायें या रसाधार नहीं। अच्छे शब्दों से अच्छी भाव-व्यंजना उठती है, और उससे सुन्दर भावनायें भी भावुक हृदय में जाग्रत होती हैं। इसलिये अर्थालंकारों से अलंकृत वाक्य-विन्यास ही रस-भावोद्दीपक हो सकता है। इस विचार से भी काव्य में अलंकारों की प्रधानता सिद्ध होती है। रस-भावादि की महत्ता मान्य है अवश्यमेव, किंतु अलंकारों का महत्व ही प्रधान ठहरता है। अलंकारों को भावार्थ की दृष्टि से साधारणतया यों विभक्त कर सकते हैं कि कुछ अलंकार तो वर्ण्य वस्तु को स्पष्ट कर सुबोधता से समझाने के लिये होते हैं, वे उसको चित्रित सा कर मन के लिये प्रत्यक्ष सा कर देते हैं। दूसरे वे अलंकार हैं जो कवि-

में स्थान स्थान पर अलंकारों के विशेष प्रयोगों को स्पष्ट करने का यथोचित प्रयत्न किया गया है।

वर्णन और कथन-शैली

नंददास ने वर्णनात्मक और कथात्मक काव्य लिखा है। इसलिये यहाँ तनिक उनके वर्णन और कथन की शैली पर भी कुछ प्रकाश डाल देना चाहिये। किसी वस्तु या दृश्य के वर्णन की दो प्रमुख विधियाँ हैं, एक तो *वस्तुगत्यात्मक* है, जिसमें कवि या लेखक तो एक स्थान पर मानो स्थिर सा रहता है, और सारी वर्ण्य वस्तुयें उसके समक्ष स्वतः आती जाती हैं, दूसरी है *कविगत्यात्मक*, जिसमें स्वयमेव कवि गतिमान होकर वर्ण्य वस्तुओं को देखता जाता है, वस्तुएं यथास्थान ही स्थिर रहती हैं।

नंददास ने द्वितीय विधि का अनुसरण किया है, और स्वयमेव घूम घूम कर वर्ण्य वस्तुओं की छवि-छटा देखी सी है और वही कही है—यथा, वृन्दावन का वर्णन, यह वर्णन इस प्रकार का है, जिससे ज्ञात होता है मानो कवि स्वयमेव वृन्दावन में जाकर सब वस्तुओं को देख आया था, तब उनका वर्णन विधि-पूर्वक उसने यहाँ किया है। इसी प्रकार रास का भी वर्णन उसने किया है, जो उसके लिये प्रत्यक्ष देखने के ही समान है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन उसने सरिता या यमुना के तट का भी किया है (छं० ५६ से ६२ तक)। यह वर्णन भी प्रत्यक्ष कवि-दृष्ट वर्णन सा ही है।

आगे भी इसी रीति से वर्णन किया गया है। यह प्रतीत होता है कि कवि को वृन्दावन के परम पवित्र वन में गोपियों और कृष्ण के साथ अपने को घुमाना ही अभीष्ट है।

वर्णन-शैली की एक विशेषता यह भी है कि कवि वर्णन के लिये केवल वे ही दृश्य और पदार्थ लेता है, जिनसे मानव-मन प्रभावित होता है और जो रसोत्कर्षक तथा भावोद्दीपक होते हैं। अन्य दृश्य और पदार्थादि को

वह छोड़ देता है। तात्पर्य यह है कि कवि ने वर्ण्य वस्तुओं को भी साभिप्राय रक्खा है। वर्णन में यथाक्रमता पर भी पूरा ध्यान उसने रक्खा है। वर्णन संक्षिप्त तो है किन्तु है बहुत ही मार्मिक और मनोरंजक।

कथा के कहने की शैली भी रुचिर और रोचक है। रासपंचाध्यायी तो एक संक्षिप्त खंडकाव्य सा है, जिसमें केवल रास-लीला का ही वर्णन है। इस लीला के अन्तर्गत केवल दो तीन ही घटनायें आती हैं, किन्तु इसमें संयोग और वियोग दोनों प्रकार का शृंगार आ गया है। इस प्रकार इसमें कथानक है तो सूक्ष्म किंतु है भावात्मक, केवल भावना प्रधान घटनायें ही इसमें आई हैं। इसलिये इसमें घटना-कथन में तो क्रियात्मक और भावनाभिव्यंजन में भावात्मक पद-विन्यास की शैलियों का उपयोग किया गया है। दृश्यादि के वर्णन में चित्रांकन-शैली और समूर्त शब्द-विन्यास का अनुसरण किया गया है, किन्तु भाव-भावनादि के प्रकाशन में अमूर्त भावात्मक सरस शब्द-विन्यास के साथ ही सर्वथा भावाभिव्यंजन-शैली का सफल उपयोग हुआ है। कथा-सूचक वाक्य बहुत ही सूक्ष्म किंतु यथेष्ट हैं, घटना-क्रम स्वाभाविक और एक शृंखला में सम्बद्ध सा है।

इसी के साथ गोपी-कृष्ण के वार्तालाप में कवि ने कथागत वार्ता-शैली रक्खी है। बीच-बीच में वार्ता के समाप्त होने पर कवि-कथन स्पष्ट रूप से प्रगट होते हैं।

भ्रमरगीत में संवाद-शैली का ही प्राधान्य है, उससे उद्धव-गोपी-सम्वाद उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में चलाया गया है। साथ ही खंडन-मंडन का भी अच्छा आभास दिखा दिया गया है। इस भाग में तर्कात्मक पक्ष-प्रतिपादन की शैली गूढ़ व्यंजना के साथ चलाई गई है।

मधुप के प्रवेश करने पर अन्योक्ति-पद्धति का व्यंजनामय बड़ी सुन्दरता से भावानात्मक शैली के साथ किया गया

भावनात्मक रहते हुए भी यह भाग तर्क-शून्य नहीं है, यही कौशल का कार्य कवि का है।

इस प्रकार सूक्ष्म रूप से नंदनास के स्तुत्य काव्य पर यहाँ कुछ संक्षिप्त ढंग से प्रकाश डाला गया है। इस संक्षिप्त आलोचना के द्वारा नंददास के काव्य-कौशलादि की ओर केवल संकेत मात्र ही किया गया है, इससे सहारा लेकर टीका के साथ नंददास की रुचिर-रोचक रचना का रसास्वादन किया जा सकता है।

विनीत—

हिन्दी-विभाग
प्रयाग-विश्वविद्यालय

रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

सटीक

रासपंचाध्यायी

(संयोग-शृंगार)

प्राक्कथन

ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के हेतु कवि आदि में मंगलाचरण लिखता है, कहा भी है :—"आशीर्नमस्क्रिया वस्तु-निर्देशो वापि तन्मुखम्"—(दंडिन्-काव्यादर्श)। श्री शुकदेव जी की वंदना करके वह उनके शरीर का आंगिक वर्णन करता है और उनके मुख से प्रारम्भ कर नीचे के अंगों-प्रत्यंगों का वर्णन करते हुये पदों तक जाता है, इस प्रकार यह शिख-नख वर्णन देता है न कि नख-शिख-वर्णन, क्योंकि महापुरुषों के आंगिक वर्णन का शिख-नखानुसार ही करना समीचीन कहा गया है। नायिकादि के वर्णन में नख-शिख-वर्णन की प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। श्री शुकदेव जी एक सर्वाग्रगण्य कृष्ण-भक्त और श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ, विबुध-बुध-वृन्द-वंदित आर्ष पुरुष हैं।

भागवत आपके ही मुख-कंज से निकल कर अमृतमय एवं माधुर्यमय हुआ :—"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं, शुक - मुखाद-मृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतांरसमालयां मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः।"

"हरि ते प्रिय मोंहि हरि कर दासा" अथवा "अनुग-गुनंन-वरनान ते सीता - पति नित होहिं बस"—आदि के आधार पर

नन्द जी श्री शुकदेव की वन्दना करते हैं। साथ ही यह भी कारण हो सकता है कि श्री शुकदेव जी की ही कृपा से कृष्ण-भक्ति, जिसके अनुयायी नन्द दास जी हैं, सर्वोच्च शिखरस्थ तथा प्रधान मानी गई और लोक-व्यापिनी हो गई।

२४ मात्राओं का ११ और १३ मात्राओं पर विराम के साथ रोला नामक छंद यहाँ सुगठित रक्खा गया है। प्रथम भगण, जो शुभ गण है, रक्खा गया है—"म न भ य ये सुभ जानिये, ज र स त असुभ विचार। कवित—आदि वे दीजिये, ये न दीजिये चार॥" (भगण - ऽ।। या गुरु, लघु, लघु—"आदि, मध्य, अवसान में य र, ता में लघु होय। भ, ज, सा में गुरु जानिये, न म लघु-गुरु सब जोय"—सरस पिंगल)

वंदना शब्द भी भद्रवाची या मंगलवाची शब्द है और शुभ है—"देवता-वाचका: शब्दा: ये तु भद्रादि-वाचका:"

ते सर्वे नैव निंद्या:स्यु: लिपितो गणतोऽपि वा" ॥ किन्तु प्रथम पद में यति-भंग दोष सा दीखता है क्योंकि यति (विराम) रीत्यानुसार ११ मात्राओं या "नि" के बाद पड़ती है, जिससे शब्द बे मौक़े टूट जाता है, किन्तु इसका परिहार यों हो सकता है कि यति यहाँ १४ तथा १० मात्राओं पर रक्खी गई है—जो मान्य भी है—यही विचार दूसरे छन्द-शास्त्र-मर्मज्ञों एवं कवियों का भी है—अतः यह दोष दूर हो गया।

वन्दन करौं कृपानिधान श्री सुक सुभकारी,
सुद्ध-जोतिमय रूप सदा सुन्दर अविकारी।
हरि-लीला-रस-मत्त, मुदित नित, विचरत जग मैं,
अदभुत-गति कहुँ नहीं अटक निकसे जेहि मगमैं॥१॥

शब्दार्थ—सुभकारी—शुभ कार्यों के करने वाले, सत्कर्मी या

दूसरों के लिये मंगल करने वाले। सुद्ध जोतिमयरूप—पवित्र तेजस्वी—पुनीत तेजधारी या ज्ञानज्योति-पूर्ण या शुद्ध ज्योति-ब्रह्म-स्वरूप।

भावार्थ—कृष्ण-लीला-प्रेमी दयालु शुभकारी और अविकारी श्री शुकदेव जी की, जिनकी अद्भुत गति सभी मार्ग में वेरोक-टोक है और जो तेजस्वी हैं, मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ—(मैं) दयालु श्री शुकदेव जी की वंदना करता हूँ। वे शुभ करने वाले और विकार - रहित होकर सदैव सुन्दर और शुद्ध तेजोमय रूप वाले हैं। भगवान (कृष्ण) की लीला के रस से मत्त होकर प्रसन्नता से सदा संसार में विचरते हैं। उनकी गति अद्भुत है और जिस मार्ग से वे निकले हैं उसमें कहीं उनकी अटक नहीं हुई अर्थात् उन्हें अटकना नहीं पड़ा।

नोट—इस स्थान पर अन्वय में शब्दों के हेर-फेर से कई अर्थ हो सकते हैं, हम उन्हें देना व्यर्थ समझते हैं, विचारशील पाठक स्वयमेव देख लें।

नीलोत्पल - दल - स्याम - अंग नव जोवन भ्राजै,
कुटिक-अलक, मुख-कमल मनौं अलि-अवलि विराजै।
सुन्दर भाल बिसाल दिपति मनु निकर-निसाकर,
कृष्ण-भक्ति-प्रतिबिम्ब तिमिर को कोटि दिवाकर ॥२॥

शब्दार्थ :—उत्पल—कमल, दल—भुंड, पत्ता, प्रतिबिम्ब—छाया, तिमिर—तम या श्यामता। निकर=समूह, (क्रि०) निकला हो।

भावार्थ :—नवीन युवावस्था है और श्यामल शरीर कमल सा है, उनके मुख तथा उन्नत मस्तक पर कुंचित केश छाये हुये हैं।

नन्द जी श्री शुकदेव की वन्दना करते हैं। साथ ही यह भी कारण हो सकता है कि श्री शुकदेव जी की ही कृपा से कृष्ण-भक्ति, जिसके अनुयायी नन्द दास जी हैं, सर्वोच्च शिखरस्थ तथा प्रधान मानी गई और लोक-व्यापिनी हो गई।

२४ मात्राओं का ११ और १३ मात्राओं पर विराम के साथ रोला नामक छंद यहाँ सुगठित रक्खा गया है। प्रथम भगण, जो शुभ गण है, रक्खा गया है—"म न भ य ये सुभ जानिये, ज र स त असुभ विचार। कवित—आदि वे दीजिये, ये न दीजिये चार॥" (भगण – ऽ।। या गुरु, लघु, लघु—"आदि, मध्य, अवसान में य र, ता में लघु होय। भ, ज, सा में गुरु जानिये, न म लघु-गुरु सब जोय"—सरस पिंगल)

वंदना शब्द भी भद्रवाची या मंगलवाची शब्द है और शुभ है—"देवता-वाचकाः शब्दाः ये तु भद्रादि-वाचकाः"

ते सर्वे नैव निंद्याःस्युः लिपितो गणतोऽपि वा"॥ किन्तु प्रथम पद में यति-भंग दोष सा दीखता है क्योंकि यति (विराम) रीत्यानुसार ११ मात्राओं या "नि" के बाद पड़ती है, जिससे शब्द बे मौक़े टूट जाता है, किन्तु इसका परिहार यों हो सकता है कि यति यहाँ १४ तथा १० मात्राओं पर रक्खी गई है—जो मान्य भी है—यही विचार दूसरे छन्द-शास्त्र-मर्मज्ञों एवं कवियों का भी है—अतः यह दोष दूर हो गया।

वन्दन करौं कृपानिधान श्री सुक सुभकारी,
सुद्ध-जोतिमय रूप सदा सुन्दर अविकारी।
हरि-लीला-रस-मत्त, मुदित नित, विचरत जग में,
अदभुत-गति कहुँ नहीं अटक निकसे जेहि मगमैं॥१॥

शब्दार्थ—सुभकारी—शुभ कार्यों के करने वाले, सत्कर्मी या

उनके कर्ण-कुहर श्रीकृष्ण-रस के पात्र हैं, साथ ही सुन्दर कपोलों से प्रेमानंद-पूर्ण मन्द मुसकान का मधु बरस रहा है।

अर्थ—(उनके) नेत्र दया के रंग-रस के घर और कुछ लालिमा लिये हुये शोभित हैं, तथा कृष्ण-रसामृत को पान कर वे अलसाये और कुछ घूमे (तिरछे) हुये हैं। (उनके) कर्ण-कुहर कृष्ण-रस के पात्र हैं तथा (उनके समीपी) कपोल अच्छे दीखते हैं, क्योंकि उनसे प्रेम और आनन्द से मिली मंद-हँसी या मुसकान का मधु बरस रहा है।

उन्नत नासा, अधर-बिंब सुक की छवि छीनी,
तिन-बिच अद्भुत भाँति लसत कछु इक मसि भीनी।
कम्बु-कंठ की रेख देखि हरि-धरम प्रकासै,
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह जिहि निरखत नासै ॥४॥

शब्दार्थ—उन्नत—उठी हुई, बिंब – प्रतिबिंब, बिम्बाफल, एक रक्त वर्ण का फल, मसि-स्याही, कालिमा, भीनी—छलकना, भीगना, हलकी, कंम्बु—शंख। तिन = तिनके—समास देखो।

भावार्थ—रक्तोष्ट और उठी हुई नुकीली नासिका है, बीच में अर्थात् ऊपर अधर पर रेखों (अंकुरित श्मश्रु) की श्यामता विराज रही है तथा कृष्ण-भक्ति को प्रकाश करने वाली गले में रेखायें भी भली लगती हैं।

अर्थ – बिम्बा-फल (लाल वर्ण का फल) रूपी अधरों के ऊपर उठी हुई नासिका ने शुक-नासिका की शोभा छीन ली है। इस नासिका और अधरों के बीच में कुछ थोड़ी सी कालिमा (उठती हुई रेखों की श्यामता) विचित्र प्रकार से शोभा दे रही है। अंग में नवीन योवन का उदय हो रहा है, उसका एक लक्षण रेखों का उठना भी है। उनके शंखाकार कंठ पर वह रेख दीखती है जो हरि-धर्म (कृष्ण-भक्ति) को प्रकाशित करती

अर्थ—उनके नीले कमल पत्र-के समान साँवले शरीर में नवीन युवावस्था (तरुणाई) शोभायमान है। उनके कमल-मुख पर कुंचित केश इस प्रकार शोभा देते हैं, मानो मधुपों या भ्रमरों की पंक्ति हो। उनकी सुन्दर उन्नत मस्तक-श्री इस प्रकार दीप्तमान है, मानो चन्द्र-समूह की चन्द्रिका हो और वह मस्तक-श्री श्रीकृष्ण-की भक्ति के प्रतिविम्ब से जनित श्यामता एवं कृष्णता के लिये करोड़ों सूर्यों की प्रभा सी है।

मस्तक पर काले केश आ रहे हैं, अतः वह चन्द्रमा में श्यामता के सदृश हैं—इसीलिये मस्तक की उत्प्रेक्षा में चन्द्रमा या निशाकर रक्खा गया है—अब आगे उन काले केशों की उपमा कृष्ण-भक्ति-प्रतिबिम्ब-प्रभूत तिमिर या कृष्णता से क्या ही चोखी-अनोखी है—छाया का वर्ण श्याम ही होता है, फिर श्याम वस्तु की छाया का, कृष्ण-भक्ति भक्त को श्याम रंग में ही अनुरंजित कर देती है, यह भाव भी साथ ही गुप्त रूप से प्रगट हो या झलक रहा है। अथवा कृष्ण-भक्ति में दोषा के प्रतिबिम्ब-तम के लिये उनकी मस्तक-श्री कोटि मारीचिमाली की मरीचि मालिका की प्रभा सी है।

कृपा-रंग-रस-अयन, नयन राजत रतनारे,
कृष्ण-रसामृत-पान अलस कछु घूम-घुमारे।
स्रवन कृष्ण-रस-भरन, गंड-मंडल भल दरसै,
प्रेमानँद मिलित सुमन्द मुसकनि मधु बरसै ॥३॥

शब्दार्थ—अयन—घर, स्थान, रतनारे—लाल डोरे वाले नेत्र, अलस—मदालस्य-पूर्ण, भरन—पात्र, गंड-मंडल—कपोल, कर्ण-पाली। अनुप्रास की क्या शोभा है, मधुर वर्ण-मंजुलता भी सराहनीय है, शब्द-संगठन सरस एवं भाव-पूर्ण है।

भावार्थ—दयार्द्र नेत्रों में कृष्ण-रसामृत का मद-है, तथा

उनके कर्ण-कुहर श्रीकृष्ण-रस के पात्र हैं, साथ ही सुन्दर कपोलों से प्रेमानंद-पूर्ण मन्द मुसकान का मधु वरस रहा है।

अर्थ—(उनके) नेत्र दया के रंग-रस के घर और कुछ लालिमा लिये हुये शोभित हैं, तथा कृष्ण-रसामृत को पान कर वे अलसाये और कुछ घूमे (तिरछे) हुये हैं। (उनके) कर्ण-कुहर कृष्ण-रस के पात्र हैं तथा (उनके समीपी) कपोल अच्छे दीखते हैं, क्योंकि उनसे प्रेम और आनन्द से मिली मंद-हँसी या मुसकान का मधु वरस रहा है।

उन्नत नासा, अधर-विंब सुक की छबि छीनी,
तिन-बिच अदभुत भाँति लसत कछु इक मसि भीनी।
कम्बु-कंठ की रेख देखि हरि-धरम प्रकासै,
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह जिहि निरखत नासै ॥४॥

शब्दार्थ—उन्नत—उठी हुई, विंब – प्रतिविंव, बिम्बाफल, एक रक्त वर्ण का फल, मसि-स्याही, कालिमा, भीनी—छलकना, भीगना, हलकी, कंम्बु—शंख। तिन = तिनके—समास देखो।

भावार्थ—रक्तोष्ठ और उठी हुई नुकीली नासिका है, वीच में अर्थात् ऊपर अधर पर रेखों (अंकुरित श्मश्रु) की श्यामता विराज रही है तथा कृष्ण-भक्ति को प्रकाश करने वाली गले में रेखायें भी भली लगती हैं।

अर्थ—बिम्बा-फल (लाल वर्ण का फल) रूपी अधरों के ऊपर उठी हुई नासिका ने शुक-नासिका की शोभा छीन ली है। इस नासिका और अधरों के वीच में कुछ थोड़ी सी कालिमा (उठती हुई रेखों की श्यामता) विचित्र प्रकार से शोभा दे रही है। अंग में नवीन योवन का उदय हो रहा है, उसका एक लक्षण रेखों का उठना भी है। उनके शंखाकार कंठ पर वह रेख दीखती है जो हरि-धर्म (कृष्ण-भक्ति) को प्रकाशित करती

अर्थ—उनके नीले कमल पत्र-के समान साँवले शरीर में नवीन युवावस्था (तरुणाई) शोभायमान है। उनके कमल-मुख पर कुंचित केश इस प्रकार शोभा देते हैं, मानो मधुपों या भ्रमरों की पंक्ति हो। उनकी सुन्दर उन्नत मस्तक-श्री इस प्रकार दीप्तमान है, मानो चन्द्र-समूह की चन्द्रिका हो और वह मस्तक-श्री श्रीकृष्ण-की भक्ति के प्रतिविम्ब से जनित श्यामता एवं कृष्णता के लिये करोड़ों सूर्यों की प्रभा सी है।

मस्तक पर काले केश आ रहे हैं, अतः वह चन्द्रमा में श्यामता के सदृश हैं—इसीलिये मस्तक की उत्प्रेक्षा में चन्द्रमा या निशाकर रक्खा गया है—अब आगे उन काले केशों की उपमा कृष्ण-भक्ति-प्रतिबिम्ब-प्रभूत तिमिर या कृष्णता से क्या ही चोखी-अनोखी है—छाया का वर्ण श्याम ही होता है, फिर श्याम वस्तु की छाया का, कृष्ण-भक्ति भक्त को श्याम रंग में ही अनुरंजित कर देती है, यह भाव भी साथ ही गुप्त रूप से प्रगट हो या झलक रहा है। अथवा कृष्ण-भक्ति में दोपा के प्रतिबिम्ब-तम के लिये उनकी मस्तक-श्री कोटि मारीचिमाली की मरीचि मालिका की प्रभा सी है।

कृपा-रंग-रस-अयन, नयन राजत रतनारे,
कृष्ण-रसामृत-पान अलस कछु घूम-घुमारे।
स्रवन कृष्ण-रस-भरन, गंड-मंडल भल दरसै,
प्रेमानँद मिलिता सुमन्द मुसकनि मधु बरसै ॥३॥

शव्दार्थ—अयन—घर, स्थान, रतनारे—लाल डोरे वाले नेत्र, अलस—मदालस्य-पूर्ण, भरन—पात्र, गंड-मंडल—कपोल, कर्ण-पाली। अनुप्रास की क्या शोभा है, मधुर वर्ण-मंजुलता भी सराहनीय है, शव्द-संगठन सरस एवं भाव-पूर्ण है।

भावार्थ—दयार्द्र नेत्रों में कृष्ण-रसामृत का मद है, तथा

उनके कर्ण-कुहर श्रीकृष्ण-रस के पात्र हैं, साथ ही सुन्दर कपोलों से प्रेमानंद-पूर्ण मन्द मुसकान का मधु बरस रहा है।

अर्थ—(उनके) नेत्र दया के रंग-रस के घर और कुछ लालिमा लिये हुये शोभित हैं, तथा कृष्ण-रसामृत को पान कर वे अलसाये और कुछ घूमे (तिरछे) हुये हैं। (उनके) कर्ण-कुहर कृष्ण-रस के पात्र हैं तथा (उनके समीपी) कपोल अच्छे दीखते हैं, क्योंकि उनसे प्रेम और आनन्द से मिली मंद-हँसी या मुसकान का मधु बरस रहा है।

उन्नत नासा, अधर-बिंब सुक की छवि छीनी,
तिन-बिच अद्भुत भाँति लसत कछु इक मसि भीनी।
कम्बु-कंठ की रेख देखि हरि-धरम प्रकासै,
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह जिहि निरखत नासै ॥४॥

शब्दार्थ—उन्नत—उठी हुई, बिंब – प्रतिबिंब, बिम्बाफल, एक रक्त वर्ण का फल, मसि-स्याही, कालिमा, भीनी—छलकना, भीगना, हलकी, कंम्बु—शंख। तिन = तिनके—समास देखो।

भावार्थ—रक्तोष्ठ और उठी हुई नुकीली नासिका है, बीच में अर्थात् ऊपर अधर पर रेखों (अंकुरित श्मश्रु) की श्यामता विराज रही है तथा कृष्ण-भक्ति को प्रकाश करने वाली गले में रेखायें भी भली लगती हैं।

अर्थ—बिम्बा-फल (लाल वर्ण का फल) रूपी अधरों के ऊपर उठी हुई नासिका ने शुक-नासिका की शोभा छीन ली है। इस नासिका और अधरों के बीच में कुछ थोड़ी सी कालिमा (उठती हुई रेखों की श्यामता) विचित्र प्रकार से शोभा दे रही है। अंग में नवीन योवन का उदय हो रहा है, उसका एक लक्षण रेखों का उठना भी है। उनके शंखाकार कंठ पर वह रेख दीखती है जो हरि-धर्म (कृष्ण-भक्ति) को प्रकाशित करती

है और जिसे देखकर काम, क्रोध, मद, लोभ, और मोह का नाश हो जाता है।

उर वर पर अति छवि की भीरा बरनि न जाई,
जेहि भीतर जगमगात निरन्तर कुँवर कन्हाई।
सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजत भारी,
हिय-सरवर रस-भरी चली मनु उमँगि पनारी ॥५॥

शब्दार्थ :—भीरा—पुंजता, भीड़, समूहता, पनारी—मोरी।

भावार्थ :—कृष्ण-मूर्ति के निरंतर निवास से हृदय-देश अत्यन्त सुन्दर हो रहा है तथा उससे प्रारम्भ होकर रोमावली उदर तक जाती है। हेतूत्प्रेक्षालंकार है।

अर्थ—उस श्रेष्ठ या उत्तम हृदय (वक्षस्थल) पर छवि की पुंजता (इतनी अधिक है कि) कही नहीं जा सकती, जिस हृदय के भीतर कुमार कृष्ण सदैव जगमगाते रहते हैं। (कृष्ण अनन्त सौंदर्य शाली हैं और वह श्रीशुकदेव जी के हृदय में सदा रहते हैं, अतएव श्री शुकदेव जी का हृदय भी पुंजीभूत शोभा-सौंदर्य से परिपूरित्त है) उनके सुन्दर उदार उदर पर गहरी (घनी) रोमावली यों विराज रही है मानो हृदय-सरोवर से रसपूर्ण पनारी (पानी बहने के नाली या मेरी) उमड़ कर चल दी हो। "रोमावलि" में रो का पाठ लघु रूप में है।

नोट—रोमावली वस्तुतः हृदय-देश से प्रारम्भ होकर उदर में नाभि के नीचे तक आती है, अतः हृदय को सरोवर और रोमा वली को रस-पूरित पनारी और उदार उदर को सुंदर सागर बनाया गया है-उत्प्रेक्षालंकार का सुन्दर निर्वाह है, रस तथा उमँगि में श्लिष्टता की भी छाया है—रस—(भक्ति-रस या जल, उमँगि—उमंग से या उमड़कर) कुँवर भी श्लिष्ट है - कुमार, क्वाँरे, राज-कुमार।

ता रस की कुण्डिका नाभि सोभित अस गहरी,
त्रिवली तामैं ललित भाँति जनु उपजति लहरी।
अति सुदेस कटिदेस सिंह सोभित सघनन अस,
जोवन-मद आकरसत, वरसत प्रेमा-सुधा-रस ॥८॥

शब्दार्थ:—त्रिवली - नाभि के निकट तीन रेखायें,सघनन— श्लिष्ट पद है—सिंह के ग्रीवादेशस्थ केसर—कलाप, घने बादल, आकरसत (शुद्ध सं०—आकर्षत)—खींचते हैं।

भावार्थ :—गहरी नाभि और उस पर पड़ी हुई त्रिवली की रेखायें और रोमावली अत्यंत मनोहारिणी हैं। क्षीण कटि भी सिंह के समान सुन्दर है।

अर्थ :—उस स्रोत की एक अत्यंत गहरी कुंडिका (भवँर) रूपी नाभी शोभायमान है। उस नाभि में तीन रेखायें इस प्रकार मनोहर लगती हैं मानो कुंडिका में लहरें उठ रही हों। उनका कटि-प्रदेश भी अत्यंत सुन्दर है—उसे तथा उक्त हृदय और उदर-देश की रोमावली को देखकर ऐसा ज्ञात होता है मानों घने बालों के संयुक्त सिंह की पतली कटि विराज रही है। यहाँ पर नन्द दास जी ने भावोद्रेक तथा विचारावेश और वाणी की चपलता के कारण भावों को द्रुति गति देकर कुछ अस्फुटता के साथ सटा कर रक्खा है, रोमावली को और आगे खींचकर फिर कहते हैं कि वह रोमावली घने बादलों के समान योवन-मद को खींचकर—जैसे बादल सागर से जल को वाष्प के रूप में खींचकर —प्रेम-पीयूष-रस को बरसा रही है। यहाँ पर भाव-संमिश्रण, विचारोद्वेग तथा प्रकाशन-त्वरा से सुसंगठित नहीं है। सुन्दर एवं सरस उत्पेक्षा है।

गूढ़ जानु आजानु-बाहु मद-गज-गति लोलैं,
गंगादिकन पवित्र करन अवनी में डोलैं।

सुन्दर-पद-अरबिन्द-मधुर-मकरन्द-मुग्ध जहँ,
मुनि-मन-मधुकर-निकर सदा सेवत लोभी तहँ ॥७॥

शब्दार्थ—गूढ़—गढी हुई, जानु—जंघा, आजानु—जंघाओं तक, लोलैं—हिलती हैं, अरविंद—कमल, मकरंद—पराग-रज, निकर—समूह।

भावार्थ—मदालसा गति से हाथी के समान चलनेवाली जंघायें हैं तथा उन जन्घाओं तक लटकने वाली उनकी लम्बी भुजायें हैं। उनके पद परम पवित्र और कमलों से भी सुन्दर है, उनकी रज को मुनि लोगों के मन-मधुप मकरन्द के समान धारण करते हैं।

अर्थ—गूढ़ (गढी हुई) जंघायें हैं, जिनके निकट तक उनकी लम्बी बाहुयें या भुजायें लटक रही हैं—मद के कारण वे हाथी की गति से चलती हैं, और गंगादि को पवित्र करने के लिये पृथ्वी पर भ्रमण कर रही हैं—उनके पदों से गंगा जी भी पवित्र हो जाती हैं, उनमें ऐसी और इतनी पुनीतता भरी हुई है। उनके सुन्दर चरण कमलों के समान हैं, उन्हें उनके मधुर मकरंद-रज (पराग) से मुग्ध होकर मधुप-समूह के समान मुनियों के मन सदा सेवते हैं।

यहाँ पर श्री शुकदेव जी का शिख-नख वर्णन समाप्त होता है। इसमें विशेष बात यही है कि प्रायः सभी अंगों को कृष्ण-भक्ति के रस से सावित दिखाया गया है, सारा वर्णन पवित्रता तथा प्रमोनंद-रस से पूर्ण है।

वर्णन भाव-पूर्ण और सरस है। उपमायें, उत्प्रेक्षायें और रूपक कुछ परम्परा प्रणाली के हैं अवश्य, परन्तु उनमें नवीनता की छाप भी भाव-गाम्भीर्य के साथ लगाई गई है। सार्थक तथा भाव-भरे अनुप्रास रोचक तथा रुचिर हैं। संगीतमयी कोमल-कान्त

पदावली है। पवित्र, भाव-पूर्ण, सरस शृंगारिक वर्णन इसे ही कहते हैं।

अब भागवतोत्पत्ति तथा उसमें रासपंचाध्यायी का स्थान और उसके लिखने का कारण कहते हैं।

जब दिन-मनि श्रीकृष्ण दृगन तें दूरि भये दुरि,
पसरि पर्‌यो अँधियार सकल संसार घुमरि घुरि।
तिमिर-ग्रसित सब लोक-ओक दुख देखि दयाकर,
प्रकट कियो अदभुत-प्रभाव भागवत-विभाकर ॥८॥

शब्दार्थ—दुरि—छिपना, घुरि—घिरि-घेरकर या घिरकर ओक—स्थान, घर, विभाकर—चन्द्रमा (विभावरी=रात-अतः विभाकर—चंद्रमा)—श्रीकृष्ण-रवि छिप गया है और निशा का अंधकार छा गया है, अतः चन्द्रमा-रूपी भागवत के प्रभाव का फैलना उचित प्रतीत होता है। अँधियार—अँधेरी तथा अज्ञानता।

भावार्थ—श्रीकृष्ण जी के अन्तर्ध्यान हो जाने तथा सारे संसार में अज्ञानाधंकार के फैल जाने पर श्रीशुकदेव जी ने भागवत के ज्ञान-प्रकाश को प्रगट किया।

अर्थ—जब प्रभाकर-रूपी श्रीकृष्ण जी नेत्रों से दूर होकर छिप गये, जिस प्रकार सूर्य भगवान संध्या-समय नेत्रों से दूर पश्चिम दिशा में जाकर छिप जाते हैं, उसी प्रकार जब कृष्ण जी आँखों से ओझल हो अन्तर्ध्यान हो गये—तब संसार में घुमड़ और घिर कर चारो ओर से अंधकार-रूपी अज्ञान फैल गया—अंधकार से समाच्छादित सारे लोक को दुःख का निवास-स्थान बनते देखकर—दया करने वाले श्रीशुकदेव जी ने विभाकर-रूपी भागवत के अद्भुत प्रकाश को प्रगट किया।

जे सँसार अँधियार अगर मैं मगन भये वर,
तिन-हित अद्भुत दीप प्रकट कीनो जु कृपाकर।
श्रीभागवत सुनाम परम अभिराम परम मति,
निगम-सार सुकुमार विना गुरु-कृपा अगम अति ॥६॥

शब्दार्थ—अगर—(शुद्ध०—आगार)—समूह या घर, अगन—पाठ से आँगन का अर्थ होगा, मगन— निमग्न होना या फँस या डूब जाना, मगर पाठ से तम-सागर के मगर का अर्थ होगा, परममति—अत्यंत विवेक-पूर्ण, निगम शास्त्र, सुकुमार—सूक्ष्म तथा कोमल, वारीक या पतले तत्व।

भावार्थ—अज्ञानांधकार में फँसे हुये लोगों के लिये श्री शुकदेव जी ने वेद-ज्ञान तथा विवेक-प्रभा-पूर्ण यह भागवत ग्रंथ दीपक के रूप में प्रगट कर दिया, परन्तु विना गुरु की कृपा के इसका पूर्ण ज्ञान कठिन है।

अर्थ—जो श्रेष्ठ लोग संसार के अंधकार-पुंज में निमग्न हो या डूब गये थे, उनके लिये दयालु श्री शुकदेव जी ने (दया कर के) यह अद्भुत दीपक (भागवत) प्रकट किया। इस ग्रंथ (विभाकर या दीपक) का सुन्दर नाम भागवत है। यह अत्यंत सुन्दर और विवेक-पूर्ण है। इसमें शास्त्रों का मृदुल सार भरा हुआ है, अतः यह विना गुरु की कृपा के अत्यंत अगम है अर्थात् विना गुरु के समझाये यह समझ में पूर्णतया नहीं आता।

ताही मैं मनि अति रहस्य यह पञ्चाध्यायी,
तन में जैसे पंच प्रान, अस सुक मुनि गायी।
परम रसिक इक मित्र मोहिं तिन आज्ञा दीनी,
ताही तें यह कथा यथामति भाषा कीनी ॥१०॥

शब्दार्थ:—मणि :—मणि का प्रयोग प्रथम दीपक के अर्थ में होता था, यह साहित्य में वहुधा मिलता है। पंच प्राण :—शरीर

में रहने वाले पाँच प्रकार की वायु या पंच पवन को पाँच प्राण कहते हैं, उनके नाम ये हैं:—१. प्राण २. अपान ३. व्यान ४. समान ५. उदान।

नोट—एक रसिक मित्र की आज्ञा-पूर्ति के लिये नन्ददास ने यह रास पंचाध्यायी भाषा-कविता में अवान्तरित की थी यही इसके लिखे जाने का कारण है। किन्तु वे रसिक मित्र कौन थे, उनका क्या नाम था, आदि के विषय में वे कुछ विशेष नहीं कहते, खेद है! यह परिचय रहस्य के रूप में ही रह गया।

भावार्थ :—रास पंचाध्यायी समस्त भागवत का मूल तत्व एवं प्रधान मर्म-सार है। मैंने भाषा में इसे अपने एक रसिक मित्र के कहने से लिखा था।

अर्थ – उसी दीपक में यह रहस्यमयी (रास) पंचाध्यायी मणि के समान है। श्री शुकदेव जी ने इसे शरीरान्तर्गत पाँच प्राणों की उपमा दी है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार इस शरीर में पाँच प्राण रहते हैं उसी प्रकार समस्त भागवत में यह पाँच अध्याय हैं। मेरे एक बड़े ही रसिक मित्र ने मुझे इसको भाषा में लिखने की आज्ञा दी, अतः मैंने यह कथा (रास-लीला-कथा) अपनी बुद्धि के अनुसार भाषा-कविता में लिखी है।

नोट :—यहाँ ऐसा ज्ञात होता है मानो- यह भागवत का अनुवाद है, परन्तु दोनों की तुलनात्मक आलोचना से स्पष्ट हो जाता है कि यह मौलिकतायुक्त भावानुवाद या छायानुवाद ही है। भावों और विचारों में विकास अच्छे ढंग से हुआ है। कथा-क्रम तथा भावादि प्रायः भागवत् के ही अनुकूल हैं। अन्त में फिर श्री शुकजी की वंदना के रूप में उनके रूप-सौन्दर्य पर एक व्यापक दृष्टिपात करते हैं। बीच में प्रसंग कुछ टूट सा गया था, अब सर्वतो भावेन पंचाध्यायी के लिखने से

जे सँसार अँधियार अगर मैं मगन भये वर,
तिन-हित अद्भुत दीप प्रकट कीनो जु कृपाकर।
श्रीभागवत सुनाम परम अभिराम परम मति,
निगम-सार सुकुमार बिना गुरु-कृपा अगम अति ॥९॥

शब्दार्थ—अगर—(शुद्ध०—आगार)—समूह या घर, अगन—पाठ से आँगन का अर्थ होगा, मगन—निमनग्न होना या फँस या डूब जाना, मगर पाठ से तम-सागर के मगर का अर्थ होगा, परममति—अत्यंत विवेक-पूर्ण, निगम शास्त्र, सुकुमार—सूक्ष्म तथा कोमल, बारीक या पतले तत्व।

भावार्थ—अज्ञानांधकार में फँसे हुये लोगों के लिये श्री शुकदेव जी ने वेद-ज्ञान तथा विवेक-प्रभा-पूर्ण यह भागवत ग्रंथ दीपक के रूप में प्रगट कर दिया, परन्तु बिना गुरु की कृपा के इसका पूर्ण ज्ञान कठिन है।

अर्थ—जो श्रेष्ठ लोग संसार के अंधकार-पुंज में निमग्न हो या डूब गये थे, उनके लिये दयालु श्री शुकदेव जी ने (दया कर के) यह अद्भुत दीपक (भागवत) प्रकट किया। इस ग्रंथ (विभाकर या दीपक) का सुन्दर नाम भागवत है। यह अत्यंत सुन्दर और विवेक-पूर्ण है। इसमें शास्त्रों का मृदुल सार भरा हुआ है, अतः यह बिना गुरु की कृपा के अत्यंत अगम है अर्थात् बिना गुरु के समझाये यह समझ में पूर्णतया नहीं आता।

ताही मैं मनि अति रहस्य यह पञ्चाध्यायी,
तन मैं जैसे पंच प्रान, अस सुक मुनि गायी।
परम रसिक इक मित्र मोहिं तिन आज्ञा दीनी,
ताही तैं यह कथा यथामति भाषा कीनी ॥१०॥

शब्दार्थ:—मणि:—मणि का प्रयोग प्रथम दीपक के अर्थ में होता था, यह साहित्य में बहुधा मिलता है। पंच प्राण:—शरीर

रंगस्थली या रंगमंच (Stage) तथा वहाँ के दृश्य, परिस्थिति, स्थानादि का विवेचनात्मक ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही यहाँ भी कथागत घटनाओं के स्थान का परिचय आवश्यक है।

अतएव श्रीनन्ददास भी वृन्दावन का वर्णन यहाँ करते हैं इस वर्णन के द्वारा कथानक के मर्म या रहस्य पर भी प्रकाश पड़ता है।

वृन्दावन के नाम से ही वृन्दावन-विहारी की लीलाओं का स्मर्ण आता है, यही लीला-वर्णन यहाँ होगा भी, यह वस्तु-निदेशात्मक मंगलाचरण है।

शब्दार्थ :—निमित—शु.सं., निमित्त—वास्ते, जड़ताय—शु. सं. जड़ता—कभी कभी जड़ताई रूप भी भाषा में हो जाता है कदाचित उसीसे जड़ताय तुकान्त के लिए कर दिया गया है। रह्यो - रहा —भूतकाल या वर्तमान काल "है" का लोप है—ब्रज भाषा के ऐसे "यो" अन्त वाले कालों की खड़ी बोली एवं अवधी आदि के कालों से तुलना करो—

भावार्थ :—श्रीशुकदेव जी के अनूप रूप का नन्द कवि वर्णन नहीं कर सकता, अतः जो कुछ वर्णन वह कर सका उसीसे संतुष्ट हो, श्रीकृष्ण के विहार-विपिन वृन्दावन की अकथनीय शालिमा एवं सुषुमा का कुछ वर्णन करता है। यह वृन्दावन श्रीकृष्ण की ललित लीला के रसास्वादनार्थ जड़ बन गया है।

अर्थ :—श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण के इस वन की छवि-छटा कुछ वर्णित नहीं की जा सकती। यह वन—यद्यपि चैतन्य है तथापि—श्रीकृष्णकी ललित लीला (रसास्वादनार्थ) के लिये जड़ता धारण किये हुये है।

नोट :—वन को चैतन्य सा दिखा वहाँ सर्वत्र चैतन्य ब्रह्म की सत्ता व्यंजित की है, और कृष्ण-लीला भी सूचित की है। चैतन्यनव

मंगला-चरण का फिर देना आवश्यक है, अतः पूर्वकृत श्री शुक रूप-वंदना-रूप मंगलाचरण से सम्बन्ध जोड़ने के लिये साधारण शुक-सौंदर्य के साथ यह मंगलाचरण एक पंक्ति में ही है। आगे वृन्दावन का वर्णन है।

दो०–श्रीसुक-रूप-अनूप हो, क्यौं बरने कवि नन्द,
अब वृन्दावन बरनि हौं, जहं बृन्दाबन-चन्द।
श्रीवृन्दावन-चन्द-बन, कछु छवि बरनि न जाय,
कृष्ण-ललित-लीला-निमित, धारि रह्यो जड़ताय॥११॥

नोट :—प्रथम प्रसंग का अन्त देखकर कदाचित यहाँ दो दोहे दिये गये हैं, क्योंकि प्रसंगान्त में दोहे या अन्य दूसरे छंद दिये जाने चाहिये। श्री तुलसीदास ने तो दोहों का क्रम खूब निवाहा है, आठ, आठ चौपाइयों पर दोहा आता है। साथ ही चूंकि मंगलाचरण भी हो रहा है और दूसरे प्रसंग का प्रारम्भ भी है। अतः एक छोटे छंद की-जिसमें स्वल्परूप से सूचना दी जा-सके—जैसे दोहा—आवश्यकता कदाचित नन्द को प्रतीत हुई और इसी से उन्होंने यहाँ दो दोहों से काम निकाल लिया। प्रथम में आप अपना नाम "कवि नन्द" भी देते हैं।

अर्थ :—हे! शुकदेव जी आप अनूप रूप वाले हो, अतः यह नन्द कवि किस प्रकार आपका (आपके अनूप रूप-सौंदर्य का) वर्णन करे। अतः इतने ही से संतोष कर अब मैं उस वृन्दावन का वर्णन करूंगा, जहाँ वृन्दावन-चन्द श्रीकृष्ण जी विहार किया करते थे।

नोटः—वरनिहौं—वर्णन करूँगा—व्रजभाषा में-भविष्य-काल हों हौं, है, हैं आदि से बनाया जाता है, तुलना करो खड़ी बोली और अवधी आदि के भविष्यत् कालिक क्रियाओं के रूपों से—

नोट :—नाटकीय दृश्याभिनय के समझने में जैसे

रंगस्थली या रंगमंच (Stage) तथा वहाँ के दृश्य, परिस्थिति, स्थानादि का विवेचनात्मक ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही यहाँ भी कथागत घटनाओं के स्थान का परिचय आवश्यक है।

अतएव श्रीनन्ददास भी वृन्दावन का वर्णन यहाँ करते हैं इस वर्णन के द्वारा कथानक के मर्म या रहस्य पर भी प्रकाश पड़ता है।

वृन्दावन के नाम से ही वृन्दावन-विहारी की लीलाओं का स्मरण आता है, यही लीला-वर्णन यहाँ होगा भी, यह वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण है।

शब्दार्थ :—निमित—शु.सं., निमित्त—वास्ते, जड़ताय—शु. सं. जड़ता—कभी कभी जड़ताई रूप भी भाषा में हो जाता है कदाचित उसीसे जड़ताय तुकान्त के लिए कर दिया गया है। रह्यो - रहा —भूतकाल या वर्तमान काल "है" का लोप है—व्रज भाषा के ऐसे "यो" अन्त वाले कालों की खड़ी बोली एवं अवधी आदि के कालों से तुलना करो—

भावार्थ :—श्रीशुकदेव जी के अनूप रूप का नन्द कवि वर्णन नहीं कर सकता, अतः जो कुछ वर्णन वह कर सका उसीसे संतुष्ट हो, श्रीकृष्ण के विहार-विपिन वृन्दावन की अकथनीय शालिमा एवं सुषुमा का कुछ वर्णन करता है। यह वृन्दावन श्रीकृष्ण की ललित लीला के रसास्वादनार्थ जड़ बन गया है।

अर्थ :—श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण के इस वन की छवि-छटा कुछ वर्णित नहीं की जा सकती। यह वन—यद्यपि चैतन्य है तथापि—श्रीकृष्णकी ललित लीला (रसास्वादनार्थ) के लिये जड़ता धारण किये हुये है।

नोट :—वन को चैतन्य सा दिखा वहाँ सर्वत्र चैतन्य ब्रह्म की सत्ता व्यंजित की है, और कृष्ण-लीला भी सूचित की है। चैतन्यनव

ने लीलारसास्वादनार्थ जड़ता-सी धारण कर ली है-क्योंकि चैतन्य विवेक साकार-सगुण ब्रह्म की भक्ति का रसामृत भली प्रकार नहीं पान कर सकता, उसके लिए तो मुग्ध होकर जड़रूप हो जाने वाले भक्त का रसिक हृदय ही आवश्यक है, चैतन्य विवेक तो ज्ञान में पड़ निर्गुण की अनन्त अज्ञेय कल्पना में उलझ जाता है, उसे ललित लीला का रसामृत कैसे मिल सकता है, यही चातुर्य से व्यंजित है और साथ ही कवि-संकल्प भी स्पष्ट है।

अब सुन्दर श्रीवृन्दावन को गाथ सुनाऊँ,
सकल सिद्धिदायक पै सबही विधि सिधि पाऊँ।
जहँ नग, खग, मृग,लता, कुञ्ज, विरुधी-तन जेते,
नहीं काल-गुन को प्रभाव सुभ सोभित तेते ॥१२॥

शब्दार्थ :—नग—पर्वत, सिद्धि—अणिमा, महिमा लघिमा, प्राप्त, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, गुरुत्व ये आठ सिद्धियाँ हैं—जो योग-साधन से प्राप्त होती हैं, सिधि—सिद्धि, सफलता। विरुधी—वृक्ष

भावार्थ :—वृन्दावन में सदा एक सा सुकाल रहता था और वहाँ के सभी वृक्ष, लता, कुंज, पशु, पक्षी आदि शोभा पाते रहते थे।

अब फिर रोला छंद में वर्णन प्रारम्भ होता है—

अर्थ :—अब सुन्दर श्रीवृन्दावन का वर्णन गाकर सुनाता हूँ। यह वन सम्पूर्ण सिद्धियों का देने वाला है, अतः आशा है कि मैं भी सब प्रकार सिद्धि को प्राप्त करूँगा। यहाँ जितने पर्वत, पक्षी, पशु, लता, कुंज और वृक्ष हैं, जिनके कलेवर परिवर्धित हैं, वे सब काल-गुण-प्रभाव से संबद्ध नहीं हैं और इसी लिए सदा ही शोभायमान रहते हैं। वृन्दावन की प्रतिष्ठा के लिए आदर-सूचक शुभ श्रीशब्द का प्रयोग किया गया है।

नोट :—"गाय" शब्द से इस कविता में संगीत के होने की व्यंजना है, इसमें संगीत-तत्व है भी अच्छा, साथ ही चूंकि यह वन भगवान का विहार-विपिन है, अतः उनकी दासियाँ ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ सब यहाँ हैं। दार्शनिक विचार भी साथ में है:—

वन के पर्वत, लता, वृक्ष, कुंज, पक्षी, पशु आदि कोई भी काल से प्रभावित नहीं—क्योंकि वे कृष्ण-रस-सिंचित होकर उनके कृपा-पात्र तथा लीला-सखा हैं। अतः सब सदा वसन्त-सेवित हैं—वहाँ काल-परिवर्तन का प्रभाव नहीं, काल-प्रभाव से ही ह्रास-नाश होता है, उससे बचे हुये अमर-रूप हो सदैव सत्य-सौंदर्य और आनन्द का अनुभव करते हैं।

सकल जन्तु अविरुद्ध जहाँ हरि मृग-सँग चरहीं,
काम-क्रोध-मद-लोभ-रहित लीला अनुसरहीं।
सब ऋतु सन्त वसन्त रहत जहँ दिनमनि-ओभा,
सब कानन जाकी विभूति करि सोभित सोभा ॥१३॥

शब्दार्थ:—(दिन-मनि-सूर्य, ओभा-कांति, अविरुद्ध-विरोध-रहित। करि—से, के द्वारा, करण कारक की विभक्त है, अवधी और खड़ी बोली के करण की विभक्तियों से इसकी तुलना करो।

भावार्थ:—वृन्दावन में हरि-प्रभाव से सब जीव-जंतु विरोध-भाव - रहित, क्रोधादि-हीन रहते हैं— सब में प्रेम और साम्य-भाव है, सब काल वहाँ संत या पवित्र वसंत सुंदर रवि-प्रभावान होकर रहता है, सब वन इसी की विभूति से शोभित हैं।

अर्थ :—जिस वृन्दावन में सभी जीव-जन्तु विरोध-भाव से रहित होकर रहते हैं और जहाँ सिंह तथा मृग साथ साथ चलते हैं और काम, क्रोध, मद, लोभ को त्याग कर अपनी जीवन-लीला चलाते हैं। श्रीकृष्ण - दर्शन - लालसा से सब काल जहाँ

वसन्त बना रहता है, समस्त बन इसलिये उसकी विभूति की शोभा से सुशोभित रहा करता है।

नोट:—कदाचित शुद्ध पाठ के अप्राप्त होने से यहाँ अर्थ कुछ सुष्ट एवं समुचित रूप से संगठित नहीं दीखता, किन्तु जैसा पाठ प्राप्त है उसी के अनुसार ही अर्थ करना पड़ेगा।

भ्रुविलसत जु विभूति जगत जगमग रहि जित-तित,
जो लच्छिमी निज रूप रहत चरनन सेवत नित।
श्रीअनन्त, महिमा अनन्त को, वरनि सकै कवि,
संकर-सन सौं कछुक कही श्रीमुख जाकी छवि ॥१४॥

शब्दार्थ:—भ्रू-विलसत—भ्रू-विलास से, विभूति—संपति-श्री, संकर सन—संकर+सन—शंकर जी से अथवा संकर्षण—वलराम (प्रथम पाठ से कुछ अर्थ सार्थक नहीं दीखता—"सन्"—से" यह प्रयोग देखने और तुलना करने योग्य है), कछुक—कुछ+"स्वार्थेक:" क: प्रत्यय।

भावार्थ:—वृन्दावन में चूंकि स्वममेव भगवान एवं लक्ष्मी, जो समस्त सौंदर्य के सागर हैं, विहरते हैं, अत: इसमें अनन्त श्री और महिमामयी सुषमा-समा विराजमान है, इसकी छवि-छटा का वर्णन श्रीकृष्ण ने स्वममेव वलराम जी से किया था।

अर्थ:—जिस लक्ष्मी के भ्रू-विलास की सुषमा जगत में जहाँ तहाँ राजती-विराजती रहती है, वही लक्ष्मी साकार होकर सदा यहाँ अपने पदपद्मों से विहरती रहती है और इस वृन्दावन की इस प्रकार सेवा करती रहती है—क्योंकि यह श्रीकृष्ण का प्यारा कानन है। अत: इस वृन्दावन की श्री या शालिमा अनन्त है और इसकी महिमा भी इसी से असीम है, उसे कौन कवि कह सकता है, भगवान कृष्ण ने अपने श्रीमुख से स्वममेव इसकी छवि-छटा का कुछ वर्णन श्री वलराम जी से किया था।

नोट—विशेषता यहाँ यह है कि श्री-प्रति हरि और रमा के निवास के कारण यहाँ परम पवित्रता तथा विरोधविहीनतामय प्रेम सदा सर्वत्र व्याप्त रहता है। धार्मिक भावों का पूर्ण पुनीत विशुद्ध वर्णन है, यद्यपि प्राकृतिक छटा के वर्णन की कमी है, वह अवाञ्छनीय ही सा है, वांछनीय है धार्मिक भावोत्पादन।

देवन में श्रीरमारमन नारायन प्रभु जस,
कानन में श्रीवृन्दावन सब दिन सोभित अस।
या बन की बरबानक या बन ही बनि आवै,
सेस, महेस, सुरेस, गनेसहु पार न पावै ॥१५॥

शब्दार्थ :—बर—श्रेष्ट, बानक—बनक-रचना या बनावट, शोभा। बनि आवै (मुहा०) फबती है।

भावार्थ :—इस वृन्दावन का वनों में प्रथम स्थान है और इसकी शोभा अकथनीय है।

अर्थ :—जिस प्रकार देवताओं में श्री रमारमण (श्रीपति) नारायण सर्वाग्रगण्य एवं प्रधान है उसी प्रकार वनों में यह सर्वदा सुशोभित रहने वाला वृन्दावन भी प्रथम एवं मुख्य है। इस वन की उत्तम बनावट, बनक या रचना बस इसी ही वन में मिलती है—दूसरे वनों में ऐसी रुचिर रचना अप्राप्त है—यह अनुपम या उपमान-रहित है। इसका शेष, महेश, इन्द्र तथा गणेश जी भी वर्णन नहीं कर पाते।

जहँ जेतिक द्रुमजात कलपद्रुम-सम सब लायक,
चिन्तामनि सी भूमि सबै चिन्तित फल-दायक।
तिन मधि एक कल्पतरु, लगि रहि जगमग जोती,
पत्र, मूल, फल, फूल सकल हीरा, मनि, मोती ॥१६॥

शब्दार्थ :—जेतिक—जितने ही (देखो—जेते, जितने, जेती, जितनी —क— "स्वार्थे कः" उसी अर्थ के प्रकाशनार्थ क

प्रत्यय का प्रयोग होता है—यथा पुत्रक—कितेक—कितने ही, व्रजभाषा में इस प्रत्यय से कुछ विशेष वल शब्द में आ जाता है किते—कितने, किन्तु, कितेक—कितने ही)

मधि—मध्य या वीच में—में, (अधिकरण) लगि—समान द्रुमजात—वृक्षों की जातियाँ या जात—उत्पन्न हुये वृक्ष ।

भावार्थ :—वृन्दावन के वृक्ष वड़े ही सुन्दर, सुफलप्रद और विकास-प्रकाश पूर्ण होकर कल्प वृक्ष के समान हैं, उनके बीच में एक वृक्ष विशेष रूप से मनोहर है ।

अर्थ :—जिस वृन्दावन में जितने भी प्रकार के अथवा जितने भी समुद्भूत वृक्ष हैं, वे सब कल्पवृक्ष के समान सब योग्य हैं, और जहाँ की पृथ्वी चिन्तामणि के समान सभी अभीष्ट फलों की देने वाली है । उन वृक्षों के मध्य में एक वृक्ष कल्पवृक्ष के समान है और उसकी ज्योति या आभा जगमगा रही है, उसके पत्र, (पत्ते) उसकी जड़ें, फल और फूल सब हीरा, मणि और मोती के तुल्य है ।

नोट—वृक्षों को कल्प वृक्ष से, जिससे अभीष्ट फलों-अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष भी प्राप्त हों, ये ही जीवन के उद्देश्य-रूप हैं उपमित कर उनका सुफलप्रद होना व्यंजित किया है ।

तिन मधि तिनके संग लुब्ध अस गान करत अलि,
　　　　घर, किन्नर, गन्धर्व, अपछरा तिन पर गई वलि ।
अमृत-फुहीं सुख-गुहीं सुहीं अति परस रहत नित,
　　　　रास-रसिक सुन्दर पिय को स्रम दूरि करन-हित ॥१७॥

मधि (मध्य) का अधिकरण की विभक्तिरूप में प्रयोग देखिये ।

शब्दार्थ—फुहीं—फुहारें, नन्हीं-नन्हीं बूंदें, गुही—आगुम्फित समाविष्ट, ग्रथित या भरी हुई, सुहीं—सुशोभित, किन्नर—

अश्वमुख वाले देव-गायक, गंधर्व—एक प्रकार के दूसरे देव-गायक, अपछरा—अप्सरा, सुरपुर की वेश्या।

भावार्थ—वृक्ष बड़े ही रसीले फल-फूल वाले हो, सदैव ही फूले फले रहकर सुधा के समान सुन्दर सुस्वादु रस बरसाते रहते हैं और इस प्रकार रास-प्रेमी कृष्ण का क्रीड़ा-श्रम शौथिल्य दूर करते रहते हैं। इसी रस के लिये भ्रमरावली भी मुग्ध लुब्ध होकर आती तथा गाती रहती है।

अर्थ—उन वृक्षों में उनके संपर्क से लुब्ध (लालची) भौंरे इस प्रकार गान कर रहे हैं कि उन पर श्रेष्ठ गायक, किन्नर, गंधर्व तथा गायिकायें (नायिकायें) अप्सरायें भी बलिहारी हैं (निछावर हैं)—क्यों भौंरे वहाँ जाते हैं? (क्योंकि) उन वृक्षों से सौख्य-समाविष्ट तथा शोभामयी सुधा-रस की नन्हीं नन्हीं बूँदे रास-रसिक या रास-क्रीड़ा-प्रेमी सुन्दर प्रत्रु (प्रिय—पति-प्यारा, प्रभु) के (क्रीड़ा) श्रम को दूर करने के लिये सदैव बरसती या झरती रहती हैं।

नोट—वृक्षों के नीचे पहुँचते ही रस-बिन्दु-वृष्टि से तन-मन सभी आसिक्त होकर सरस हो जाते हैं। इस भाव को रखकर कवि अपने पाठकों में रस का उद्रेक कर रहा है, और संगीत-माधुरी से काव्य-संगीत की ओर आकृष्ट कर रहा है (हित—के लिये—सम्प्रदान कारक की विभक्ति के रूप में प्रयुक्त है)

ता सुर-तरु मधि अवर एक अद्भुत छवि छाजै,
 साखा, दल, फल, फूल कृष्ण-प्रतिबिम्ब बिराजै।
ता तरु कोमल कनक-भूमि मनिमय मोहत मन,
 दिखियत सब प्रतिबिम्ब मनौ धर में दूजो बन ॥१८॥

शब्दार्थ—ता—उस, अवर (और—अउर—अवर या अपर—अवर)—दूसरी, धर में—धरा में, पृथ्वी के अन्दर।

भावार्थ—उन वृक्षों में जो एक विशेष वृक्ष है, उसमें यह एक अद्भुत बात है कि उसके पत्रादि में कृष्ण-प्रतिविम्ब (हरीतिमा) सुशोभित है। भूमि मणिमयी है, जिसमें सब वृक्षों की छाया भू-गर्भ में पड़ कर दूसरे वन की सत्ता की प्रतीति कराती है।

अर्थ—उस (उपर्युक्त वृक्ष-विशेष) सुर-वृक्ष में एक और दूसरी अद्भुत शोभा विराज रही है। (वह क्या है?) उसकी शाखायें, तथा उसके पत्ते, फूल तथा फल कृष्ण की छाया या उनके प्रतिविम्ब से सुशोभित है, अर्थात् उन सब में नीलिमा (नील या कृष्ण वर्ण) सुचारुता से चढ़ा हुआ है। इसी को कवि किस सुन्दर उत्प्रेक्षा तथा भावात्मक कल्पना से कृष्ण का प्रतिविम्ब कह कर सार्थक कर रहा है—वृक्षों की हरियारी (हरियारी–हरा-पन, हरि=भगवान, यारी—मैत्री, दोस्ती) चरितार्थ हो गई है। उस वृक्ष के नीचे की सुवर्ण-भूमि मणि-जटित होकर मन को मोहित कर रही है, उस मणि-जटित भूमि में सब वृक्षों का प्रतिविम्ब पड़ता हुआ दीखता है, तो ज्ञात होता है मानो पृथ्वी के नीचे दूसरा वन विराज रहा हो।

नोट—वृक्षों के पत्रादि में कृष्ण-प्रतिविम्ब की कल्पनोत्प्रेक्षा से सूचित है, कि उनके देखने से कृष्ण-मूर्ति दीखती है, इसी से कृष्ण-भक्ति उत्पन्न होती है तथा नेत्रों से कृष्ण का रंग या प्रतिविम्ब मन में जाकर उसे कृष्ण-रंग से रँग देता है। सुन्दर भावात्मक उत्प्रेक्षा है, तनिक तनिक दूर पर इसकी सूचना चातुर्य-माधुर्य के साथ है। भाषा भाव-गाम्भीर्य से सजीव वर्णन, भक्ति-भावना, अलंकार-सार्थकता स्तुत्य हैं। व्यापक-व्याप्य का सांनिध्य सुन्दरता से प्रदर्शित है। अपने पक्ष का प्रतिपादन किया गया तथा अपने सिद्धान्तों की ओर दूसरों को कौशल के साथ खींचा गया है। प्राकृतिक वर्णन से स्वसिद्धान्तों तथा मानसिक भाव-भावनाओं को इसी प्रकार प्रकट करना चाहिये।

दार्शनिक प्रतिविम्ववाद की सुन्दर झलक दी गई है, संसार में सर्वत्र उसी एक ब्रह्म का प्रतिविम्वाभास भासित हो रहा है।

थलज जलज झलमलत ललित वहु भँवर उड़ावै,
उड़ि उड़ि परत पराग कछू छवि कहत न आवै।
श्रीजमुनाजी प्रेम-भरी नित वहति सुगहरी,
मनि-मन्दिर दोउ तीर उठत छवि अदभुत लहरी ॥१६॥

शब्दार्थः—थलज = स्थलोत्पन्न + जलज = गुलाव, यहाँ अकेले थलज का अर्थ गुलाव से लेना, जैसा साधारणतया लिया जाता है, इसलिये उपयुक्त नहीं जँचता कि यहाँ अभी तक कहीं सर या नदी आदि का वर्णन ही नहीं आया। अतः हमारी राय में थलज को स्थलोत्पन्न का अर्थ देकर विशेषण के रूप में ही जलज के साथ लेकर दोनों से गुलाव का अर्थ लेना युक्ति-संगत होगा। यमुना का वर्णन इसके वाद आता है। भँवर—भ्रमर और भौंर (भवँर अव नदी आदि में जल की चक्राकृति गति के या गर्तावर्त के अर्थ में ही विशेषतः रूढ हो रहा है - भ्रमर के अर्थ में भौंर या भौंरा का ही प्रयोग-वाहुल्य है-यह खड़ी वोली की वात है—किन्तु व्रजभाषा में यह भेद कम माना जाता है)।

भावार्थ:—वहाँ गुलाव के फूले फूल भ्रमरावली से युक्त हो हिल रहे हैं, उनसे पराग-रज विखर रहा है, यमुना के दोनों तटों पर मणि-मंदिर हैं।

अर्थ:—स्थलोत्पन्न सुन्दर कमल (गुलाव) लहरा या हिल रहे हैं, अतः उनपर वैठने वाले भौंरे उड़ चलते हैं (या भ्रमर ही उन फूलों पर आ वैठते हैं और उन्हें हिला देते हैं—या फूल स्वयमेव पवनावधूत होकर हिलते हैं और भवँरों को उड़ा देते हैं, क्योंकि भौंरे उनके हिलते ही भय से उड़ चलते हैं—दोनों ही प्रकार कहा जा सकता है) उन फूलों से पराग उड़ उड़ कर चारों ओर पड़ रहा है, यह शोभा कही नहीं जाती—क्योंकि

"देखत बनैहे कछु कहत बनै न नैक"—की बात है। (उसी वृन्दावन के निकट) प्रेम-रस से भरी हुई गहरी श्रीयमुना जी नित्य ही बहती हैं। उनके दोनों किनारों पर मणि-जटित मंदिर (घर) बने हैं, जिनकी शोभा लहरों पर अद्भुत हो जाती है।

नोटः—अब वृन्दावन का वर्णन बन्दकर यहाँ से नन्द जी क्रमशः सब वन की वृक्षावली को देखते-देखते यमुना-तीर पर पहुँचते हैं। वन का वर्णन करते समय कवि ने शृंगार रसोत्पत्ति या तदुद्रेक वहाँ की गुलाब-पंक्ति, रस-बिन्दु-वृष्टि आदि से अच्छा करा दिया है और इस प्रकार अग्रिम संभोग-शृंगार के लिये सुन्दर साज सजा दिया है, बुनियाद पक्की कर दी है—अब पाठकों का मन स्वभावतः ही शृंगार की ओर आकृष्ट हो झुक-रुक गया है—यही करना अभीष्ट था।

तहँ इक मनिमय सिंह-पीठ सोभित सुन्दर अति,
तापर षोड़श-दल-सरोज अद्भुत चक्राकृति।
मधु-कमनीय कर्णिका सब सुख-कन्दर सुन्दर,
तहँ राजत ब्रज-राज कुँवरवर रसिक-पुरन्दर ॥२०॥

शब्दार्थ :—मंदिर = मंदिर—मठ, घर, सिंह-पीठ = सिंहासन या सिंहपृष्ट सा आसन। चक्राकृति = गोल, कर्णिका—कमल का मध्यभाग—जहां कमल-गट्टे होते हैं। कन्दर = कंदरा, पुरन्दर = इंद्र।

भावार्थ :—गहरी यमुना जी के किनारे जहाँ बहुत से मणि-मंदिर हैं, एक मणि-जटित सिंहासन है, जिसमें एक सोलह-दल का कमल कमनीय कर्णिका के साथ बना है, उसी पर श्रीकृष्ण जी सुशोभित हैं।

अर्थ :—वहीं एक मणिमय सुन्दर सिंहासन भी शोभायमान है, उस सिंहासन पर एक चक्र के आकार का अर्थात् गोल अद्भुत

सोलह पत्रों का कमल बना है। उसके बीच में मधुपों के लिए कमनीय सुख की कन्दरा के समान सुन्दर कर्णिका बनी है, उसी पर रसिकेन्द्र कुमार व्रजराज श्रीकृष्ण जी विराजमान हैं।

नोट :—यहाँ यमुना जी को प्रेम-भरी कहा गया है न कि भक्ति भरी-यह इसी लिये कि उसमें जल-क्रीड़ा जो प्रणय-क्रीड़ा है, हुई है तथा आगे प्रेमरस-पूर्ण रासलीला का ही वर्णन है, जिसके लिये प्रेम-रसोत्पादक सब सामग्री तैयार हो चुकी है, अतः अब प्रेम शब्द से उसकी स्पष्ट सूचना देना ठीक है, क्योंकि प्रेम गुप्त नहीं रहता। गोपियों ने भी प्रेम को प्रचार प्रचार कर गाया-फैलाया है—यही भाव यहाँ व्यंजित है। यमुना जी तो प्रेम-रसाकुला और गंगा जी श्रद्धा-भक्ति-युक्ता कही गई हैं। अब कृष्ण का वर्णन सुनिये—

निकर-विभाकर-दुति मेटत सुभ कौस्तुभमनि अस,
हरि के उर पर रुचिर निविड़ लागत उर पति जस।
मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छवि ताकी,
अखिल-अण्ड-व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी॥२१॥

शब्दार्थ :—विभाकर (सूर्य या चंद्र—यहाँ चन्द्र का अर्थ उचित है, क्योंकि विभावरी रात्रि को कहते हैं, अतः विभाकर चन्द्र को कहना अधिक उपयुक्त है, फिर मणि शीतल होती है, अतः उसे चन्द्र से उपमित करना ही उचित जँचता है) निविड़=घना (अंधकार)। श्रीकृष्ण के हृदय पर एक पदाकार (भृगुपद-प्रहार के कारण उत्पन्न हुआ पद-चिन्ह) गहरा चिन्ह है, अतः वहाँ स्वभावतः घनी श्यामलता होनी चाहिये। अंड=ब्रह्मांड, आभा-प्रतिभा, कांति, ज्योति- ब्रह्म को ज्योति-स्वरूप माना गया है। अतः कवि यह भाव लेकर कृष्ण पर आरोपित करता है। उर—हृदय, उड़, तारा।

भावार्थ :—कृष्ण के हृदय पर अपूर्व कान्तिमयी शुभ कौस्तुभ मणि है तथा उनके मुख-मंडल पर असीम आभा है।

अर्थ :—श्रीकृष्ण के हृदय पर सूर्य-समूह की प्रतिभा को भी मिटाने वाली शुभ कौस्तुभ मणि ऐसी शोभित है मानो उनके हृदय की घनी कृष्णता (श्यामलता-अँधियारी) में चन्द्रमा हो। श्रीकृष्ण जी का रूप बड़ा ही अनूप है, उसकी शोभा कही नहीं जाती, क्योंकि उसमें अनन्त या असीम प्रतिभा है जो ब्रह्मांड्व्यापी है, वह तेजोमय ज्योति-स्वरूप भी उसकी ही आभा से है।

नोट :—मोहन शब्द फिर शृंगार-सूचक तथा प्रेमोत्पादक है। प्रथम भगवान के हृदय का ही दर्शन कवि करता है, क्योंकि वहीं तो रस है–काव्य-भाव भवन है–वही प्रधान है–तथा वहाँ कान्तिमान कौस्तुभ मणि है, जिसके प्रकाश से वे भी प्रथम उसी ओर आकृष्ट हो गये हैं। तदनन्तर वह रूप-दर्शन करते हैं, वहाँ भी असीम प्रतिभा है।

परमातम परब्रह्म सबनकें अन्तरजामी,
नारायन, भगवान धर्म्मकर सबके स्वामी।
बाल-कुमर पौगंड धर्म्मरुचि लिये ललित तन,
धर्मी नित्य किसोर कान्ह मोहत सबको मन ॥२२॥

शब्दार्थ :—धर्मकर = धर्म करने वाले, धर्म ही हैं हाथ जिसके। कुमार = ५ वर्ष से १० वर्ष तक की, तथा पौगंड = १० वर्ष से १६ वर्ष तक की, किशोर १६ वर्ष से २५ वर्ष तक की अवस्थायें हैं।

भावार्थ :—धर्म-स्वरूप पर-ब्रह्म अन्तरयामी होकर भगवान कृष्ण सब के स्वामी हैं और सुन्दर बाल, कुमार, पौगंड और किशोर अवस्थाओं में रह कर नित्य सब के मन को मोहते हैं।

स्थान पर विशेष बैगुवी विमननागवी विरति रहती है। उसमें सिकता है रसिकता नहीं। कृष्ण-भक्त हरि के सौंदर्य-शृंगार-सुधा-माधुरी के प्यासे थे, वे उनके प्रेम-नेम के प्रेमी-नेमी थे। इसी से नन्द जी यहाँ "धर्मकर" तथा "धर्म-रुचि" पद रखकर दिखलाते हैं कि :—"यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानम धर्मस्य आत्मानं स्रजाम्यहम्।"—

कृष्णावतार का कारण ही यही है - शृंगार के साथ धर्म का रखना यों ठीक है। "नित्य किशोर" पद से प्रगट है कि भगवान और देवता नित्य किशोर हैं—वे निर्जर तथा अजर हैं—"अमरा निर्जरा: देवा:"—अमर कोष। "मोहन" पद से शृङ्गार का प्राधान्य स्पष्ट है, क्योंकि कृष्ण का मोहन रूप ही अभीष्ट होता है। अत: आगे उसका स्वल्प आंगिक वर्णन है, शिख-नख-रूप में, न कि नख-शिख-रूप में—रूप से चलकर गले पर आते हैं।

गल मोतिन की माल ललित वनमाल धरे पिय,
मन्द, मधुर हरि पीतवसन फरकत खरकत हिय।
अस अदभुत गोपाल लाल सब काल बसत जहँ,
याही तैं वैकुण्ठ-विभव कुण्ठित लागै तहँ ॥२३॥

शब्दार्थ—विभव—वैभव, ऐश्वर्य।

टिप्पणी :—"पिय" शब्द से यह भाव झलकता है कि नन्द जी गोपी की अवस्था में होकर या उनका ही ध्यान रखकर उन्हीं की भावना से कृष्ण को पति के रूप में देखते हैं तथा *माधुर्य भाव* का उद्रेक करते हैं। 'खरकत हिये' से प्रेमोन्मत्तता, मुग्धता तथा विमोहित दशा को व्यंजित करते हैं। लाल शब्द रसीला तथा प्रेमपूर्ण पद है, यह भी उसी भाव की पुष्टि के लिये रखा गया है।

भावार्थ :—गले में मोतियों की माला तथा वन-माला

शोभित है, पीतम्बर शरीर में विराजमान है। वृन्दावन स्वर्ग के नन्दन-विपिन से भी अधिक सुन्दर इसीलिये है कि वहाँ सदा ऐसे अनूप रूपधारी कृष्ण रहते हैं।

अर्थ :—गले में मोतियों की ललित माला तथा वनमाला धारण किये हैं। मंद मधुर (मुसकान से) मुख से हरि शोभित हैं, उनका पीताम्बर फड़फड़ा रहा है (वायु की गति के कारण) अतः वह (प्रेमियों या प्रेमिकाओं के) हृदय में खटक रहा है। ऐसे अनुपम गोपाल लाल जहाँ सब काल रहते हैं, अतः वहाँ वैकुण्ठ का वैभव कुंठित ही लगता है।

जदपि सहज माधुरी विपिन सब दिन सुखदाई,
तदपि रंगीली सरद समै मिल अति छवि छाई।
ज्यौं अमोल नग जगमगाय सुन्दर जड़ाय सँग,
रूपवन्त, गुणवन्त बहुरि भूषन-भूषित-अँग ॥२४॥

शब्दार्थ :—कुंठित—गुठिलाया हुआ, अर्थात् रद्दी, भद्दा।

भावार्थ—वन शरद ऋतु की शालिमा से और भी सुषमा-समा से रमाजता था।

अर्थ :—यद्यपि वन में सुख देने वाली माधुरी स्वभावतः सदा विराजती रहती है, तथापि शरद ऋतु की रंगीली रुचिरता से मिलकर वह और भी छविमयी हो गई है। जिस प्रकार अमूल्य नगीना सुन्दर जड़ाव (गहना जिसमें जडाव का काम रहता है) के साथ में तथा जैसे रूप और गुण से युक्त शरीर भूषणों से विभूषित हो शोभा देता है, वैसे ही विपिन भी शोभायमान था।

नोट—कृष्ण का सूक्ष्म वर्णन करके अब फिर रास-वर्णन के पूर्व स्पष्टार्थ, तथा रासोद्रेकार्थ नन्द जी रास के समय तथा

परिस्थिति, स्थानादि का सूक्ष्म किन्तु मर्मस्पर्शी और भाव-रसा-पूरित गंभीर वर्णन दे रहे हैं। यही है काव्य-कला-पूर्ण-वर्णन-चातुरी, एवं यही है रस-भाव की मंजु माधुरी। चंद्र-चंद्रिका छवि-छटा से छिति पर छिटक रही है—विपिन तो सौंदर्यागार है, अब उसमें दूनी-चौगुनी सुन्दरता तथा रसवत्ता की महत्ता-सत्ता आ विराजी है।

रजनी-मुख सुख देखि ललित प्रफुलित जु मालती,
ज्यौं नवजोबन पाय लसत गुनवती बालती।
छवि सौं फूले फूल अवर अस लगी लुनाई,
मनहु सरद की छपा छवीली विहसन आई ॥२५॥

शब्दार्थ—रजनी-मुख--चंद्रमा, निशा प्रारम्भ, प्रफुलित—प्रफुल्लित,—फूली हुई, प्रसन्न, छपा—क्षपा, रात्रि, छवीली = छविमयी, नायिका।

अर्थ—चंद्र-मुख के सुख को देख कर (विकाश-प्रकाश को पाकर) सुन्दर मालती (चमेली) इस प्रकार प्रफुल्लित (फूल उठी, प्रसन्न हो उठी) हुई है, जैसे नवयोवन (के विकाश को) को पाकर गुणवती मुग्धा (बाला) नायिका विलसित हो उठती है। सुन्दरता के साथ सुमन फूले हुये हैं और उनमें ऐसा लावण्य आ गया है मानो छविमयी शारदीरात्रि साकार हो हँसने आई हो (या हंस रही हो)।

नोट—प्रत्येक पद शृंगार-रस का पोषक है, उपमायें तथा उत्प्रेक्षायें भी संयोग-शृंगार-पोषिणी हैं। नवयोवना, गुणवती बालायें या मुग्धायें प्रफुल्लित मालती के रूप में तथा छवीली शारदी निशा के रूप में विहँसती हुई कृष्ण के मुख-चन्द्र का पीयूष लेने आ गई हैं। आगे रास में आने वाली गोपियों का सुन्दर आभास इस सालंकारिक भावव्यंजना से दिया गया है। यही

है कवि-कौशल तथा यही है अलंकारों की भावात्मक मार्मिक सार्थकता, यही है रसोद्रेक, भावजाग्रति, मनोवृत्ति की रागात्मिकावृत्ति की आकर्षिणी उत्पत्ति। यह शरद-वर्णन भागवत और सूर में भी है।

ताही छिन उडुराज उदित रसरास-सहायक,
कुमकुम-मंडित प्रिया वदन जनु नागर नायक।
कोमल-किरनन-अरुन मनौ वन व्याप रही यौं,
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ घुरि रह्यो गुलाल ज्यौं॥२८॥

शब्दार्थ—छिन—क्षण, उडराज—उडुपेन्द्र, चन्द्र, कुमकुम—सिंदूर, श्री या रोली, अरुण—अरुणिमा, (भाव वाचक संज्ञा के स्थान पर गुणवाचक विशेषण का प्रयोग देखो)

भावार्थ—रसोत्पादक चन्द्रोदय है, उसकी अरुणिमा विपिन में व्याप्त हो रही है।

अर्थ—उसी समय रास-रस में सहायता करने वाले उडुपेन्द्र निशानाथ भी यों उदित हो गये; जैसे कुंकुम से प्रिया का मुख मंडित कर चतुर नायक प्रगट हो जाता है। मंजुल मयंक की मृदुल किरणों की अरुणिमा वन में इस प्रकार व्याप्त हो गई, मानो कामदेव ने फाग खेला हो और उस गुलाल की लाल रज चारो ओर बिखर बिखर कर निखर गई हो।

नोट—प्रकृति का निरूपण क्या ही सुन्दर स्वाभाविक ढंग तथा हृदय-पक्ष की प्रधानता से सजा हुआ है, पहिली उत्प्रेक्षा का आधार भागवत की उत्प्रेक्षा में है, परन्तु नन्द जी ने उसे अपने साँचे में ढाल कर उस पर मौलिकता की छाप लगा दी है। दोनों उत्प्रेक्षायें शृंगार के रस एवं भाव से भरी-पूरी है। नायिक-नायिका का सप्रेम सम्मिलन अग्रिम प्रबंध की पूर्व सूचना के रूप

स्फटक-छटासी किरन कुञ्ज-रंध्रन जब आई,
मानहु विपन वितान सुदेश तनाव तनाई।
मन्द मन्द चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई,
झलकत है जनु रमा-रमण-पिय कौतुक आई ॥२७॥

शब्दार्थ—स्फटिक – बिल्लौरी पत्थर, उज्वल-धवल पत्थर रंध्रन—छिद्रों—छेदों, पत्तियों के मध्यगत छिद्र, वितान, शमियाना, तनाव—तानने वाली रस्सियाँ या डोर, झलकत—झाँकता है।

भावार्थ—पत्तियों के रंधों से चन्द्र-किरणें प्रविष्ट हो शोभायमान हैं।

अर्थ– उज्वल किरणें जब कुंजों में (पत्तियों के मध्यगत) छिद्रों से प्रविष्ट होकर आईं तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे अच्छे रम्यस्थान के ऊपर तने हुये आकाश रूपी शामियाने की रश्मियाँ या डोरे हों। चन्द्रमा मंद मंद गति से चलता हुआ शोभायमान है, ऐसा ज्ञात होता है मानो रमा-रमण (श्री कृष्ण और राधा) के प्रिय कौतुक को झाँकने आता है।

नोट–प्राकृतिक छटा का रस-भाव-पूर्ण सालंकारिक वर्णन है। "रमा-रमण-प्रिय कौतुक" पद से राधा-कृष्ण की आगामी प्रिय लीला-क्रीड़ा का सुन्दर पूर्व परिचय सांकेतिक रूप में दिया गया है। राधा-कृष्ण-कौतुक न रख कर सहसा आगे के वर्ण्य को न उठाना चाहिये, बस उसका प्रतिबिम्ब देना ही पर्याप्त और उपयुक्त है—राधाकृष्ण, रमारमण प्रिय या श्री-श्रीपति के अवतार ही हैं। चन्द्र की मंद स्वाभाविक गति उत्प्रेक्षा से द्वारा सार्थक की गयी है—चंद्र मन्द चलता है क्योंकि वेग से चलने पर वह रमा-रमण-प्रिय कौतुक न देख सकेगा, यहाँ अलंकारों की भावात्मक गूढ़ता तथा सार्थकता स्तुत्य है।

प्राक्कथन—अब यहाँ से वास्तविक: रासपंचाध्यायी या रासलीला-का प्रारम्भ होता है—यहाँ तक तो भूमिका समझिये—जो बड़े मार्के की अनोखी-चोखी है। रास का कैसा गंभीर, गूढ़ तथा अप्रगट रूप में प्रगट उल्लेख किया गया है। अब प्रारम्भ में मुरली आती है यही, तो अजत्र गजब करने-वाली है, यही तो गोपियों को मुग्ध कर खींच लावेगी, यह उस ब्रह्म की टेर है, जिसके द्वारा वह अपने प्रेमी भक्तों की आत्माओं को गोपियों के रूप में बुलाता है और उन्हें अपने सम्मिलन का आनंद देता है। आइये अब इसका वर्णन सुनिये—

मुख्य रासलीला और मुरली

तब लीनी करकमल जोगमाया सी मुरली,
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली
जाकी धुनि तैं निगम अगम प्रगटित बड़ नागर,
नादब्रह्म की जननि मोहनी सब सुख-सागर

शब्दार्थ :—जु—जो, रली—आपूरित, निमग्न, ज
जान या आत्मा, (जान पाठ होने पर) जननि या उत्प
वाली, नादब्रह्म—शब्द-ब्रह्म।

भावार्थ :—असम्भव को भी सम्भव करने वाली
की समानता वाली वेद, शास्त्र तथा नाद ब्रह्म को उ
वाली, अधरों के स्वरों से आपूरित मोहिनी—मुरली
राज कृष्ण ने उठाया।

अर्थ :—तब (ऐसे सुन्दर सुहावने समय
स्थान में) श्रीकृष्ण भगवान ने वह मुरली
माया के समान न घटने वाली (न होने वाली
घटनाओं या व्यापारों को भी घटित करने में
अधरों के सुरों या राग-ध्वनियों से रली हुई य

स्फटक-छटासी किरन कुञ्ज-रंध्रन जब आई,
मानहु विपन विताान सुदेश तनाव तनाई।
मन्द मन्द चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई,
झलकत है जनु रमा-रमण-पिय कौतुक आई ॥२७॥

शब्दार्थ—स्फटिक—बिल्लौरी पत्थर, उज्वल-धवल पत्थर रंध्रन—छिद्रों—छेदों, पत्तियों के मध्यगत छिद्र, वितरान, शामियाना, तनाव—तानने वाली रस्सियाँ या डोर, झलकत—झाँकता है।

भावार्थ—पत्तियों के रंधों से चन्द्र-किरणें प्रविष्ट हो शोभायमान हैं।

अर्थ—उज्वल किरणें जब कुंजों में (पत्तियों के मध्यगत) छिद्रों से प्रविष्ट होकर आईं तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे अच्छे रम्यस्थान के ऊपर तने हुये आकाश रूपी शामियाने की रश्मियाँ या डोरे हों। चन्द्रमा मंद मंद गति से चलता हुआ शोभायमान है, ऐसा ज्ञात होता है मानो रमा-रमण (श्री कृष्ण और राधा) के प्रिय कौतुक को झाँकने आता है।

नोट—प्राकृतिक छटा का रस-भाव-पूर्ण सालंकारिक वर्णन है। "रमा-रमण-प्रिय कौतुक" पद से राधा-कृष्ण की आगामी प्रिय लीला-क्रीड़ा का सुन्दर पूर्व परिचय सांकेतिक रूप में दिया गया है। राधा-कृष्ण-कौतुक न रख कर सहसा आगे के वर्ण्य को न उठाना चाहिये, बस उसका प्रतिबिम्ब देना ही प्रर्याप्त और उपयुक्त है—राधाकृष्ण, रमारमण प्रिय या श्री-श्रीपति के अवतार ही हैं। चन्द्र की मंद स्वाभाविक गति उत्प्रेक्षा से द्वारा सार्थक की गयी है—चंद्र मन्द चलता है क्योंकि वेग से चलने पर वह रमा-रमण-प्रिय कौतुक न देख सकेगा, यहाँ अलंकारों की भावात्मक गूढ़ता तथा सार्थकता स्तुत्य है।

प्राक्कथन—अब यहाँ से वास्तविकः रासपंचाध्यायी या रासलीला-का प्रारम्भ होता है—यहाँ तक तो भूमिका समझिये—जो बड़े मार्के की अनोखी-चोखी है। रास का कैसा गंभीर, गूढ़ तथा अप्रगट रूप में प्रगट उल्लेख किया गया है। अब प्रारम्भ में मुरली आती है यही, तो अजब गजब करने-वाली है, यही तो गोपियों को मुग्ध कर खींच लावेगी, यह उस ब्रह्म की टेर है, जिसके द्वारा वह अपने प्रेमी भक्तों की आत्माओं को गोपियों के रूप में बुलाता है और उन्हें अपने सम्मिलन का आनंद देता है। आइये अब इसका वर्णन सुनिये—

मुख्य रासलीला और मुरली

तब लीनी करकमल जोगमाया सी मुरली,
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली।
जाकी धुनि तैं निगम अगम प्रगटित बड़ नागर,
नादब्रह्म की जननि मोहनी सब सुख-सागर॥

शब्दार्थ :—जु—जो, रली—आपूरित, निमग्न, जनी जान या आत्मा, (जान पाठ होने पर) जननि या उत्पन्न वाली, नादब्रह्म—शब्द-ब्रह्म।

भावार्थ :—असम्भव को भी सम्भव करने वाली यो की समानता वाली वेद, शास्त्र तथा नाद ब्रह्म को उत्प वाली, अधरों के स्वरों से आपूरित मोहिनी—मुरली राज कृष्ण ने उठाया।

अर्थ :—तब (ऐसे सुन्दर सुहावने समय स्थान में) श्रीकृष्ण भगवान ने वह मुरली ली माया के समान न घटने वाली (न होने वाली, घटनाओं या व्यापारों को भी घटित करने में अधरों के सुरों या राग-ध्वनियों से रली हुई या

स्फटक-छटासी किरन कुञ्ज-रंध्रन जब आई,
मानहु विपन वितान सुदेश तनाव तनाई।
मन्द मन्द चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई,
झलकत है जनु रमा-रमण-पिय कौतुक आई ॥२७॥

शब्दार्थ—स्फटिक—बिल्लौरी पत्थर, उज्वल-धवल पत्थर रंध्रन—छिद्रों—छेदों, पत्तियों के मध्यगत छिद्र, वितरान, शमियाना, तनाव—तानने वाली रस्सियाँ या डोर, झलकत—झाँकता है।

भावार्थ—पत्तियों के रंधों से चन्द्र-किरणें प्रविष्ट हो शोभायमान हैं।

अर्थ—उज्वल किरणें जब कुंजों में (पत्तियों के मध्यगत) छिद्रों से प्रविष्ट होकर आईं तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे अच्छे रम्यस्थान के ऊपर तने हुये आकाश रूपी शामियाने की रश्मियाँ या डोरे हों। चन्द्रमा मंद मंद गति से चलता हुआ शोभायमान है, ऐसा ज्ञात होता है मानो रमा-रमण (श्री कृष्ण और राधा) के प्रिय कौतुक को झाँकने आता है।

नोट—प्राकृतिक छटा का रस-भाव-पूर्ण सालंकारिक वर्णन है। "रमा-रमण-प्रिय कौतुक" पद से राधा-कृष्ण की आगामी प्रिय लीला-क्रीड़ा का सुन्दर पूर्व परिचय सांकेतिक रूप में दिया गया है। राधा-कृष्ण-कौतुक न रख कर सहसा आगे के वर्ण्य को न उठाना चाहिये, बस उसका प्रतिबिम्ब देना ही प्रर्याप्त और उपयुक्त है—राधाकृष्ण, रमारमण प्रिय या श्री-श्रीपति के अवतार ही हैं। चन्द्र की मंद स्वाभाविक गति उत्प्रेक्षा से द्वारा सार्थक की गयी है—चंद्र मन्द चलता है क्योंकि वेग से चलने पर वह रमा-रमण-प्रिय कौतुक न देख सकेगा, यहाँ अलंकारों की भावात्मक गूढ़ता तथा सार्थकता स्तुत्य है।

प्राक्कथन—अब यहाँ से वास्तविक: रासपंचाध्यायी या रासलीला-का प्रारम्भ होता है—यहाँ तक तो भूमिका समझिये—जो बड़े मार्के की अनोखी-चोखी है। रास का कैसा गंभीर, गूढ़ तथा अप्रगट रूप में प्रगट उल्लेख किया गया है। अब प्रारम्भ में मुरली आती है यही, तो अजब गजब करने-वाली है, यही तो गोपियों को मुग्ध कर खींच लावेगी, यह उस ब्रह्म की टेर है, जिसके-द्वारा वह अपने प्रेमी भक्तों की आत्माओं को गोपियों के रूप में बुलाता है और उन्हें अपने सम्मिलन का आनंद देता है। आइये अब इसका वर्णन सुनिये—

मुख्य रासलीला और मुरली

तब लीनी करकमल जोगमाया सी मुरली,
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली।
जाकी धुनि तैं निगम अगम प्रगटित बड़ नागर,
नादब्रह्म की जननि मोहनी सब सुख-सागर ॥२८॥

शब्दार्थ :—जु—जो, रली—आपूरित, निमग्न, जननि—जान या आत्मा, (जान पाठ होने पर) जननि या उत्पन्न करने वाली, नादब्रह्म—शब्द-ब्रह्म।

भावार्थ :—असम्भव को भी सम्भव करने वाली योग-माया की समानता वाली वेद, शास्त्र तथा नाद ब्रह्म को उत्पन्न करने वाली, अधरों के स्वरों से आपूरित मोहिनी—मुरली को महा-राज कृष्ण ने उठाया।

अर्थ :—तब (ऐसे सुन्दर सुहावने समय एवं रम्य स्थान में) श्रीकृष्ण भगवान ने वह मुरली ली जो योग-माया के समान न घटने वाली (न होने वाली, असम्भव) घटनाओं या व्यापारों को भी घटित करने में चतुर, और अधरों के सुरों या राग-ध्वनियों से रली हुई या आपूरित है।

जिस मुरली की शब्द-ध्वनि से वेद-शास्त्र के गांभीर्य-पूर्ण सिद्धान्त प्रगट हुये हैं, जो नाद-ब्रह्म की आत्मा या जननी और मनमोहिनी तथा सब सुखों की सागर है।

नोट :—यहाँ शिष्टपद "योगमाया" के द्वारा दो भाव व्यंजित हैं १—योगमाया अर्थात भगवान की योग-शक्ति (ज्ञान-योग के पक्ष में) २—संयोग—प्रेमी-प्रेमिका या भक्त-भगवान या आत्मा-परमात्मा के सुन्दर संयोग की माया (भक्ति तथा शृङ्गार के पक्ष में) यदि माया न हो तो रसीला संयोग-शृंगार ही कैसा, साथ ही भगवान का दूसरा योगेश्वर और मायापति, ज्ञानेश, रूप भी सूचित है। इससे कृष्ण में दोनों की महत्ता-सत्ता दिखाई गई है—भगवान, सगुण-निर्गुण, सविकार-निर्विकार, रागी-विरागी, माया-रहित, माया-सहित, अद्भुत लीला करने वाले, शृङ्गार और शान्त के साकार और निराकार अवतार हैं, अधरों के स्वरों से आपूरित मुरली की प्रवृत्ति का सच्चा चित्रण है। मुरली में रसज्ञा गिरा से सरसता और माधुरी के साथ में ज्ञान भी आता है और जिससे वेदगान की ज्ञान के साथ उत्पत्ति होती है। ब्रह्म-रूप नाद श्री हरिमुख से मुरली के द्वारा समस्त ब्रह्मांड-मंडल में व्याप्त हो जाता है।

ज्ञान ही में मधुर मोहिनी और आनंद की सुन्दर सरिता है। इसे योग-माया-रूपी मुरली लेकर निखारती, बिखराती है। यहाँ ज्ञान-योग तथा भक्ति-प्रेम-योग का मर्म काव्य-कौशल के साथ रक्खा गया है, ज्ञान-योग और भक्ति प्रेम भगवान में अपृथक रूप से हैं। ये दोनों विरोधी नहीं, एक ही ब्रह्म से आते हैं। योगमाया से ऋद्धि, सिद्धि और नवनिधि की भी प्राप्ति होती है, जिनके द्वारा असम्भव और अद्भुत कार्य भी होते हैं। गोपियाँ मुरली से प्रगट ज्ञान को नहीं ले सकतीं क्योंकि वह उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं, अतः वे राग-रस युक्त

प्रेम के मर्म को ग्रहण करती हैं—उसी में उन्हें सुख मिलता है, वे ज्ञान-योग को मानती हैं अवश्य, परन्तु उसे अपने लिये कष्ट-साध्य समझ उपयुक्त नहीं मानतीं।

पुनि मोहन सों मिली कछू कल गान कियौ अस,
वाम-विलोचन बालत्रियन मनहरन होय जस।
मोहन मुरलीनाद स्रवन कीनौ सब किनहूं,
यथा यथा विधि रूप तथा विधि परस्यौ तिनहूं ॥२६॥

शब्दार्थ—मिली—के साथ, वाम-विलोचन-वक्रनैनी, बाल-त्रियन—मुग्धा नायिकायें, स्रवन कीनौ—सुना—कर्ण-गोचरित किया, किनहूँ—किसी ने भी (देखो हूँ का ने भी के अर्थ में प्रयोग) परस्यौ—समझा या पाया, स्पर्श किया

भावार्थ—मोहन की मुरली बजी और उससे हृदयहारी वह तान निकलकर चारो ओर फैल गई, जिससे मुग्धा नायिकायें मुग्ध या मोहित हो जाती हैं। गोपियों ने यथारुचि उसे सुना और समझा।

अर्थ—वह मुरली श्रीकृष्ण से मिल गई और उनके साथ मिलकर उसने (अनुकूल समय, देश तथा परिस्थिति को देखकर या पाकर) कुछ ऐसा कल-गान किया, जिससे वक्रनयनी मुग्धा गोपियों के मन हरे जा सकें, वे मोहित हो सकें। मोहन की मुरली का शब्द सभी गोपियों ने (गोपों ने भी ?) सुना और जिसका जैसा रूप या भाव था उसने उसको वैसा ही समझा और पाया।

नोट—मुरली ने रासोपयोगी मुग्धाओं को वशीकृत करने वाले कृष्णाभीष्ट राग गाये, "यथा यथा विधि......तिनहूँ"—यह पंक्ति तो तुलसी की "जा की रही भावना जैसी"......" पंक्ति का ध्यान दिलाती है। वस्तुतः निजभावना का ही तो सब खेल है—

जिस मुरली की शब्द-ध्वनि से वेद-शास्त्र के गांभीर्य-पूर्ण सिद्धान्त प्रगट हुये हैं, जो नाद-ब्रह्म की आत्मा या जननी और मनमोहिनी तथा सब सुखों की सागर है।

नोट :—यहाँ शिष्टपद "योगमाया" के द्वारा दो भाव व्यंजित हैं १—योगमाया अर्थात भगवान की योग-शक्ति (ज्ञान-योग के पक्ष में) २—संयोग—प्रेमी-प्रेमिका या भक्त-भगवान या आत्मा-परमात्मा के सुन्दर संयोग की माया (भक्ति तथा शृङ्गार के पक्ष में) यदि माया न हो तो रसीला संयोग-शृंगार ही कैसा, साथ ही भगवान का दूसरा योगेश्वर और मायापति, ज्ञानेश, रूप भी सूचित है। इससे कृष्ण में दोनों की महत्ता-सत्ता दिखाई गई है—भगवान, सगुण-निर्गुण, सविकार-निर्विकार, रागी-विरागी, माया-रहित, माया-सहित, अद्भुत लीला करने वाले, शृङ्गार और शान्त के साकार और निराकार अवतार हैं, अधरों के स्वरों से आपूरित मुरली की प्रवृत्ति का सच्चा चित्रण है। मुरली में रसज्ञा गिरा से सरसता और माधुरी के साथ में ज्ञान भी आता है और जिससे वेदगान की ज्ञान के साथ उत्पत्ति होती है। ब्रह्म-रूप नाद श्री हरिमुख से मुरली के द्वारा समस्त ब्रह्मांड-मंडल में व्याप्त हो जाता है।

ज्ञान ही में मधुर मोहिनी और आनंद की सुन्दर सरिता है। इसे योग-माया-रूपी मुरली लेकर निखारती, बिखराती है। यहाँ ज्ञान-योग तथा भक्ति-प्रेम-योग का मर्म काव्य-कौशल के साथ रक्खा गया है, ज्ञान-योग और भक्ति प्रेम भगवान में अपृथक रूप से हैं। ये दोनों विरोधी नहीं, एक ही ब्रह्म से आते हैं। योगमाया से ऋद्धि, सिद्धि और नवनिधि की भी प्राप्ति होती है, जिनके द्वारा असम्भव और अद्भुत कार्य भी होते हैं। गोपियाँ मुरली से प्रगट ज्ञान को नहीं ले सकतीं क्योंकि वह उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं, अतः वे राग-रस युक्त

प्रेम के मर्म को ग्रहण करती हैं—उसी में उन्हें सुख मिलता है, वे ज्ञान-योग को मानती हैं अवश्य, परन्तु उसे अपने लिये कष्ट-साध्य समझ उपयुक्त नहीं मानतीं।

पुनि मोहन सों मिली कछू कल गान कियौ अस,
वाम-विलोचन वालत्रियन मनहरन होय जस।
मोहन मुरलीनाद स्रवन कीनौ सब किनहूं,
यथा यथा विधि रूप तथा विधि परस्यौ तिनहूं ॥२६॥

शब्दार्थ—मिली—के साथ, वाम-विलोचन-वक्रनैनी, वाल-त्रियन—मुग्धा नायिकायें, स्रवन कीनौ—सुना—कर्ण-गोचरित किया, किनहूँ—किसी ने भी (देखो हूँ का ने भी के अर्थ में प्रयोग) परस्यौ—समझा या पाया, स्पर्श किया

भावार्थ—मोहन की मुरली बजी और उससे हृदयहारी वह तान निकलकर चारो ओर फैल गई, जिससे मुग्धा नायिकायें मुग्ध या मोहित हो जाती हैं। गोपियों ने यथारुचि उसे सुना और समझा।

अर्थ—वह मुरली श्रीकृष्ण से मिल गई और उनके साथ मिलकर उसने (अनुकूल समय, देश तथा परिस्थिति को देखकर या पाकर) कुछ ऐसा कल-गान किया, जिससे वक्रनयनी मुग्धा गोपियों के मन हरे जा सकें, वे मोहित हो सकें। मोहन की मुरली का शब्द सभी गोपियों ने (गोपों ने भी ?) सुना और जिसका जैसा रूप या भाव था उसने उसको वैसा ही समझा और पाया।

नोट—मुरली ने रासोपयोगी मुग्धाओं को वशीकृत करने वाले कृष्णाभीष्ट राग गाये, "यथा यथा विधि......तिनहूँ"—यह पंक्ति तो तुलसी की "जा की रही भावना जैसी"......" पंक्ति का ध्यान दिलाती है। वस्तुतः निजभावना का ही तो सब खेल है—

"जेहि कर रहा जहाँ जस भावू ..... " ही मुख्य है। निराकार भगवान इसी से अनन्त रूपाकार हो हृदय में दीखने लगता है—"अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे" का मर्म यही है। भावना तथा प्रेम के द्वारा ही ईश्वर प्रत्यक्ष रूप में दीखता है, नहीं तो वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म निराकार, निर्विकार और निर्गुण रूप होकर कैसे दृष्टिगोचर हो सकता है—"प्रेम ते प्रगट होहिं भगवाना—। इस छोटी सी पंक्ति में बड़े गूढ़ सिद्धान्त हैं—

तरनि-किरन ज्यों मनि-पषान सबहिन कौ परसै,
सुरज कांति मनि बिना नहीं कहुँ पावक दरसै।
सुनत गीत ब्रजवधू चलीं धुनिकौ मारग गहि,
भवन, भीति द्रुम कुञ्जपुञ्ज कितहूँ अटकी नहि ॥२०॥

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य, सुरजकांति-मनि-आतशी शीशा, परसै—स्पर्श करती हैं, दरसै—दीखती है भीत—दीवाल, भय (यहाँ यही अर्थ प्रसंगिक तथा समीचीन जँचता है)

भावार्थ—गोपियों ने ज्योंही मुरली का शब्द सुना त्योंही उसी शब्द के सहारे, जहाँ से वह शब्द आ रहा था उसी ओर चल दीं और कहीं भी न अटकीं।

अर्थ—जैसे सूर्य की किरणें मणि,पत्थर आदि सभी का स्पर्श करती हैं परन्तु बिना सूर्य-कान्ति-मणि (आतशी शीशे) के कहीं भी अग्नि नहीं दीखती या उत्पन्न होती, वैसे ही (यद्यपि मुरली की ध्वनि सभी के कानों से प्रविष्ट हो हृदयों तक पहुँची परन्तु) प्रेमाग्नि और कहीं भी प्रगट न हुई, उत्पन्न हुई तो सूर्य-कान्तिमणि सरीखे गोपियों के ही हृदयों में। उस मुरली-ध्वनि को सुनकर सब ब्रज-वधुयें उसी के पथ का अनुसरण करती हुई जिधर से वह ध्वनि आ रही थी उसी ओर चलीं, और वे घर-(संसार से) दीवाल (अभय हो), वृक्षों, और कुंजों के समूहों में कहीं भी न अटकीं।

नोट—पहिली दो पंक्तियों में केवल उपमान से ही उपमेय का वोध कराया गया है, सुन्दर सालंकारिक संकेत तथा सूक्ष्म भाव है। वस्तुतः मुरली की तान सुनी सब ने, परन्तु प्रेमाग्नि गोपियों में ही जगी, उन्हीं के लिये तो मुरली वजी भी थीं, उन्हीं पर उसका प्रभाव डाला भी गया था, अतः उन्हीं पर पड़ा भी। स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं नित्यानुभवति भाव है। शब्द के आगे सुनते ही उसकी ओर लोग आते हैं। गोपियां कहीं नहीं अटकीं, सच्चे प्रेमी को अटक कहाँ?, सच्चे भक्त को भटक कहाँ?, फिर भगवान के मार्ग में, उसके आह्वान में। "सकल भूमि गोपाल की यामें अटक कहाँ।" जाके मन में अटक है सोई अटक रहा॥" अटक की भटक है। ईश्वराभिलापी चाहे उसे न भी पाये, परन्तु प्रभु को प्रभु का प्रिय अप्राप्य या अलभ्य नहीं— "लभेत श्रियं प्रार्थयितः न वा श्रियं, श्रियः दुरापः कथमीप्सितो भवेत्"—शाकुन्तला। रवि-रश्मियों तथा मुरली की ध्वानि-तरंगों की कैसी सादृश्य-मूलक तुलना है। दोनों ही एक प्रकार के पापाण-हृदय में भी ज्योति जगा देती हैं, संगीत से वस्तुतः प्रेम-ज्योति का प्रस्फुटन होता है।

नाद-अमृत कौ पन्थ रँगीलो सुच्छम भारी,
तेहि मग ब्रज-तिय चलीं आन कोउ नहिं अधिकारी।
सुद्ध - प्रेम - मय रूप पंचभूतनि तैं न्यारी,
तिन्हैं कहा कोउ कहै ज्योति सी जगत उज्यारी॥२१॥

शब्दार्थ—सुच्छम—सूक्ष्म, आन—दूसरा, उज्यारी—उज्वल।

भावार्थ—प्रकृति-विकार से रहित तथा शुद्ध प्रेम के सहित गोपियाँ उज्वल ज्योति सी जगमगाती हुई शब्दामृत (अमर शब्द) के सूक्ष्म और रँगीले मार्ग पर चलीं—वेही उसकी अधिकारिणी भी हैं।

अर्थ—अमर शब्द या शब्दामृत का मार्ग वड़ा ही रँगीला

और सूक्ष्म है, उसी मार्ग से व्रज-वनितायें चलीं और कोई दूसरा उसका अधिकारी नहीं। वे शुद्ध प्रेम की रूप या मूर्तियाँ हैं और पंच-भूतों या प्रकृति के तत्वों से परे हैं, वे उज्वल ज्योति के समान दीप्तमान लग रही हैं, उनको कोई क्या कहे (उनको कोई कैसे रोके, मना करे, या उनके विषयों में कोई क्या कहे—उनकी लीला अनिर्वचनीय है)।

नोट—प्रेम नितान्त शुद्ध और निर्मल हो, उसमें कलुषता न हो, तभी उसमें दिव्य ज्योति का प्रकाश होगा,—प्रेमी में ऐहिक विकार (वासनादि) न हों, मायामय प्रेम से पूर्ण आत्मा दिव्य ज्योति नहीं पाती, आत्मा तो ज्योति-स्वरूप परमात्मा का एक अंश ही है, अतः उसके वास्तविक स्वरूप में दिव्य ज्योति रहती है, वह विश्व-विकारों से दबी रहती है—ब्रह्म-ज्ञान-ध्यान और प्रेम-नेम में संलग्न आत्मा का आनंद अनिर्वचनीय है, आत्मा स्वयमेव कुछ नहीं कहती कि उसका ज्ञान औरों को हो सके, यही दशा प्रेम-पूर्ण प्रेमी की भी होती है। यही है—" थोरेहि मा सब कहौं बुझाई—गूढ़ ज्ञान लखि परै न काऊ "—तुलसी।

जे रुकि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर-बस,
पुन्य-पाप-प्रारब्ध-रच्यो तन नाहिं पच्यो रस।
परम दुसह श्रीकृष्ण-विरह-दुख व्याप्यौ जिन मैं,
कोटि बरस लगि नरक-भोग-अघ भुगते छिन मैं ॥३२॥

शब्दार्थ—गुनमय—प्राकृतिक गुण या विकार युक्त, छिन—क्षण। पाच्यो—पचा, लीन, व्याप्त।

भावार्थ—विकार-पूर्ण शरीर के कारण कुछ गोपियाँ घर में ही रुक रहीं, वे न जा सकीं, किन्तु उनको कृष्ण-विरह का दुःसह दुःख प्राप्त हुआ—उनके पाप-पुण्यकृत शरीर में प्रेम-रस का पूर्ण प्रादुर्भाव न हुआ था।

अर्थ—जो गोपियाँ गुणमय शरीर के वश में होकर (विकार-पूर्ण शरीर के लौकिक धर्म, और लोक-लज्जा के कारण) अर्थात् विकार-पूर्ण प्रकृति या माया के कारण—जिससे परे हुए या जिसे छोड़े बिना आत्मा - परमात्मा तथा प्रेमी - प्रेमपात्र का सम्बन्ध या संयोग नहीं होता—शुद्ध प्रेम नहीं जगमगाता—जैसा ऊपर कह चुके हैं—घर में रुक गईं और वहाँ न गईं जहाँ से श्रीकृष्ण की मुरली का शब्द आ रहा था, वे अत्यंत अधीर हो गईं, उनके प्रारब्धकृत पाप-पुण्य से रचित शरीर रस से—भक्ति या प्रेम-शृंगार-रस से—न पचाये गये थे। (क्योंकि यदि रस से आलिप्त होते तो वे भी उसी भक्ति-प्रेम-रस-स्रोत में बह चलतीं, पुण्य तो उनका यह था कि उन्होंने मानव-जीवन पाकर भगवान कृष्ण के संयोग का अवसर पाया था। पापोदय यह था कि ऐसा संयोग पाकर भी वे उससे लाभ न उठा सकीं और जीवन को सफल न कर सकीं। जिनके मन में श्रीकृष्ण की अत्यंत दुस्सह विरह-व्यथा व्याप्त थी, उन्होंने करोड़ों वर्षों तक नर्क के दुःख-ताप तथा पाप थोड़ी ही देर में भोग डाले।

नोट—प्रकृति-विकार-जन्य शरीर के वश में होने और सत्य प्रेम-रस से सिक्त न होने पर कोई भगवान को नहीं पा सकता, चाहे उसे उसका सुअवसर या संयोग भी क्यों न मिले, वह वहाँ जाने से रुक जाता है, वह घर या संसार की मोह-माया में ही फँसा रहता है, यही पुण्य-पाप का पचड़ा है—पुण्य-प्रभाव से ईश्वर की प्राप्ति का अवसर यदि मिला भी तो पाप-प्रभाव से वह खो गया, उससे जीवन का लाभ न उठाया जा सका। ऐसी आत्मा अवश्य ही प्रभु के वियोग का दुःख तथा पाप का फल भोगती है, वह पश्चात्ताप-ताप से तपती रहती है। यह दार्शनिक भाव किस सुन्दर रूप से शृंगार तथा प्रेम-रस के पटलों में अप्रगट रूप

से प्रगट रक्खे गये हैं। नन्ददास में यद्यपि कृष्ण-भक्ति थी, परन्तु सूर और विठ्ठलनाथ के शिष्यों तथा वल्लभानुयायियों की सी उन पर रामानुजानुयायी तथा रामानन्दी भक्तों के समान उपासना और ज्ञान-योग का भी प्रभाव अच्छा था—यह ऐसे छन्दों से स्पष्ट है, नन्ददास थे भी प्रथम रामानन्दी—जैसा उनकी जीवनी से प्रगट है। भागवंत और सूरदास के अनुसार केवल एक ही गोपी घर में रुक रही थी, परन्तु यहाँ नन्द जी ने कई गोपियों को रोक दिया है, क्योंकि बहुवचनान्त क्रिया और कर्ता दिये गये हैं।

पुनि रंचक धरि ध्यान पिया-परिरंभ दिय जब,
कोटि स्वर्ग-सुख-भोग छिनहिं मङ्गल कीनौ सब।
धातु-पात्र, पाषान परसि कञ्चन ह्वै सोहै,
नन्द-सुवन सौं परम प्रेम यह अचरज को है ॥३३॥

शब्दार्थ—परिरंभ—परिरंभण—आलिंगन, धातु—लोहा (जाति वाचक होकर भी यहाँ व्यक्तिवाचक के समान प्रयुक्त है क्योंकि अन्य धातुओं को छोड़ कर एक ही धातु लोहे को सूचित करता है) पाषाण—पारस पत्थर—यह प्रासंगिक सूच्य अर्थ है, (व्यक्ति-वाचक के स्थान पर जाति-वाचक का प्रयोग देखो, सब प्रकार के प्रस्तरों के अर्थ में न प्रयुक्त होकर केवल एक ही पारस के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है), को—कौन।

भावार्थ—विरहिणी गोपियों ने अपने ध्यान ही में कृष्णालिंगन के स्वर्गीय सुख का अनुभव कर लिया, यह आश्चर्य की बात भी नहीं है।

अर्थ—जब फिर उन वियोगिनियों और घर में रुकी हुई गोपियों ने तनिक ध्यान धर कर (अपने अन्दर हृदय में) प्रिय (कृष्ण) का परिरंभण किया (मन में ही उनके आलिंगन के

सुख की प्राप्ति कल्पना के द्वारा की) तब क्षण ही भर में उन्होंने करोड़ों स्वर्गीय सुखों का मंगल के साथ भोगास्वादन कर लिया। जब लोह-पात्र पारस पत्थर के स्पर्श से सुवर्ण होकर शोभित हो जाता है तब नन्द-नन्दन कृष्णजी में पूर्ण प्रेम करने से यदि स्वर्गीय सुख प्राप्त हो तो आश्चर्य ही क्या है ?

नोट :—इससे प्रगट है कि ध्यान के द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है-इससे योग-ध्यान की महत्ता स्पष्ट है, अपनी ही आत्मा में परमात्मा के संयोग का आनन्द प्राप्त हो सकता तथा होता है, इसीसे योगी आत्म-दर्शन कर ब्रह्म-दर्शनादि का रसास्वाद लेते हैं। अंतिम दो पंक्तियाँ बड़ी चतुरता से एक ओर तो भक्त-भगवान, (आत्मा-परमात्मा) के सम्मिलन तथा तज्जन्य सुख को और दूसरी ओर प्रेमी-प्रेमिका के संयोग या सम्मिलन के सुख को सूचित करती हैं। आगे गोपियाँ कृष्ण के साथ रमण कर आलिङ्गन, परीरंभण आदि का सुख प्राप्त करेंगी, उसकी यही भूमिका है, इससे उसकी गरिमा महिमा दिखाई तथा तदर्थ प्रोत्साहन तथा लालच दिया गया है, सुन्दर श्रीगणेश है।

ते पुनि तिहिं मग चलीं रँगीली तजि ग्रह-सङ्गम,
जनु पिंजरन तें छुटे छुटे नव प्रेम-विहङ्गम।
कोउ तरुनी गुनमय सरीर-रति-सहित चली टुकि,
मात, पिता, पति, बन्धु सबन रुकि नाहिं रहीं रुकि ॥३४॥

शब्दार्थ :—विहंगम—पक्षी, टुकि—टुक, तनिक रुकि—रोकने पर।

भावार्थ :—प्रेमाकुल तरुणियाँ पिंजड़े से छूटे हुये खगों की भाँति उसी ओर चल दीं जिधर से मुरली की ध्वनि आ रही थी, कुछ के मन में प्रकृति-जन्य विकार-मय शरीर के कारण रति-भाव भरा हुआ था, उन्होंने अपने माता, पितादि के क्रोध का कुछ भी ध्यान न किया और रोकने से रुक न सकीं।

अर्थ :—वे फिर गृह (घर के लोगों या कार्यों) का सम्बन्ध या साथ छोड़ कर उसी मार्ग (जिधर से मुरली का शब्द आ रहा था) से चलीं (उसी प्रकार) जैसे पक्षी (तोते आदि) नये प्रेम से पिंजड़ों से छूटकर उड़ चलते हैं। (यदि प्रेम को विहंगम के साथ लें तो प्रेम के पक्षी अर्थ होकर पूर्व प्रसंग में पूर्णतः घटित हो जायेगा, परन्तु उत्तर प्रसंग में प्रेम से पले या प्रेम से पोषित, या प्रेम किये गये पक्षी के अर्थ के ही द्वारा चरितार्थ हो सकेगा और यह खींचतान हो जायेगी। अतः हमने नये प्रेम से अर्थ लेकर प्रेम को पक्षी से पृथक कर दिया है, क्योंकि यह स्वाभाविक सा जान पड़ता है। पक्षी पिंजड़े से छूट कर वन के प्रति नवीन प्रेम रखकर उड़ते हैं, उनका प्राचीन प्रेम तो मर ही सा जाता है, हाँ स्मृति कुछ शेष रहती हो तो रहती हो)

कोई कोई तरुणियाँ तो विकार-युक्त शरीर के कारण रति-क्रा भाव रखती हुई थोड़ी देर में चल पड़ीं, वे माता, पिता, पति, बन्धु आदि के क्रोध के भय से नहीं रुकीं।

नोट : प्रेम शब्द पूर्व पंक्ति में शृंगार रस का द्योतक है न कि भक्ति का, इससे पवित्रता के साथ वैषयिकता सी भासती है, साथ ही "गुन-मय सरीर-रति-सहित" से तो भाव पूर्ण प्रगट हो जाता है, कुछ गोपियाँ केवल रति-भाव से ही भरी थीं, क्योंकि वे ऐहिक, शारीरिक या ऐंद्रिक विकार से बाध्य थीं। इससे स्पष्ट है कि नन्द दास ऐंद्रिक विषय-वासनादि को अच्छा नहीं मानते और योग को प्रधानता देते हैं- वे शुद्ध प्रेम के प्रेमी तो अधिक हैं भक्त कम। एक विशेष बात यहाँ और देखने और विचारने के योग्य है और वह यह है कि या तो गोप-गण कृष्ण को अवतार ही न मानते थे, तभी तो वे अपनी गोपियों को इस प्रकार कृष्ण के निकट जाने से रोकते थे, क्योंकि उन्हें लोक-लज्जा और मर्यादा का ध्यान था, वे गोपियों के ऐसे आचरण से कुपित होते थे,

या यदि मानते थे—जैसा कई स्थलों में भागवत तथा अन्य ग्रन्थों में दिखाया गया है, तो भी वे इस आचरण को निन्दास्पद तथा गर्हणीय मान कर रोकना चाहते थे, क्योंकि इससे दोनों पक्षों-कृष्ण-तथा गोपियों-में कलुषितता आती है। गोपियाँ उनके वचनों को ध्यान में नहीं लातीं। कृष्ण इतने योगीश्वर तथा आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम होकर यह सब कैसे कर सकते थे, कैसे उन्होंने किया या क्यों यह किया या यह सब माया थी या यह सब कथाएँ बाद को क्षेपक-रूप में अनार्यों या अन्य प्रमादिक पंडितों के द्वारा जोड़ दी गई हैं, आदि प्रश्न जटिल हैं, और सुलझते नहीं। कहा जाता है कि यह सब माया थी, गोपियों को उनके पति ही उनके प्रेमावेश तथा उनकी तन्मयता के कारण कृष्ण के रूप में दीखते थे, उन्हीं के साथ वे रमण करती थीं, यह समर्थन कुछ मनोवैज्ञानिक सत्यता-युक्त सा जँचता है, किन्तु कुछ संदेह भी रहता है। प्रत्येक कृष्ण-काव्यकार ने लोक-लज्जा या मर्यादा की अवहेलना गोपियों में दिखाई है, किन्तु किसी ने इसका स्पष्ट कारण नहीं दिया। कृष्ण ईश्वर के अवतार और गोपियाँ आत्मायें थीं, उनकी यह नर-लीला थी, अतः लोक-लज्जा या मर्यादा का विचार भी अनावश्यक है। दोनों का सम्मिलन शुद्ध, पवित्र होकर निन्दा-रहित है, उससे लोक-लज्जा और मान-मर्यादा का बन्धन नहीं टूटता। यह भक्ति-भगवान-सम्बन्ध लोक-पक्ष से पृथक और परे है, साथही उसके साथ भी है, क्योंकि बिना लौकिकता के सगुण साकारता से लोक-लीला कहाँ सम्भाव्य है, लौकिकता से अलौकिकता का सुन्दर स्पष्टीकरण है। यह शृंगार काव्य का भी परमोत्कृष्ट अंश है, नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका की पूर्ण प्रकृतियों और प्रेम का प्रदर्शक अध्ययन और विशद मार्मिक विवेचन है। इसमें धार्मिक और दार्शनिक भ का सुन्दर संमिश्रण है, इसमें लौकिक प्रेम और तत्व ज्ञान

मानव-प्रकृति की प्रेम-भावनाओं की सुन्दर व्याख्या है और सरस स्वाभाविक सत्य कल्पना है, जिसमें प्रेम-रसानुभूति की रोचक व्यंजना है।

सावन-सरिता रुकै न कीन्हेंहु कोटि जतन अनि,
कृष्ण हरे जिनके मन ते क्यों रुकैं अगम गति।
चलत अधिक छवि फवित स्रवण मनि कुंडल झलकै,
सङ्कित-लोचन चपल-ललित-जुत बिलुलित अलकैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ :—रस-पूर्ण सावन-सरिता जैसे वेग की तीव्रता के कारण नहीं रुकती, वैसे ही कृष्ण के द्वारा मोहित किये हुये मन अगमगति पाकर नहीं रुके। गोपियों के कुंडल कानों में, चलने के कारण, हिलते हैं और झलक रहे हैं, उनके बिखरे हुये केशों के साथ शंका से चंचलीभूत लोचन भी शोभा के पात्र हो रहे हैं।

अर्थ :—सावन की नदी, कोई कितने ही (करोड़ों) यत्न क्यों न करे, नहीं रुकती—क्योंकि उसमें पानी बहुत हो जाता है और उसका वेग बहुत प्रबल और तीव्र हो जाता है—कृष्ण ने जिनके मन हर लिये हैं, वे अगम गति वाले तन कैसे रुक सकते हैं। चलते हुये (उन गोपियों के) अत्यंत शोभा-पूर्ण मणि-जटित कुंडल कानों में झलकते जाते हैं। लोचन शंका से पूर्ण हो चपलता से सनीर चल रहे हैं और अत्यन्त ललित लगते हैं साथ ही बिखरी हुई अलकें भी लहराती हैं।

नोटः—दो पंक्तियों के पश्चात् गोपियों के चलते समय का चित्र खींचा गया है। शंका से उनके नेत्र चंचल हैं, यह शंका किसकी, किससे, क्यों, कैसी तथा किस प्रकार की थी, यह प्रगट नहीं, व्यंग्य है। शंका यह भी हो सकती है कि कहीं ऐसा न हो कि पहुँचने में विलम्ब हो जावे और हरि रुष्ट हो चले जावें और हमें न मिलें, शंका यह भी हो सकती है कि कहीं कोई मार्ग

में देख न ले, लोकापवाद न हो, घर के लोग कुपित न हों आदि—ज्ञात होता है तथा ऐसा विचार करने या मानने पर मानना पड़ता है कि गोपियां तथा उनके पुरजन तथा परिजन लौकिकतामय होने से उनके इस आचरण को, गर्हणा की दृष्टि से देख सकते थे—इसे बुरा मान सकते थे, किन्तु प्रभु की यह लीला केवल माया मयी ही थी, शंका से गोपियां सवेग हैं अतः केश बिखर गये हैं, भगवान कृष्ण अगम गति वाले हैं, अतः उनके प्रेमियों को भी ऐसी ही गति वाला होना चाहिये, इसी से गोपियों में भी अगम गति आ गई है "सत्संगतिः कथय किंनकरोति चित्रम्" या "संगति ही गुण ऊपजे।......" यहां अलौकिकता में भी लौकिकता का आभास है, हरि-माया दुर्बोध है, मनुष्य लोक से परे देखने में शंकित होता है, कठिनाई से वह प्रभु की अलौकिक लीला को समझ पाता है।

जदपि कहूँ के कहूँ वधुन आभरन वनायें,
हरि पिय को अनुसरत जहाँ के तहँ चलि आये।
कहुँ दिखियत कहुँ नाहिं सखी वन बीच वनी यों,
विजुरिनि की सी छटा सघन वन माँझ चली ज्यों॥ ३६॥

शब्दार्थः—वधुन = वधुओं—स्त्रियों—ब्याही गोपियों ने, वनाये = पहिने, अंगों-प्रत्यंगों में रचे या सजाये, सखी = गोपियाँ (बहु वचनान्त भाव से, एक वचन के रूपों में) सघन = खूब घने, वादलों के सहित। अतः इसमें श्लेपात्मक गौरव है।

भावार्थः—प्रेमावेश से विह्वल तथा शिथिल हो एवं आतुर कातरता से आत्म विस्मृति तथा विवेक-हीन हो जाने के कारण गोपियों ने यथास्थान आभूषण न धारण किये थे, किन्तु कृष्ण की लीला के कारण वे यथास्थान आ गये। चलती हुई गोपियाँ वन में यत्र-तत्र, वादलों में चमकती हुई चपलाओं के समान दीखती हैं।

अर्थः—यद्यपि गोपियों ने आभूषणों को यथा स्थान न पहिना था, किन्तु कृष्ण के अनुसरण से वे यथास्थान भूपित हो गये। वन में कहीं कहीं तो गोपियाँ दिखाई देती हैं और कहीं नहीं दिखाई देतीं, सघन वन में उनकी शोभा चलती और चमकती हुई बिजली के समान है।

नोटः—"वधुन" शब्द से परकीयता का सा परिचय प्राप्त होता है। आभरणों को यथास्थान न पहिनना तथा उनका यथा-स्थान आ जाना भागवत और सूर-सागर में भी दिखलाया गया है। उत्तरार्ध की पंक्तियों के "सघन शब्द में श्लिष्ट अर्थ-गौरव है, यह सौष्ठव मनोहर भाव प्रगट करता है। उपमा भी सुन्दर है।

आय उमँग सौं मिली रँगीली गोप-वधू अस,
नन्द-सुवन सागर-सुन्दर सौं प्रेम-नदी जस।
परम-भागवत-राग-रसिक जु परीक्षित राजा,
प्रश्न कियौ रस-पुष्टि करन निज हित सुख काजा॥ ३७॥

शब्दार्थः—उमँग = उमड़ कर, उमंग के साथ, रँगीली = रस-रंग वाली, जु = जो, काजा = वास्ते, के लिये—सम्प्रदान कारक की विभक्ति के रूप में काज शब्द का प्रयोग अवलोक-नीय है।

भावार्थः—सागर-रूपी कृष्ण से प्रेम-नदी रूपी गोपियाँ आकर उमंग के साथ मिल गईं। परीक्षित राजा ने इस पर श्री शुकदेव जी से निम्न प्रश्न पूछा।

अर्थः—वे रँगीली गोप-वधुयें (गोपियाँ) उमंग के साथ सप्रेम कृष्ण से आकर इस प्रकार मिलीं, जैसे सागर से नदियाँ आकर मिलती हैं। परम ग्रंथ भागवत के रसिक-रत्न (भगवान के परम राग के रसिक, यदि रत्न के स्थान पर राग पाठ हो)

परीक्षित राजा ने इस स्थल पर (श्री शुकदेव जी से) अपने सुख तथा रस को पुष्ट करने के लिये यह प्रश्न किया।

नोटः—उपमा बड़ी ही मनोहर तथा वास्तिकता-पूर्ण है। कृष्ण का वर्ण सागर सा है, उनमें अगाध रस भी उसी के समान भरा है, वैसे ही गोपियाँ भी उमंग के साथ उमड़ी हुई प्रेम-पूर्ण-नदी के समान आकर उनसे मिल रही हैं। नदियाँ जिससे रस पाती हैं उसी से अंत में उस रस के साथ जा मिलती हैं—यही बात गोपियों और कृष्ण के सम्मिलन में भी है। आगे कुछ शंका-समाधान भी कवि के द्वारा किया गया है—यह भागवत पर-आधारित है। इससे स्पष्ट है कि उक्त शंका बहुत प्रथम उठी थी और उसका समाधान कुछ अंशों में भक्त-प्रवरों के द्वारा किया भी गया था। देखिये प्रश्नोत्तर कैसा सुन्दर है।

श्रीभगवत को पात्र जानि जग के हितकारी,
उदर दरी में करी कान्ह जाकी रखवारी।
जाकौ सुन्दर स्याम-कथा छिन छिन प्रिय लागै,
ज्यौं लम्पट परजुवती बातैं सुनि अनुरागै॥ ३८॥

शब्दार्थः—सरल है।

भावार्थः—स्पष्ट है—,

अर्थः—जगत के हित करने वाले कृष्ण भगवान ने, जिनको भागवत का पात्र जानकर उदर में रख जिनकी रक्षा की, जिनको प्रत्येक क्षण कृष्ण की सुन्दर कथा ऐसे अत्यंत प्रिय लगती है जैसे लम्पट मनुष्य को पर-स्त्री की बातचीत में सानुराग आनन्द मिलता है।

हो ! मुनि, क्यौं गुनमय सरीर परिहरि पावै हरि,
जो न भजै कमनीय कान्ह कहँ ब्रह्म-भाव करि।

तब कह श्रीसुकदेव देव ! यह अचरज नाहीं,
सर्वभाव भगवान कान्ह जिनकैं हिय माँहीं ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जो ब्रह्म-भाव से नहीं, वरन् कमनीय भाव से कृष्ण को भजते हैं वे गुण-युक्त शरीर से कैसे भगवान को पा सकते हैं—गुण-युक्त शरीर से सगुण हरि की प्राप्ति होगी और गुण-युक्त शरीर को छोड़ कर ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना तथा प्राप्ति सम्भव है—गुण-युक्त शरीर से जो केवल कमनीय सगुण कृष्ण की भक्ति करते हैं और उनमें ब्रह्म-भाव नहीं रखते वे कैसे हरि को पा सकते हैं (क्योंकि बिना योग और ज्ञान के ब्रह्म-प्राप्ति कहाँ ?) अथवा जो कृष्ण को ब्रह्म-भाव से शरीर-गुण-धर्म छोड़ कर भजते हैं, वे कैसे हरि को पा सकते है ? (दो "न" और "नहिं" मिल कर "हाँ" या दो अस्वीकार-सूचक अव्यय स्वीकार-सूचक हो जाते हैं) श्री शुकदेव ने कहा कि हृदय में भगवान को रखना चाहिये, चाहे जो भाव उनके प्रति हो—हरि-प्राप्ति इसी से होती है यह विस्मयावह बात नहीं।

अर्थः—वह मुनि गुण-युक्त शरीर को छोड़ कर (मृत्यु पाकर या शरीर का ध्यान छोड़ कर) क्यों भगवान को पाता है—शरीर के साथ ही क्यों नहीं पाता—जैसे गोपियों ने पाया था—और जो कमनीय कृष्ण को ब्रह्म भाव से नहीं भजता—अथवा—हे मुनि ! जो व्यक्ति या जो मुनि कमनीय कृष्ण को ब्रह्म-भाव से नहीं भजता (जैसे गोपियों ने) वह कैसे गुणयुक्त शरीर से भगवान को पा सकता है—अर्थात नहीं पा सकता—वह साकार सगुणोपासक नहीं, निराकर निर्गुणोपासक है, अतः सगुण शरीर से कैसे ब्रह्म को पा सकता है—अथवा जो कृष्ण में ब्रह्मभाव न रख कर (केवल कमनीयता के भाव से) कमनीय कृष्ण को नहीं भजता, वह कैसे हरि को गुणयुक्त

शरीर के साथ (गोपियों के समान) पा सकता है (दूसरी पंक्ति में "न" को "जो" के साथ या पृथक रखने से अर्थ-विभिन्नता होती है।) तब श्री शुकदेवजी ने कहा कि हे देव! यह कुछ आश्चर्य-जनक बात नहीं, देखो—सर्व भाव (सब भाव से, किसी भी भाव से हो—या भगवान सर्व भाव मय हैं) से कृष्ण भगवान जिनके हृदय में हैं—उनका हृदय में रहना ही प्रधान बात है—उनके प्रति भाव चाहे जो हो—वे ही उन्हें पाते हैं।

नोट—प्रश्न और उत्तर दोनों अव्यक्त रूप में हैं, विशेषतया प्रश्न तो ऐसे शब्दों में है कि वह नितान्त संदेह-पूर्ण और अस्पष्ट है, किन्तु भाव यह जान पड़ता है कि जब सगुण शरीर के साथ गोपियों ने, जिन्होंने कृष्ण के प्रति ब्रह्म-भाव न रक्खा था और जिनमें योग और ज्ञान का अभाव था, कृष्ण को पा लिया, तब भला वे लोग, जो हरि के सगुण रूप को छोड़कर निराकार-निर्गुण-ब्रह्म के रूप की उपासना करते हैं, कैसे हरि को पा सकते हैं। या तो सगुणेश्वर की भक्ति से ही या निर्गुणोपासना से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है—दोनों प्रकार के साधकों को—कैसे हरि की प्राप्ति होती है, या जो कृष्ण में ब्रह्म-भाव नहीं रखते, वरन् उन्हें केवल कमनीय सगुण-भाव से पूजते हैं, वे कैसे उन्हें पा सकते हैं-क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है, अतः निर्गुण-भाव से ही लभ्य है, सशरीर उसकी प्राप्ति कैसे सम्भाव्य है, इत्यादि प्रश्न उत्पन्न हो सकते या होते हैं—तनिक अन्वय को बदलिये और अर्थ की विभिन्नता देखिये। उत्तर में कहा गया है कि भाव कुछ भी हो, यदि हृदय में भगवान का पूर्ण ध्यान है तो वह अवश्य मिलता है—इसी की पुष्टि में उदाहरण भी आगे दिये गये हैं।

परम दुष्ट सिसुपाल बालपन तैं निन्दक अति,
जोगिन को जो दुरलभ सुरलभ सो पाई गति।

या रस ओपी गोपी सब तिरियन सौं न्यारी,
कमलनयन गोविन्द चन्द की प्रान सों प्यारी ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—सुरलभ—सुलभ (दुर्लभ की प्रतिकृत्ति-रूप में) या सुर—देवता+लभ—पाना—देवों के पाने योग्य, ओपी—मँजी हुई, निर्मज्जित, भरी, पगी, पली हुई, तिरियन-स्त्रियों।

भावार्थ—शिशुपाल ने सदा कृष्ण का ध्यान रक्खा, यद्यपि विपक्ष-भाव से ही, तो भी योगियों के लिये भी जो दुर्लभ गति है उसे प्राप्त कर लिया। गोपियाँ भी इसी भाव से परिपूर्ण थीं और इसीलिये श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्यारी थीं।

अर्थ—देखो! शिशुपाल ने भी, जो बड़ा ही दुष्ट तथा अपनी बाल्यावस्था से ही कृष्ण की निन्दा करने वाला था, ऐसी गति सुलभ रूप से प्राप्त की, जो योगियों के लिये भी दुर्लभ है, क्योंकि उसके हृदय में सदा श्रीकृष्ण का ध्यान रहता था। गोपियाँ सब स्त्रियों से पृथक या निराली होकर इसी भाव से भरी हुई थीं और कमल-नेत्र श्री गोविन्द-चन्द्र को प्राणों के समान प्यारी थीं।

नोट—यहाँ एक विशेष प्रकार की भक्ति का संकेत दिया गया है। भगवान का शत्रु होकर भी कोई भक्त हो सकता है, शत्रु भाव से भी भक्ति होती है—क्योंकि शत्रु का ध्यान हृदय में सदा रहता है, मित्र या सखाभाव का यह शत्रु-भाव विलोम रूप है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रावण को श्री राम का शत्रु-भाव वाला भक्त माना है। *शत्रु-भाव की महत्ता मित्र-भाव तथा योग-ज्ञान की महत्ता से भी अधिक दिखाई गई है—'जोगिन को जो दुरलभ, सुरलभ सो पाई गति"। निष्कर्ष यह है कि हृदय में भगवान के अविकल ध्रुव ध्यान का होना ही मुख्य भक्ति-भाव है। यह बात गोपियों में विद्यमान थी, इसी से वे

श्रीकृष्ण की प्यारी सहचरियाँ थीं। हिन्दू-धर्म और भक्ति-मार्ग का यह है विस्तृत औदार्य।

इससे स्पष्ट है कि मत-भेद के होने पर भी उद्देश्य की समानता से एकता होनी चाहिये। भिन्न भिन्न मार्गों एवं साधनों के द्वारा भी उद्देश्य की प्राप्ति साध्य है। इसी को ध्यान में रखकर विपक्षियों के प्रति भी विरोधभाव न रखना चाहिये। धन्य है हिन्दू धर्म, और धन्य है इसका असीमोदार भक्ति-प्रेम।

अब कवि फिर अपने प्रसंग के सूत्र को उठाकर आगे बढ़ता है और गोपियों को वन में लाता है।

—o—

*"सुर-रंजन, भंजन भुव-भारा। जो प्रभु लीन्ह मनुज अवतारा।
तौ मैं जाइ बैर हठि करिहौं। बिन प्रयास भव-सागर तरिहौं।"

—o—

जिनके नूपुर-नाद सुनत जब परम सुहाये,
तब हरि के मन नयन सिमटि सब स्रवननि आये।
रुनुक झुनक पुनि भली भाँति सों प्रगट भई जब,
पिय के अँग अँग सिमटि मिले हैं रसिक-नयन तब ॥४१॥

शब्दार्थ—(सुनत) सुने—सुन पड़े सुनते ही, रुनक—एक प्रकार के आभूषणों से उत्पन्न शब्द या आभूषणों तथा नूपुरों में लगे हुये रुनके—झुनका—एक प्रकार का शब्द।

भावार्थ—दूरस्थ गोपियों के अस्फुट नूपुर-शब्दों के सुनने के लिये मन तथा नेत्र या इनकी शक्तियाँ कानों में खिंच आईं। फिर उस शब्द के स्पष्ट रूप में प्रगट होने पर सारे अंग नेत्रों में आकर एक हो गये—अर्थात् शरीर की समस्त शक्तियाँ एकत्रीभूत हो नेत्रों में दर्शन-लालसा के बलीयसी होने पर आ विराजीं।

अर्थ—उन (वन की ओर या अपनी ओर आती हुई) गोपियों के नूपुरों के सुन्दर शब्द जब कृष्ण ने सुने, तब उनके

नेत्र और मन सब सिमिट कर कानों में आ गये । यह नूपुर-शब्द की अस्पष्टता की दशा में हुआ, किन्तु बाद को जब फिर नूपुरों की रुनक-झुनक स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ी, तब प्रेमी (प्रिय) कृष्ण के अंग-प्रत्यंग सब एकत्रीभूत हो रसीले प्रेमी नेत्रों से मिल गये। उन्हें देखने की लालसा लगी और नेत्र तदर्थ चंचल हो चले ।

नोट—कवि ने प्रतीक्षित प्रेमी व्यक्ति का (प्रेमिका के आगमन के समय पर) सुन्दर चित्र खींचा है। प्रथम दूर से आती हुई गोपियों के नूपुरों के शब्द अस्पष्ट रूप में कृष्ण को सुनाई पड़े, अतः उन्हें ध्यान से सुनने तथा परखने और पहिचानने के लिये (कि यह अस्फुट शब्द किस वस्तु का है) उनका मन कानों में आ गया अर्थात् कर्ण-गोचरित शब्द को वे सध्यान परखने तथा पहिचानने लगे। नेत्रों की भी शक्ति कानों में पहुँच गई, क्योंकि बिना शब्द को पहिचाने नेत्रों में दर्शन-लालसा नहीं हो सकती। ऐसे समय पर नेत्र देखते हुए भी देखते नहीं हैं—क्योंकि उस समय चैतन्य मन, जो नेत्रों को चेतना-शक्ति देता है, उसी शब्द के परखने में लगा रहता है। यह मानव-प्रकृति का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक अनुभव है। जब शब्द के स्पष्ट होने पर मन उसकी परख कर अपनी दशा में आ जाता है, तब यदि वह अभीष्ट शब्द हुआ या उसी पदार्थ से आता हुआ जिसके प्रति प्रेमानुराग है, तथा जिसकी लालसोत्कंठापूर्ण प्रतीक्षा है, तब नेत्रों में दर्शन-लालसा की चंचलता आ जाती है, (कान शब्द को साधारणतः सुनते रहते हैं) वे दर्शनोत्कंठा से दौड़ने लगते हैं—ऐसी अवस्था में मन का कार्य भी कुछ दब सा जाता है, शरीर में एक प्रकार की आत्मविस्मृति सी आ जाती है और सारी शक्ति मानो नेत्रों ही में आ जाती है, सुन्दर स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक विश्लेपण है। कवि ने और किसी अंग को

रसिक न कहकर यहाँ नेत्रों को ही कहा है, क्योंकि नेत्र ही प्रेमावस्थां में सजल या रसयुक्त होते हैं, उन्हीं से प्रेम-रस की उत्पत्ति होती है, इन्हें तो प्रेम की पुस्तकें ही कहा गया है।

सबके मुख अवलोकत पिय के नैन बने यों,
स्वच्छ सुघर ससि माँझ अरबरे हैं चकोर ज्यों।
अति आदर कर लई, भरे, चहुँदिसि ठाढ़ी मनु,
छटा छबीली छँकि रही मृदु घन,मूरति जनु ॥४२॥

शब्दार्थ :—अरबरे—चंचलीभूत हुये, भरे—भेंटकर, छटा—(लक्षणा से) विद्युच्छटा, विद्युत् का भाव यहाँ तत्सम्बन्धी घन से अभिव्यंजित है। कर—पूर्व का क्रिया, करके या हाथ से।

भावार्थ :-कृष्ण ने आकुल नेत्रों से सब गोपियों को आया हुआ देख उनका सादर स्वागत किया और फिर उन्हें हृदय से लगाया। इसके उपरान्त सब गोपियों उनके चारो ओर खड़ी हो गई।

अर्थ :—सब आई हुई गोपियाँ के मुखों को देखते समय कृष्ण के नेत्र इस प्रकार लगने लगे जैसे स्वच्छ सुन्दर चन्द्रमा के बीच में चंचलीभूत होकर चकोर हों। श्रीकृष्ण ने उन्हें सादर हाथ से लिया अर्थात् उनका सादर स्वागत किया और फिर उनको हृदय से लगाया, तदनन्तर सब चारो ओर यों खड़ी हो गई जैसे मृदुल घन-मूर्ति को चारो ओर से विद्युच्छटा ने घेर लिया हो।

नोट :—प्रत्येक मुख के (गोपियों के मुख चन्द्र के समान हैं) देखने में उनके (कृष्ण के) नेत्र चंचल चकोर के समान जा रमते थे, नेत्र कृष्ण-मुख-मध्य होते हुये भी जाकर गोपियों के मुख-चन्द्रों पर प्रतिबिम्बित होते थे और श्याम-रूप हो चकोर से लगते थे। नेत्रों में भी नेत्र प्रतिबिम्बित होते हैं—सुन्दर और नैसर्गिक अनुभूति-वर्णन है। आदर से (प्रेम-सने हो) कृष्ण

ने गोपियों का स्वागत किया और फिर उन्हें भेंटा, जैसे वे अतिथि हों। ऐसा कृष्ण ने क्यों किया? उत्तर है प्रेम-प्रगाढ़ता की वृद्धि के लिये, इस निठुर सी वैमुखी वृत्ति के दिखाने से गोपियों में कुछ और प्रगाढ़ता आ जावेगी और कृष्ण के ऊपर उनका एहसान न रहेगा। कृष्ण कहते हैं कि तुम क्यों आई, मैंने तो तुम्हें नहीं बुलाया। मैं तो अपनी मौज में बंशी बजा रहा था? तब गोपियाँ प्रार्थना करती हैं कि अब तो आ गई, अब अपनाइये, तब कृष्ण अपना अभीष्ट सिद्ध करते हुये गोपियों को अपना ऋणी बनाते हैं। यह चतुर या नागर नायक की नीति-रीति-कुशलता है, वह अपने प्रेम को कौशल से छिपाकर अपना कार्य सिद्ध करता है। इसी से "सादर" शब्द का प्रयोग किया है, और "सप्रेम" को, जो वहाँ प्रयुक्त हो सकता था, नहीं रक्खा। यही है सार्थक तथा भाव-पोषक प्रयोग शब्दों का। उपमा भी नीचे चोखी है।

नागर नगधर नन्द-नन्द हँसि मन्द मन्द तब,
बोले बाँके बैन प्रेम के परम अयन सब।
उज्ज्वल रस को यह स्वभाव बाँकी छवि पावैं,
बँक चहन अरु कहन बँक अति रसहिं बढ़ावैं ॥४३॥

शब्दार्थ :—नगधर—गिरधर, बाँके—टेढ़े, उलटे, वक्रता से (देखिये करणकारक की विभक्ति का लोप), बँक—वक्र

भावार्थ :—चतुर श्रीकृष्ण ने गोपियों से मन्दहास के साथ कुछ टेढ़े वचन कहे, क्योंकि ऐसा बाँकापन प्रेम-रस को बढ़ाता है।

अर्थ :—चतुर नन्द-नन्दन गिरधर कृष्ण मंद मंद मुसकुरा कर प्रेमागार वक्र वचन (उलटे वचन, जो न कहे जाने चाहिये थे या जो गोपियों के विरुद्ध थे. प्रेम के प्रसंग में

वैमनस्य या विमनता-सूचक वाक्य अवश्य प्रेमिका गोपियों को अभीष्ट न थे) बोले । कवि अपनी टिप्पणी इसी पर जमाता है कि उज्वल प्रेम-रस का यह स्वभाव है अर्थात् यह उसमें नैसर्गिक बात है कि वह वक्रता या उलटे रंग-ढंग से बढ़ता है, बाँकेपन से कहना, सुनना, देखना तथा चाहना सभी को बाँका या वक्र होना चाहिये—यह प्रेम-रस की वृद्धि करता है ।

नोट :—वस्तुतः बात यही है कि प्रेम-रस में ऐसे बाँकेपन से और श्री-वृद्धि होती है, यह रसिकों तथा प्रेमियों का प्रत्यक्ष अनुभव है । इसी रस-वृद्धि के लिये श्रीकृष्ण ने प्रथम साधारण व्यवहार (उपचार-पूर्ण आदर से स्वागत करने) की भूमिका रक्खी है और अब मूल पाठ प्रारम्भ किया है । व्यंग्य रूप के बाँके प्रेम को तो देखिये । नट नागर ही ठहरे ! आगे कवि कुछ और भी कारण इस बाँके पन के प्रयोग का दे रहा है ?

ये सब नवलकिसोर गोरि भरि प्रेम महा रस,
तातैं समुझ परी कीन्हीं पिय परम प्रेम-बस ।
जैसे नायक गुन-स्वरूप अति रसिक महा है,
सब गुन मिथ्या होय नेक जो बँक न चाहै ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ :—गोरि—गौर वर्ण वाली, समुझि परी—समुचित जान पड़ीं, गुन-स्वरूप—सगुण रूप वाले—गुणी, चतुर सब गुणों के सागर-रूप—सब गुण-युक्त ।

भावार्थ :—गोपियों को नवीन किशोरावस्था तथा प्रेम से पूर्ण देख कृष्ण ने व्यंग वाक्यों के द्वारा वक्र प्रेम का अनुसरण किया है, वे सब गुणों से युक्त हैं, अतः यह भी उनमें अवश्य होना चाहिये ।

अर्थ :—गोपियाँ सब नई किशोरावस्था की और अत्यंत प्रेम-रस से पूर्ण हैं, इसी से कृष्ण को, जो प्रेम-रस के वशीभूत

ने गोपियों का स्वागत किया और पि
अतिथि हों। ऐसा कृष्ण ने क्यों किया?
की वृद्धि के लिये, इस निठुर सी वैमुख
गोपियों में कुछ और प्रगाढ़ता आ जावेग
उनका एहसान न रहेगा। कृष्ण कहते हैं
तो तुम्हें नहीं बुलाया। मैं तो अपनी मे
था? तब गोपियाँ प्रार्थना करती हैं कि
अपनाइये, तब कृष्ण अपना अभीष्ट
को अपना ऋणी बनाते हैं। यह चत
नीति-रीति-कुशलता है, वह अपने प्रे
अपना कार्य सिद्ध करता है। इसी से
किया है, और "सप्रेम" को, जो वहाँ
रक्खा। यही है सार्थक तथा भाव-
उपमा भी नीचे चोखी है।

नागर नगधर नन्द-नन्द हँसि
बोले बाँके बैन प्रेम के
उज्जल रस को यह स्वभाव ब
बँक चहन अरु कहन बँक

शब्दार्थ :—नगधर—गिरधर, ब
से (देखिये करणकारक की विभक्ति व

भावार्थ :—चतुर श्रीकृष्ण ने गोपि
कुछ टेढ़े वचन कहे, क्योंकि ऐसा
बढ़ाता है।

अर्थ :—चतुर नन्द-नन्दन गिरधर
कर प्रेमागार वक्र वचन (उलटे द
चाहिये थे या जो गोपियों के विरुद्ध

बातें उठा रही थीं और उन्हीं में लीन थीं, किन्तु जब उन्होंने कृष्ण के उलटे वाक्य सुने तो अत्यंत विस्मित हो गईं।

अर्थ :—कुछ तो कोमल वचन कह रही हैं, कोई श्रेष्ट या प्रिय कृष्ण के रस का वर्णन कर रही हैं। कुछ स्त्री-धर्म कह रही हैं, जो अत्यंत सुन्दर और मर्म का भेदन करने वाला है, किन्तु वे सब रसिक कृष्ण के उलटे वचन सुनकर यों चकित हो गईं, जैसे मृग-शावकों की मालिका सघन वन में भूल पड़ी हो।

नोट :—गोपियाँ प्रथम कृष्ण का बाँका भाव अपने प्रेमावेश के कारण न समझ सकीं, वे अपनी ही अपनी धुन में मस्त रहीं, किन्तु जब उन्होंने कृष्ण के उलटे-सीधे वचन सुने तब तो वे चकरा गईं। देखिये कृष्ण जी की नागरता ? यहाँ कवि ने यह नहीं दिखलाया कि कृष्ण के वे वक्र या व्यंग वाक्य क्या थे, आगे चलकर वे इतना कहते हैं कि हमारे दर्शन तुम्हें हो गये, अब जाओ—बस गोपियों की दशा दुर्दशा में परिणित हो जाती है।

मन्द परस्पर हसीं लसीं तिरछी अखियन अस.
रूप-उदधि इतराति रँगीली मीन-पाँति जस।

शब्दार्थ:—लसीं = शोभित हुईं, इतराति = उतराती-तैरती या उछल कर खेलती हुई।

भावार्थ:—स्पष्ट है। वक्र-नेत्रों से देखती हुई गोपियाँ हँसी के साथ अत्यंत शोभायमान हैं।

अर्थ:—वे परस्पर एक दूसरे की ओर तिरछे नेत्रों से देख-देख कर मंद-मंद हँसी, उस समय उनके वक्र-नेत्रों की शोभा ऐसी लगती थी, जैसे रूप के समुद्र में इतराती हुई रँगीली मछलियों की पंक्तियाँ हों। इसके पश्चात् एक दोहा है।

दो०—तब हँसि हँसि ऐसैं कह्यौ, सुन्दर सबको राउ,
हमरो दरस तुम्हैं भयौ, अब अपने घर जाउ ॥४६॥

हैं, यह ढंग उचित जान पड़ा और इसी से उन्होंने ऐसा किया भी। चूँकि नायक गुण-स्वरूप (सगुण-गुण-युक्त, गुणी) और बड़े ही रसिक हैं, इसलिये यदि वे रस-वक्रता को न चाहें और न अपनावें तो उनके सब गुण मिथ्या हो जावें (गुणों की समस्तता के अंतर्गत यह वक्रता का भी गुण तो आ जाता है— अतः समस्त गुणों से युक्त व्यक्ति में यह भी होना चाहिये।)

नोट :—नवीन अवस्था में वस्तुतः स्वभावतः—टेढ़ी-मेढ़ी उलटी-सीधी बातचीत, हास-परिहास की रीति-नीति प्रिय होती है—विशेपतया नये प्रेमी और प्रेमिकाओं के प्रणय-प्रसंग में, यह बात प्रौढावस्था में चिर साहचर्य से कम या दूर हो जाती है— मानव-प्रवृति का चित्रण है—अब तनिक तर्कसंगत और दार्शनिक कारण देखिये-वह यह है कि चूंकि कृष्ण सगुण ब्रह्म-स्वरूप हैं, आर नर-लीला भी उन्हें करनी है, फिर वह विरुद्धाविरुद्ध सब गुणों के आगार हैं इसी से उनमें वक्रता का भी गुण है—इस प्रकार ईश्वर में विरोधाभास दिखाया गया है, वह सब प्रकार से विरोधों का आगार है, विरोध भाव उसी पर चरितार्थ हो अविरोध में बदल कर एकता के रूप में आ जाता है।

वचन कहै केउ नरम कहै कैइक रस वर कर,
केउ कहैं तिय-धर्म मर्म-वेधक सुन्दर वर।
सुनि रसाल प्रिय वंक वचन सब चकित भई यों,
बाल-मृगनकी माल सघन वन भूलि परी ज्यों ॥४५॥

शब्दार्थ :—कैइक—कुछ, कई एक, नरम—कोमल, वर— श्रेष्ट या कृष्ण, रसाल—रसिक, रस, युक्त—योगिकशब्द—रस— रस+आल— आलय—स्थान—रसस्थान - रसयुक्त, चकित— चक्रित या चकित।

भावार्थ :—प्रथम तो गोपियाँ अपनी इच्छा के अनुसार

बातें उठा रही थीं और उन्हीं में लीन थीं, किन्तु जब उन्होंने कृष्ण के उलटे वाक्य सुने तो अत्यंत विस्मित हो गईं।

अर्थ :—कुछ तो कोमल वचन कह रही हैं, कोई श्रेष्ट या प्रिय कृष्ण के रस का वर्णन कर रही हैं। कुछ स्त्री-धर्म कह रही हैं, जो अत्यंत सुन्दर और मर्म का भेदन करने वाला है, किन्तु वे सब रसिक कृष्ण के उलटे वचन सुनकर यों चकित हो गईं, जैसे मृग-शावकों की मालिका सघन वन में भूल पड़ी हो।

नोट :—गोपियाँ प्रथम कृष्ण का बाँका भाव अपने प्रेमावेश के कारण न समझ सकीं, वे अपनी ही अपनी धुन में मस्त रहीं, किन्तु जब उन्होंने कृष्ण के उलटे-सीधे वचन सुने तब तो वे चकरा गईं। देखिये कृष्ण जी की नागरता? यहाँ कवि ने यह नहीं दिखलाया कि कृष्ण के वे वक्र या व्यंग वाक्य क्या थे, आगे चलकर वे इतना कहते हैं कि हमारे दर्शन तुम्हें हो गये, अब जाओ—बस गोपियों की दशा दुर्दशा में परिणित हो जाती है।

मन्द परस्पर हसीं लसीं तिरछी अखियन अस.
रूप-उदधि इतराति रँगीलो मीन-पाँति जस।

शब्दार्थ:—लसीं = शोभित हुईं, इतराति = उतराती-तैरती या उछल कर खेलती हुई।

भावार्थ:—स्पष्ट है। वक्र-नेत्रों से देखती हुई गोपियाँ हँसी के साथ अत्यंत शोभायमान हैं।

अर्थ:—वे परस्पर एक दूसरे की ओर तिरछे नेत्रों से देख-देख कर मंद-मंद हँसी, उस समय उनके वक्र-नेत्रों की शोभा ऐसी लगती थी, जैसे रूप के समुद्र में इतराती हुई रँगीली मछलियों की पंक्तियाँ हों। इसके पश्चात् एक दोहा है।

दो०—तब हँसि हँसि ऐसैं कह्यौ, सुन्दर सबको राउ,
हमरो दरस तुम्हैं भयौ, अब अपने घर जाउ ॥४६॥

धर्म छोड़ देती हैं। न केवल वे ही, वरन् खग, मृग और नगों का भी धर्म तो मुरली की माधुरी के संमुख नहीं स्थिर रहता, इसी मुरली से हम भी वशीकृत की गई हैं, बस अब हमें आप अपनाइये, आगे कुछ कहा नहीं जाता।

अर्थ :—यह सब तो है ही, साथ ही विशेषता यह है कि आपकी मुरली तो ग़जब कर रही है। मधुराधरों के सुधा-रस से सुसिंचित आपकी मुरली को सुनकर कौन ऐसी तरुणी त्रिभुवन में है जो अपना धर्म न त्याग दे। देखो खग, मृग और नगों का भी धर्म कैसा हो रहा है। अब विलगता छोड़, हे प्राणेश! हमें अपना कर लो, अब कुछ और नहीं कहा जाता।

नोट :—छं० नं० ५० के अंतिम पद को यहाँ गोपियाँ दूसरे अर्थ में लेकर कहती हैं कि लौकिक स्त्री-धर्म, आपके रूप के सम्मुख लौकिक भ्रम ही है, क्योंकि आपकी मधुर मुरली को सुन त्रिभुवन की तरुणियाँ सामाजिक-लौकिक धर्म को (भ्रम जान) त्याग देती हैं। भगवान के भक्त को सामाजिक तथा सांसारिक धर्म की आवश्यकता नहीं, उसका धर्म इन सब से परे है, उसके लिये लौकिक एवं सामाजिक धर्म भ्रमात्मक प्रपंच ही है। २०४

अरु तुम्हरे कर कमल महा दूती यह मुरली,
राखे सबके धर्म प्रेम अधरन रस जु-रली।
सुन्दर पिय कौ वदन निरखिकै को नहिं भूलै,
रूप-सरोवर माँझ सरस अम्बुज जनु फूलै॥५२॥

शब्दार्थ :—दूती दूतत्व करने वाली चतुर प्रौढ़ा नायिक, धर्म—पातिव्रत धर्म, भागवत धर्म, फूलै—विकसित और प्रफुल्लित हो। माँझ, माँह, माँहि, में, मध्य (अधिकरण-कारक की विभक्ति के रूप में हैं)

भावार्थ :—मुरली चूंकि आपके अधरों में रम गई, इसीसे

सब का धर्म (पातिव्रत) बच गया, नहीं तो आपका मुख-सौंदर्य देखकर कौन नहीं भूल तथा फूल जाता।

अर्थ :—तुम्हारे कमल-करों में यह मुरली-रूपी महादूती रम रही है, तुम्हारे अधरों के रस में आलीन होकर इसने सब का धर्म रख लिया। अपने प्रिय का सुन्दर मुख देखकर कौन नहीं भूल जाता (अपनी तथा अपने तन, धन-धाम और धर्म की सुधि खो देता) और रूप के सरोवर में कौन कमल के समान नहीं प्रफुल्लित होता है।

नोट :—गोपियों ने बड़े चातुर्य से स्वधर्म-रक्षा का भाव प्रगट किया है। मुरली को दोष देकर वे कहती हैं कि यह दूती-रूपी मुरली-(जो नायिकाओं को नायक से मिलाने का दूत-कार्य करती है) नायिकाओं को बुला लाती है और स्वयमेव विश्वास-घात कर स्वनायक (आप) के अधरों का रस पान करने लगती है और गोपियों को वंचित रखती है। अच्छा हुआ और गोपियाँ नहीं आईं; (यद्यपि मुग्ध और मोहित वें भी थीं) नहीं तो ऐसे ही वे भी व्यर्थ अपना धर्म खो बैठतीं। यहाँ शृङ्गार के साथ भक्ति भी व्यंजित है। यह कृष्ण के अधर-सुधा-रस से सिंचित मधुर मुरली की टेर ही थी, जिसने भागवत के भक्ति-धर्मको चारों ओर गुंजित कर निखरा-बिखरा दिया—और दूसरे धर्मों के आक्रमणों से उसे रक्षित रक्खा, और धर्मों के नाद इसकी मधुर तान के सामने कटु और फीके होकर स्थायी हो न ठहरे। इसी के कारण धर्म-प्रेम चिरस्थायी हो गया। आगे कृष्ण को "प्रिय" शब्द से संबोधित कर गोपियाँ अपने सम्बन्ध को दृढ़ करतीं और कहती हैं कि हम आपकी रूप-राशि से प्रफुल्लित हो चुकी हैं। 'फूलै' शब्द श्लिष्ट है। अम्बुज में सुमन (फूल और सुन्दर मन) का भाव सूक्ष्म-रूप से रक्खा है, जो "फूलै" शब्द से व्यंजित है। यहाँ फिर शिख-निख वर्णन सा प्रारम्भ होता है।

कुटिल-अलक मुख-कमल मनौ मधुकर मतवारे,
तिनमैं मिलि गये चपल नयन पिय मीन हमारे।
चितवनि मोहनमन्त्र भौंह जनु मन्मथ फाँसी,
निपट ठगौरी आहि मन्द मुसकनि मृदु हाँसी ॥५३॥

शब्दार्थ:—फाँसी (दुख देने वाली—मारक फाँसी) फाँस, पाश, निपट = पूर्णतः, ठगौरी = ठगने वाली, आहि—अहै = है (अस्ति से अवधी का रूप)।

भावार्थ:—कमल सा मुख, भ्रमरावली से केश, चंचल नेत्रों को फँसा रखने वाले हैं। मोहिनी दृष्टि और भ्रकुटि मदन की फाँस सी है। मुसकान तथा मंद हँसी ठगने वाली है।

अर्थ:—कमल रूपी मुख के ऊपर कुटिल अलकावली मतवाले मधुपों की जालिका-मालिका सी है—उन्हीं में हमारे मीन-रूपी चंचल-नेत्र मिल गये हैं। आपकी दृष्टि तो मोहन-मंत्र के समान है, और भ्रकुटियाँ मदन की फाँस के सदृश हैं। साथ ही आपकी मन्द मुसकान और मृदु-हँसी पूर्णतः वंचने वाली ठगिनी है।

नोट:—शृंगार रस-पूर्ण आंगिक वर्णन तो है ही, किन्तु विशेष बात अन्तिम पद में ही है—इस चतुर व्यंग के साथ गोपियाँ कहती हैं कि आपकी मुसकान और हँसी ठगने वाली है, हमें लगती तो है वह रसीली और प्रसन्नतामयी, किन्तु उसमें छल-छन्द्र की छटा छिपी है। उसमें विरसता तथा निष्ठुरता का विष भी है, जिसे उसने अपने मधुर सुधा-रस में मिला कर अप्रगट कर रक्खा है। कृष्ण ने गोपियों के आने पर उनसे हँस कर वक्र वचन कहे थे—"नागर नगधर नन्द-नन्द हँसि मन्द-मन्द तब। बोले बाँके बैन प्रेम के परम अयन सब॥" इसी पर गोपियों का यह व्यंग वाक्य है। वे कृष्ण के बाँके बैनों तथा

मंद हास में मधुर प्रेम-रस न पा सकी थीं—वरन् उन्होंने नीरस शब्दों में विषैले विषादकारक अर्थ छल-छद्म के साथ छिपे देखे थे—अथवा यदि वे उस मर्म-स्पर्शिनी हँसी और वक्र वचन की चातुरी को समझती थीं तो भी वें किस सफ़ाई और सच्चाई से उसका प्रत्युत्तर उसी प्रकार की मर्म-भेदिनी वक्रोक्ति से देकर कृष्ण को लज्जित कर रही हैं।

अधर-सुधा के लोभ भईं हम दासि तुम्हारी,
ज्यों लुब्धिन पद-कमल चंचला कमला नारी।
जो न देउ यह अधरामृत तौ सुन सुन्दर हरि,
करिहैं यह तन भस्म विरह-पावक में गिरि-परि ॥५४॥

शब्दार्थ :—भईं=हुई हैं (मिलाओ—अवधी और खड़ी बोली के रूप) देउ=देते (देते हो या दोगे—मिलाओ अवधी और खड़ी बोली के रूप) सुन=सुनों—अपमान या क्रोध-सूचक, वैमनस्य या, विमनता से पूर्ण प्रयोग—क्योंकि यदि माँनने वाला माँगी हुई वस्तु नहीं पाता तो वह कुपित सा हो कर उसे न देने वाले व्यक्ति के अपमान ही करने की चेष्टा करता है, और अपने शब्दों के द्वारा करता भी है। करिहैं=करेंगी (मिलाओ—अवधी और खड़ी बोली के रूप)।

भावार्थ :—आपके अधर-सुधा के लोभ से हम आपकी दासी हुई हैं, अब यदि आप हमें वह न देंगे तो हम विरहाग्नि में जल जावेंगी।

अर्थ :—हम तुम्हारे अधरामृत के लोभ से यों दासी हो गई हैं, जैसे चंचल-श्री (लक्ष्मी) पद-कमलों के लोभ से। अतः अब यदि हे हरे! आप वह अधरामृत हमें न देंगे तो हम विरहाग्नि-ज्वाला में गिर कर अपने इन (कृशित) कलेवरों को भस्मसात कर डालेंगी।

नोट :—यहाँ लोभ का भाव प्रगट है, परन्तु यह सोच कि कदाचित कृष्ण निस्वार्थ भाव से ही प्रेम-भक्ति को करणीय कहें, गोपियाँ अपने लोभ को समर्थित करती हैं, कि आप हममें लोभ का विकार या दोष बता कर हमें शुद्ध प्रेम और विमल-भक्ति की अनधिकारिणी न कहें, और त्याज्य न माने, क्योंकि आपने अपने पद-कमलों के लोभ से परिपूर्णा कमला को अपनाया है। हमारा लोभ भी उसी के समान उच्च और शुद्ध है। उनमें चरण-रज-रस का लोभ था, हममें आपके अधरामृत का है। उनमें यदि दास्य भाव है तो हममें माधुर्य भाव है—किन्तु है दोनों ही में भक्ति और प्रेम का भाव, फिर उनमें तो चांचल्य का दुर्गुण भी है, हममें नहीं, अतः हम उनसे उच्चतर हैं। "गिरि-परि" पद में स्वाभाविक वैकल्यभाव है—यदि कृष्ण "नहीं" कह कर अधरामृत देने से इंकार करते हैं, तो उसी क्षण गोपियाँ विकल हो अपने को विरहाग्नि में जला देंगी। सुन्दर गूढ व्यंजना के साथ एक प्रकार की अनिष्ट-सूचक धमकी भी है।

पुनि पिय पद के पाग्र बहुरि धरि हैं सुन्दर अँग,
निधरक ह्वै यह अधरामृत फिर पीवत हैं सँग।
सुनि गोपिन के प्रेम-वचन आँच सी लगी जिय,
पिघलि चल्यौ नवनीत मीत सुन्दर मोहन हिय ॥५५॥

शब्दार्थ :—निधरक—निडर, आँच—ताप, उष्णता, नवनीत=माखन (कृष्ण को माखन बहुत प्रिय था तथा वे उसे बहुत खाते थे, इसीसे कवि कल्पना करता है कि उनका हृदय माखन से परिपालित हो पूर्णतया तद्रूप हो गया था और इसीसे तनिक प्रेमाग्नि या विरहाग्नि का नाम सुनकर ही पिघल चला) अथवा नव=नवीन+नीति=ढंग, तरीका, मीत=मैत्री (भाववाचक के स्थान में गुण-वाचक का प्रयोग)—कृष्ण ने अब मैत्रीभाव की नवीन निति या रति ग्रहण की, क्योंकि उनका

अमित्र निष्ठुर हृदय पिघल चला, अपनी प्राथमिक दृढ़ रीति उन्होंने छोड़ दी, अब नीरस निष्ठुरता से वे सरसता की ओर आ चले।

भावार्थ :—भस्म होकर हम रज-रूप से आप के पदों तथा शरीर का स्पर्श कर अधरामृत भी पा लेंगी। यों गोपियों के प्रेम-पूर्ण वचन सुन कृष्ण का हृदय पिघल चला।

अर्थ :—इस प्रकार जल कर तथा रज-रूप होकर हम आप के पावन पदों को प्राप्त करेंगी और फिर सब अंगों का भी स्पर्श करेंगी। निडर होकर तब हम अधरामृत का भी पान कर सकेंगी। गोपियों के ऐसे प्रेम-पूर्ण वचन सुन कर कृष्ण के हृदय में कुछ प्रेमाग्नि की आँच-सी प्रतीत हुई और इसीसे मोहन का माखन से परिपालित स्नेह-पूर्ण हृदय नवीन मैत्री की नीति के रूप में आकर पिघल चला।

नोट :—सुन्दर सार्थक कल्पना है—भस्म हो कर गोपियाँ रज-रूप से अपने को कृष्ण के पावन पदों से पवित्र कर ऊपर उठ उनके शरीर का शीतल स्पर्श-सुख प्राप्त करेंगी और फिर और ऊपर जाकर अधरामृत भी पा लेंगी। यहाँ पर तृतीय पद में यति-भंग दोष सा खटक रहा है, आँ, "चसी" से पृथक और "च" और "सी" का साथ हो जाता है, जिससे पद बेमौके और बुरे ढंग से टूट सा जाता है। माखन-रूपी हृदय से क्या ही सरल स्वभाव-सिद्ध भाव व्यंजित है।

बिहँसि मिले नँदलाल निरखि ब्रज-बाल विरह-बस,
जदपि आतमाराम, रमत-भये, परम प्रेम-बस।
बिहरत विपिन बिलास उदार नवल नँद-नन्दन,
नव कुमकुम, घनसार चारु चरचत हैं चन्दन ॥५६॥

शब्दार्थ :—जदपि—यद्यपि, आत्माराम—अपनी आत्मा में

ही रमण करने वाले—योगेश्वर,—भे-या—भये—हुये (मिलाओ व्र० और ख० वो० के रूप), उदार आत्माराम होकर भी जो वे गोपियों में रमने लगे, इसीसे उनकी उदारता बढ़ गई। घनसार—कपूर, चरचत है—लेप करते हैं।

भावार्थ :—कृष्ण ने गोपियों को विरह-वश देख प्रेम से उनका आलिंगन किया। आत्माराम होकर भी वे परम प्रेम-प्रताप से रमण करने लगे। चंदन, कपूर आदि का सविलास विहार के साथ आलेपन भी होने लगा।

अर्थ :—व्रज-बालाओं (आगता ही) को विरह के वश में देख कर नन्द-लाल श्रीकृष्ण हँसकर उनसे मिले। यद्यपि वे आत्माराम (अपनी आत्मा में ही रमने वाले) हैं तथापि परम प्रेम के वश में होकर इन गोपियों के साथ रमण करने लगे। नवीन (नववय वाले—युवक, तरुण) नंद-नंदन कृष्ण उधर विलास-भाव के साथ वन में विहर रहे हैं। नवीन कुमकुम (रोरी) कपूर और सुन्दर चंदन का लेप कर रहे हैं।

नोट :—श्रीकृष्ण का माखन-रूपी (माखन से मज्जित) हृदय पिघल ही चुका था। अतः वे रसिक-राज के सरस रूप में प्रगट हो गये, गोपियाँ तो विरह-वश थीं ही (यद्यपि विरह थी नहीं क्योंकि वस्तुतः वियोग न हुआ था—हाँ भविष्य में उसकी आशंका थी—इसीसे गोपियों को विरह-व्यथा सी प्रतीत हो चली थीं)—कृष्ण इसे समझ गये और सँभल भी गये और रोती हुई तप्त हृदय-गोपियों को हासामृत और आलिंगन-सुख से शान्त करने लगे।

यहाँ कवि श्रीकृष्ण को आत्माराम या योगेश्वर कहता है, वे योग और ज्ञान के असीमागार भी हैं, साथ ही प्रेम-वश साकार हो अभीष्ट भी देते हैं। न केवल आत्मा में ही परमात्मा की

सत्ता है वरन् शरीर में भी उसकी महत्ता है। परमात्मा का संयोग-अध्यात्म-ज्ञान और योग से आत्मा में ही नहीं होता है, वरन् उसके सकार-रूप का संयोग वाह्य शरीर से भी होता है, यह प्रेम (परम प्रेम—भक्ति) से-"प्रेम ते प्रगट होहिं भगवाना। आत्मा-परमात्मा का सम्मिलन दिखाते हुये पुरुष और प्रकृति का सगुणात्मक प्रेम-जन्य सम्बन्ध एवं संयोग भी दिखाया गया है। योग और अध्यात्म ज्ञान के साथ ही प्रेम और भक्ति की भी महत्ता मानी गई है। यही विशिष्टाद्वैत और वल्लभ-सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है, शृंगार के साथ दार्शनिक तत्व का सुन्दर समावेश है। आगे रास-लीला है, इसीसे मदनोत्तेजना का रस-पोषक साज सजाया गया है—चन्दन, कुमकुम,कपूर आ गये, सुगंधि ने मनों को प्रमत्त कर दिया, विलास-विहार के लिये सुन्दर वन सजा है, जहाँ कुसुमायुध के शरों के लिये सुमन बिखरे हैं—जहाँ रति रानी का मदन नृप के साथ खेल हो रहा है।

अदभुत सांवल अंग वन्यौ अदभुत पीताम्बरि,
मुकुट धरें सिंगार प्रेम अम्बर ओढ़े हरि।
विगलित उर वनमाल लाल उर चलत चालवर,
कोटि मदन की भीर उठत पुनि गिरत चरनतर ॥५७॥

शब्दार्थ:—साँवर=श्यामल (भाषा-विज्ञान के द्वारा देखो परिवर्तन) पीताम्बर—यहाँ रि तुक-साम्यार्थ है।

भावार्थ:—श्यामशरीर और प्रेम रूपी पिताम्बर है, शीश पर शृंगार-मुकुट और कामदेवों की माला के समान वनमाला हृदय पर विराजती है। सदेरु शृंगार मुकुट रक्खे और प्रेम-पीताम्बर ओढ़े हैं।

अर्थ:—श्रीकृष्ण का अत्यंत अद्भुत श्यामल शरीर है उस पर अद्भुत पीताम्बर भी है। शृङ्गार का मुकुट शिर पर तथा

प्रेमाम्बर शरीर पर सुशोभित है। उनके हृदय पर चोखी चाल से चलती (हिलती) हुई खिली हुई वनमाला है, करोड़ों काम-देवों की भीड़ मानो उठ उठ कर चरणों के नीचे गिर रहीं हैं।

नोटः—वनमाल के खिले हुये फूल मानों कामदेव हों, जो वार वार उठते और फिर चरणों पर गिर कर अपनी छोटाई प्रगट करते हों। करोड़ों कामदेवों की मालिका भी बिहारी जी के ऊपर वलिहारी है। श्यामल-रंग शृंगार का स्थायी-रंग तथा प्रेम का स्थायी-रंग पीत माना गया है, दोनों यहाँ उपस्थित हैं—इसीसे कृष्ण प्रेम-शृंगार के साकार अवतार हैं। रूप-सौंदर्य तो अनूप हैं ही। हृदय में कामदेव रूपी वनमाला है ही। सब सामान खूब सज-धज के साथ सज गया है।

गोपीजन-मन-गोहन मोहनलाल बने यौं,
अपनी दुतिके उड़गन, उड़पति घन खेलत ज्यौं।
कुंजन, कुंजन डोलत मनु घन तें घन आवत;
लोचन त्रिपित चकोरन के चित चोप चढ़ावत ॥५८॥

शब्दार्थ :—गोहन=(गो=इंद्रियाँ - हन - मारना = इंद्रियों को नाश करने वाले अर्थात् उनकी शक्ति को खींचने वाले) मन मोहन—मन को मोहने या चुराने वाले—कहीं कहीं साथी के अर्थ में भी आता है। मुग्धता से मोहित कर जड़ रूप कर देने का भाव इसमें स्वभाविक है—चोप - चाव।

भावार्थः—गोपियों के साथ हरे-भरे वन में कृष्ण जी चन्द्र के समान तारावली के साथ वन में विहार कर रहे हैं और लोचन चकोरों के चित्त में चाव बढ़ा-चढ़ा रहे हैं।

अर्थः—गोपियों के मनों को खींचनेवाले मनमोहन कृष्ण ऐसे सुशोभित हैं; जैसे, घन में अपनी कांति वाले तारे और तारापति या चन्द्र खेलते हों। वे कुंजों-कुंजों में यों घूमते हैं

मानों चन्द्रमा एक जलद पटल से दूसरे में प्रविष्ट हो रहा हो और इस प्रकार प्यासे लोचन रूपी चकोरों के चित्त में चाव-भाव चढ़ाते हैं।

नोटः—खेव आरम्भ हो गया—हरा-भरा वन तो बादल-रूप है, कृष्ण-चन्द्र चन्द्र हैं ही, गोपियाँ नक्षत्रावली हैं, लोचन-चकोर भी है—वाह क्या समा-सुषमा को साथ उपमा लिये हुये चित्र खिंचा हुआ है। विहार-क्रीडा हो रही है।

सुभ सरिता कैं तीर धीर बलबीर गये तहँ,
कोमल मलय-समीर सुरभि-छवि महा भीर जहँ।
कुसुम-धूरि धूँधरी कुंज छवि पुंजनि छाई,
गुंजत मंजु मलिन्द वेनु जनु बजति सुहाई ॥५६॥

शब्दार्थः—सरल एवं स्पष्ट है।

भावार्थः—कृष्ण जी उन कुंजों से, जहाँ पुष्प-पराग-रजराशि तथा मधुप-मालिका की गुंजार छवि-छटा के साथ छाई हुई है, यमुना जी के किनारे पहुँचे।

देखिये अब संगीतमय काव्य-चातुर्य-माधुर्य नन्द दास का।

अर्थः—अब इस प्रकार कुंजों-निकुंजों में होते हुए कृष्ण जी शुभ नदी (यमुना जी) के किनारे धीरे-धीरे गये, जहाँ शोभा तथा मृदुल मलयानिल की सुरभि राशि राजती थी। कुंजों में पुष्पों के पराग-रज की धुमार छवि-राशि के साथ छाई हुई है, साथ ही मंजुता से मधुप यों गूँज रहे हैं, मानों बाँसुरी बज रही हो।

नोटः—देखिये अब कविता-कड़ियाँ कैसी मोतियों की या सुमनों की कड़ियों-सी बन रही हैं। उनमें मधुवन का मधुर संगीत-राग अनुराग के साथ प्रेम-पराग से पूर्ण हो भरा हुआ है। पंक्तियों में संगीत की माधुरी प्रत्यक्ष है, अनुप्रास की चातुरी

कैसी मनोहारिणी है, वर्णन शृंगार रस-पोषक, और सारी कलुषिता का शोपक है। लीजिये—वन-वर्णन सुनिये।

इत महकति मालती चारु चम्पक चित चोरत,
उत घनसार तुसार मिल्यो मन्दार झकोरत।
इत लवंग नवरंग एलची झेलि रही रस,
उत कुरवक, केवरो, केतकी गन्ध-बन्धवस ॥६०॥

शब्दार्थः—तुसार=तुषार=हिम (शीतलता, भावार्थ में गुण-वाचक) मन्दार=वृक्ष-विशेष, नवरंग=नवीन रंगवाली या नरंगी, एलची=इलायची, कुरवक एक वृक्ष, केवरो—केवड़ा केतकी-पुष्प-विशेष। झेलि रही—रस-राशि गिरा रही है।

भावार्थः—चारो ओर एक से एक मनोरम और सौरभीले, रंसीले तथा रँगीले पुष्प-वृक्ष शोभा दे रहे हैं।

अर्थः—इधर तो मालती (चमेली) महक रही है और सुन्दर चम्पा के फूल चित्त को चुरा रहे हैं, उधर कपूर की सुगंध से सना हुआ शीतल मलयानिल मंदार को हिला रहा है। इधर लौंग (नवीन रंग की या) नारंगी और इलाची रस-राशि बरसा रही है, और उधर कुरवक, केवड़े और केतकी के पुष्प सुगंधि से बसे हुये हैं।

नोटः—यहाँ "ओज-मनोज बढ़ावत" स्पष्ट रूप से सारांश को प्रकट करता है—सारी सामग्री तदर्थ ही है। देखिये सालंकारिक चातुरी-माधुरी-पूर्ण संगठित शब्द-संगठन।

इत तुलसी छवि हुलसी छाँडति परिमाल पूटे,
उत कमोद आमोद गोद भरि भरि सुख लूटे।
फूलनि माल बनाय लाल पहिरत, पहिरावत,
सुमन-सरोज सुधावर ओज मनोज बढावत ॥६१॥

शब्दार्थः—कमोद = पुष्प विशेष, गूँदे = गुँथित, मधुर ।

भावार्थः—वन में खिले हुये अनेकों प्रकार के पुष्पों को चुन कर तथा उनकी मालायें बना कर कृष्ण पहिनते और पहिनाते हैं—इस प्रकार उनके द्वारा हृदयों में मदनोत्तेजित करते हैं।

अर्थः—इधर तो छवि से हुलसी एवं तुलसी परिमल की छट छोड़ रही है, उधर कमोद गोद में आमोद-प्रमोद भर-भर मन लूट रहा है। इन सब पुष्पों को चुन-चुन कर और इनकी मालायें बनाकर कृष्ण पहिनते और पहिनाते हैं—सुमन (पुष्प या सुन्दर मन) या कमल के अमृत रस के श्रेष्ठ ओज से मदन को बढ़ा रहे हैं।

नोटः—सारे फूल सौरभीले, रसीले और रँगीले हैं—अतः मदनोत्तेजक हैं—शृंगार का सारा साज सजा है।—यह सम्पन्न उद्दीपन साज है।

टिप्पणी—कदाचित मातृ-स्नेह और जननी-प्रेम से बाध्य होकर नन्ददास जी हुलसी और तुलसी को श्लेष के पटल में रख रहे हैं, क्योंकि एक मत से नन्ददास हुलसी-सुत तुलसी के भाई माने जाते हैं—यह भी कुछ सूचित हो रहा है।

उज्जल मृदुल बालुका कोमल सुभग सुहाई,
श्री जमुना जी निज तरंग करि यह जु बनाई।
बैठे जहँ सुन्दर सुजान सुख के निधान हरि,
बिलसत विविध बिलास हास-रस हिय हुलास भरि ॥८२॥

शब्दार्थः—जु – जिसे = बनाई = बनाया है। करि—से, कर के, के द्वारा (विभक्ति के अर्थ में क्रिया-प्रयोग देखिये)।

भावार्थः—यमुना जी की बालुका पर बैठ कर कृष्ण जी हास-रस के आमोद-प्रमोद के साथ विलास लेने लगे।

भावार्थ :—गंभीर प्रेम-पूर्ण गोपियों में कुछ गर्व-भ्रम-पूर्ण भँवरें पड़ चलीं-अतः सत्प्रेम के प्रवर्धित करने के लिये कृष्ण जी सप्रेम किसी कुंज में जा छिपे।

अर्थ :—व्रजराज कुमार कृष्ण प्रेम के पुंज को और बढ़ाने के लिये हृदय में प्रेम भर कर सुंदर कुंज में तनिक जा छिपे।

नोट :—यहाँ पर तनिक भाव का प्रस्फुटन सुन्दर सा नहीं प्रतीत होता, गोपियों में अगाध प्रेम-रस है, इसी से उनमें कुछ सुन्दर गर्व का गर्तावर्त भी पड़ने लगा, कृष्ण ने उसे दूर करने तथा पावन-प्रेम का प्रवर्धन करने के लिये अपने को किसी कुंज में छिपा लिया। गोपियाँ वियोग से दुखी हुईं, इस प्रकार गोपियों को वियोग-व्यथा दिखाकर उन्हें सीधे, सच्चे, सरल मार्ग पर फिर वही प्रेमी कृष्ण लावेंगे। यही भक्तों के लिये भी जानिये। भक्त के वश में भगवान हो तो जाते हैं—किन्तु यदि भक्त को इससे कुछ गर्व हो गया—(जैसा होना प्रायः स्वाभाविक ही है)—तो कृष्ण भगवान उनसे दूर होकर उन्हें फिर सत्पथ पर ले आते हैं। धन्य हैं कृष्ण ! धन्य है तुम्हारी लीला ?

———

रासपंचाध्यायी

द्वितीय अध्याय

प्राक्कथन

इस अध्याय में जब गोपियों में कृष्ण को अपने वशीभूत कर लेने के कारण कुछ गर्व-गुमान आ गया, तब दर्प-दलन करने-वाले भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें त्याग दिया और निष्ठुर विरस वैमुखी-वृत्ति धारण कर केवल एक परम प्रिय गोपी (राधा ?) को साथ लेकर चले गये और अन्य सब गोपियों को विरह-व्यथा में छोड़ गये, जिससे उनका मान-गुमान या सर्व गर्व दूर हो जाये और उनमें पुनरेव शुद्ध प्रेम-नेम की निर्मल नित्य ज्योति जाग उठे। इसी प्रकार परमात्मा या भगवान अपनी प्रेम-गोपित आत्माओं तथा भक्तों के वश में होकर जब उनमें गर्व का संचार होते देखता है तब वह उन्हें त्याग देता तथा विरह-व्यथा की ज्वाला में तप-तप-कर शुद्ध प्रेम-हेम के रूप में निखार-कर निकलने के लिये छोड़ देता है—वह गर्व नहीं चाहता, क्योंकि गर्व ही तो प्रधान विकार है, उसका नाश करने वाले वही प्रभु हैं—क्योंकि इसी गर्व के कारण मनुष्य ईश्वर को भुला कर उसे कुछ न मानकर अहंमन्यता से भर कर अपने ही को सब कुछ समझने लगता है।

उस शुद्ध स्नेही सत्यानंद-स्वरूप भगवान के बिना जो जो दारुण दुःख आत्माओं को विरह-व्यथा की विषम ताप-त्रपा के करण होते हैं, वे उन्हें शुद्ध करने में तथा पुनरेव शुद्ध सत्य एवं नित्य प्रेम-नेम की प्रतिभा के प्रगट करने में पूर्णतया पर्याप्त होते हैं। विरह से ही चिरकालीन परिचय-जन्य अवज्ञा का

विकार ("चिरपरिचयादवज्ञा") दूर हो जाता है और सुन्दर सच्चे सुखद तथा शुद्ध चिरस्थायी प्रेम-प्रभा की नव जागृति होती है, प्रेम में नया प्रवर्धन तथा उसमें गंभीर दृढ़ता और शुद्ध सत्यता आती है।

गोपियाँ इसी विरहावस्था में व्याकुल हो वन में चारो ओर रोती,-विलपती ज्ञानापहृत एवं विवेक-रहित हो कृष्ण को खोजती हैं। वृक्षों बल्लरियों, वेलियों, पुष्पों, यमुना-तरंगों तथा पशु-पक्षियों से खोज पूछती हैं, उन्हें एक स्थान पर (राधा और कृष्ण के) पद-चिन्ह दिखाई देते हैं, वस वे वहीं रुक कर वहाँ की रज की वंदना कर मस्तक पर उसे धरती हैं और राधा की प्रशंसा करती हैं, उनमें कुछ द्वेष, दोष या रोष नहीं होता। आगे जाकर उन्हें एक स्थान पर, जहाँ कृष्ण ने राधा के लिये वेणी गूँधी थी, एक दर्पण मिलता है, उससे भी वे पूछती हैं, परन्तु उत्तर न पाकर परस्पर तर्क-वितर्क करती हैं और उसके वहाँ त्यक्त किये जाने का कारण स्वकल्पना से निश्चित करती हैं, और राधिका के भाग्य की सराहना-चाहना करती हुई आगे बढ़ती हैं।

राधिका में भी अभिमान आ गया और अन्यान्य गोपियों से अधिक मात्रा में, क्योंकि अन्य गोपियों की अपेक्षा इनका प्यार भी कृष्ण ने अधिक किया था, तब उन्होंने कृष्ण से यह कह कर कि मैं, जहाँ आप जा रहे हैं, वहाँ तक चल नहीं सकती, अतः मुझे अपने स्कंध-देश में बिठाकर ले चलिये यों रूपगर्विता की सी लीला रची। इसी से कृष्ण ने उसे भी त्याग दिया और कहीं छिप गये। गोपियों की भेंट कुछ ही दूर आगे जाने पर इस परि-त्यक्ता वियोगिनी राधा से हो गई उन्हें अपने ही समान या अधिक विरह-विकल देख गोपियों में सहानुभूति, करुणा, तथा समवेदना का भाव-चाव उमड़ आया, और उन्होंने उसे अपने

हृदयों से लगाकर बहुत आश्वासन या सान्त्वना-सुख दिया और अपने साथ लेकर यमुना-तट पर वे सब फिर लौट आईं।

गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में ऐसी लीन हो जाती हैं कि वे अपने को कृष्ण ही के रूप में मानने-जानने तथा तदनुकूल सब कुछ करने, कहने लगती हैं। यह तल्लीनता का भाव उन्हें गर्व से दूर हटाकर फिर कृष्ण के सत्य, शुद्ध प्रेम-नेम के सागर में निमग्न कर देता है, जिसके प्रतीकार के रूप में उन्हें फिर कृष्ण के सम्मिलन का संयोग या शुभावसर प्राप्त होता है।

इस अध्याय में भी आद्योपान्त वही रोला छंद है, हाँ ८ पक्तिओं के पश्चात् एक दोहा अवश्य है, विप्रलंभ शृंगार स्थायी रूप से चलता है, बीच बीच में करुणा, स्मृति, दया, समवेदना, सहानुभूति एवं सान्त्वना के भाव बड़े ही चोखे-अनोखे रंग-ढंग से भाव-गांभीर्य और सुन्दर सरसता के साथ आये हैं। भावपूर्ण अर्थालंकारों के अतिरिक्त, जिनमें उत्प्रेक्षा मुख्य हैं, शब्दालंकार भी बड़े चटकीले आये हैं। यमक, लाट, छेक, वृत्ति आदि अनुप्रास माधुर्य-चातुर्य के साथ वस्तुतः कविता को अलंकृत कर दूनी-चौगुनी समा-सुषमा देते हैं। लीला हाव भी अनोखा-चोखा है।

मधुर वस्तु जो खाय निरन्तर सुख तौ भारी,
बीच बीच कटु, अम्ल कटुक लिय अति रुचिकारी।
ज्यौं पट पुट के दिये निपट अति रसहिं चढै रँग,
तैसेहि रंचक विरह प्रेम के पुंज बढै अँग ॥१॥

शब्दार्थ :—पुट—पुट लगाना, कुछ मिलाव देना, रसहिं—शोभा को, अँग—शरीर, मन (लक्षणा से)।

भावार्थ :—जिस प्रकार माधुर्य-रस और रसों अर्थात् कटु और अम्ल आदि के व्यवधान से अधिक रोचक या रुचिकर हो

जाता है तथा जैसे किसी प्रकार के मिलाव से रंगों की शोभा वढ़ जाती है वैसे ही विरह के तनिक दुःख से प्रेम-रस का सुख और भी अधिक वढ़ जाता है।

अर्थ :—यदि सदैव मधुर पदार्थ ही खाने को मिलें तो वड़ा सुख मिलता है, किन्तु यदि वीच-वीच में कुछ कड़ुवे और अम्ल रस के पदार्थ भी मिलें तो अत्यंत रुचिकारी और रोचक होता है। जिस प्रकार रंग में कुछ दूसरा पुट देकर वस्त्र के रँगने से रंग में और शोभा आ जाती है, वैसे ही थोड़ी सी (अल्पकालिक) विरह के आ जाने से हृदय में प्रेम की पुंजता और वढ़ जाती है।

नोट :—कवि ने उदाहरण भी सरस शृङ्गार के परिपोषक ही चुने हैं। कवि को अभीष्ट रस का उद्रेक कराने के लिये, तदुपयुक्त व्यापार, व्यवहार, पदार्थ, उदाहरण, समय, स्थानादि को रखना चाहिये। यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण ने यह वियोग-दुःख गोपियों को चिर-परिचय-जन्य अनीप्सित विकार के दूर करने को उनके मधुर प्रेम में नवागत कालिमा, तथा उनके मानसों में सरसता के कारण उत्पन्न कुछ दूषित पंक के, विरह-व्यथा-जनित अश्रु-धार-प्रपात और तत्ताप के नष्ट करने को दिया, जिससे फिर से प्रेम-नेम का सरस सम्बन्ध नया हो जाये। सुखद प्रेम-रस की श्री-वृद्धि के लिये ही, न कि दुख-ताप की वृद्धि के लिये कृष्ण ने यह विरह-व्यथा दी थी। वियोग-ज्वालाग्नि में वे प्रेम-हेम को शुद्ध कर कंचन करना चाहते थे, उसकी पाहन सी जड़ता या कठिनता के हटाने को उसे पिघलाना उन्हें इष्ट था, क्योंकि पिघले हुये सुवर्ण को किसी भी रूप में रुचि के अनुसार रख सकते हैं। विरहोत्कर्ष से श्रीकृष्ण गोपियों को आत्म-चिन्ता, ध्रुव, ध्यान, स्मृति, स्वव्यापकता, आत्मा में ही इष्ट देव की विद्य-मानता, तद्दर्शनानुभव और सधैर्य प्रेम-नेम की निश्चल साधना

की स्थिरता आदि उच्च बातों का पाठ पढ़ाना चाहते थे, जिनसे ब्रह्म की प्राप्ति तथा मुक्तिमयी सुख-समाधि की शान्ति प्राप्त होती है और आत्मा विकार-विहीन हो परम शुद्ध हो जाती है।

ये ही बातें योग तथा ज्ञान से भी साध्य हैं, किन्तु वह मार्ग प्रौढ़ ज्ञानियों के लिये है, स्त्रियों के लिये नहीं, जिनमें मनुष्यों की भाँति विवेक की प्रबल प्रखरता का प्राधान्य नहीं, वरन् मंजु, मृदुल, सरस हृदय की ही प्रधानता विशेष रूप से है, उनके लिये तो भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास तथा सरस-सौंदर्य-सुख का, मार्ग होना चाहिये।

जिनकैं नैन-निमेष ओट कोटिक जुग जाहीं,
तिनकौ गृह वन-कुंज-ओट-दुख गनना नाहीं।
ठगी गईं ब्रज-बाल लाल गिरधर पिय बिन यौं,
निधन महाधन पाय बहुरि फिरि जाय भयौ ज्यौं ॥२॥

शब्दार्थ :—ओट—छिपना, बन्द होना, नाहीं—नहीं है। फिरि जाय—खो जाने पर।

भावार्थ :—भगवान कृष्ण क्षण में ही नेत्रों से अगोचरीभूत हो गये, और गोपियाँ पाये हुये धन के खो जाने पर होनेवाली दशा को प्राप्त हो गईं।

अर्थ :—जिनके नेत्रों के एक निमेष में ही करोड़ों युग बीत जाते हैं, उनके लिये घर, वन और कुंज में अन्तर्धान होने के दुखद समय की गणना नहीं है—अर्थात् वे अल्पाति अल्प-काल में ही अप्रगट हो सकते हैं। ब्रज-बालायें बिना गिरधर प्यारे के इस प्रकार हो गईं; जैसे निर्धनी व्यक्ति पाये हुये बहुत धन के खो जाने से ठगा सा रह जाता है।

नोट :—कवि कृष्ण भगवान की महत्ता बतलाता हुआ कहता है कि उनके लिये समय की गणना नहीं, समय केवल

मानवीय कल्पना-कृत सूर्य-चन्द्रावनि की गति पर आधारित एक खेल है, मनोवैज्ञानिकों का भी यही विचार है कि समय केवल मनोगत विचार-लहरों की गति-वेग का ही प्रतिविंव-पूर्ण कौतुक ही हैं, यह काल्पनिक है। दार्शनिक भी इसे काल्पनिक मानते हैं। पुराणों में ऐसी कथायें हैं जिनसे समय का केवल काल्पनिक होना ही सूचित है—पाश्चात्य दार्शनिक भी यही कहते हैं—(देखो बार्कले की थिवुरी आफ टाइम ऐंड स्पेस) किन्तु विश्व के नव-पदार्थों में से काल (समय ?) को भी एक पदार्थ माना गया है—"पृथ्व्यप्तेजो-वाय्वाकाश-काल-दिगात्ममनांसि नवैव" तर्क-संहिता—साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि भगवान कृष्ण को गोपियों से विलग होने में वियोग-दुःख का कोई अनुभव न हुआ – क्योंकि उन्हें गोपियों ने अपने मान-गुमान से रुष्ट कर दिया था, तथा गोपियाँ उनसे उनके लिये पृथक न थीं, वे विलग केवल मानवीय-दृष्टि के लिये थीं, और भगवान उनके हृदयों में और वे भगवान के हृदय में थीं—अतः वियोग कैसा, वे अपनी अज्ञानता से अपने को विश्वम्भर कृष्ण से भले ही विलग मानती रही हों, फिर पुरुषों का (भगवान - पुरुष नामधारी हैं) हृदय स्त्रियों के हृदय की अपेक्षा कुछ कठिन होता है। पुरुष में विवेक की, न कि भावना की प्रधानता रहती है, अतः उसे वियोग इतना नहीं खलता। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनिकुसुमादपि। नराणाम् हि चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हति"—भवभूति।

दो०—कुंज-कुंज ढूँढ़त फिरीं, खोजत दीन-दयाल,
प्राननाथ पाये नहीं, विकल भईं ब्रज-बाल ॥३॥

शब्दार्थः—स्पष्ट, सरल है।

भावार्थः—स्पष्ट है।

अर्थ :—दीन-दयालु कृष्ण को वे गोपियाँ प्रत्येक-कुंज में ढूँढती हुई घूमीं, परन्तु अपने प्राणेश्वर को कहीं भी न पाकर अत्यंत विकल हुईं।

द्वै गईं विरह-विकल सब पूँछति द्रुम-वेली वन,
को जड़, को चैतन्य कछु न जानत विरही जन।
हे मालति! हे जाति जूथिके सुन हित दै चित,
मान-हरन मनहरन लाल गिरधर न लखे इत ॥४॥

शब्दार्थ :—सरल है—इत—इतः (सं०)=इधर।

भावार्थः—कृष्ण को सारे वन में ढूँढने पर भी कहीं न पाकर गोपियाँ विरह-व्यथित हो लता-विटपों से जड़-चेतन का भेद न रख कर पूछने लगीं कि क्या तुमने कृष्ण को इधर कहीं देखा है।

अर्थः—तब सब विरह से व्याकुल होकर वन की सब वृक्ष तथा वेलि-मालाओं से पूछने लगीं। विरही-व्यक्ति जड़ और चैतन्य का विचार नहीं रखता। हे मालति! हे यूथिके! हित से तनिक चित लगाकर सुनो, क्या तुमने मान के नाश करने वाले और मन के हरने वाले गिरधर लाल को इधर कहीं देखा है!

नोटः—गोपियाँ हास्य-वश उन्हें छिप गया हुआ मानती हैं, अतः प्रथम सर्वत्र खोजती हैं, किन्तु न पाने पर विरह-व्यथित होती हैं—वे भूल जाती हैं कि उन्हें वे घर में जाकर देखें, कहीं वे घर न चले गये हों? प्रेमाकुलता ही विरह-व्याकुलता हो गई है। खोजना जैसे स्वाभाविक है, वैसे ही वियोग-विकला हो लता-विटपों से पूछना आदि भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनकी बुद्धि विरह-व्यथित हो कर जड़-चेतन का भेद नहीं देख सकती—साहित्य में सदैव विरह-व्याकुलता में ऐसा ही चित्रण हुआ है—राम, सीता के

वियोग से व्याकुल हो ऐसा ही करते हैं:-रे वृक्षाः पर्वतस्थाः, गिरि-गहनलताः वायुनावीज्य मानाः,रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोक तापेनदग्धाः बिम्बोष्टी चारु नेत्री सुविपुल जघना बद्धनागेन्द्र-काँची,हा सीता ! केन नीता ! ममहृदयगता,कोभवान् केन दृष्टा ॥

—हनुमन्नाटके—

ऐसा ही दमयन्ती भी नल के वियोग में करती है। तुलसीदास जी भी ऐसा ही लिखते हैं—"हे खग,मृग, हे मधुकर स्रे नी। तुम देखी सीता मृगनैनी !"' इत्यादि—मेघदूत में भी कालिदास ने कहा है कि "कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु"—("कामी की हो कृपण प्रकृती, चेतना-चेतनों में"—पं० कु. वि. ला. -"मेघदूत-विहार")—"कामातुर होत हैं, सदा ई मति-हीन तिन्हैं चेत औ अचेत माँहि भेद का लखावै गों"—राजा लक्ष्मणसिंह।

किन्तु गोपियों में कामातुरता तो न थी, वे प्रथम ही शान्त कर दी गई थीं। (देखो प्रथम अध्याय का अंतिमांश) अतः इच्छार्थ में काम शब्द को लेना उचित है। गोपियाँ स्वापराध को जानकर कहती हैं कि श्रीकृष्ण "मान-हरन'" मान को दूर करने वाले हैं साथ ही उन्हें "मनहरन" कह कर प्रेम भी प्रगट करती हैं, जिससे यदि कृष्ण छिपे हों तो वे प्रगट हो जायें। बढ़िया-वाक्य-विन्यास है, सुन्दर शब्द-संगठन और चारु पद है।

हे केतकि ! इततैं कितहूँ चितये पिय रूसे,
नँदनंदन धौं मन्द मुसुकि तुम्हरे मन मूसे।
हे मुक्ताफल, बेल धरे मुक्ताफल - माला,
देखे नैन - बिसाल कहूँ मोहन नँद - लाला ॥४॥

शब्दार्थ :—रूसे—क्रु०—रूठे हुये, मूसे—क्रु०—मूस लेना, ठग लेना, मुसुकि—मुसुकाकर।

भावार्थ:—स्पष्ट है।

अर्थ:—हे केतकि! इधर से किसी ओर जाते हुये क्या तुमने रुष्ट प्रिय कृष्ण को देखा है? क्या नंद-नंदन ने मंद मुसकान से तुम्हारे भी मन चुरा लिये हैं? मुक्ताफल की माला धारण किये हुई हे मुक्ताफल की वल्लरी! क्या तुमने ।विशाल नेत्र वाले, मोहन नंद-कुमार को देखा है।

नोट:—इस प्रसंग में अनुप्रास तथा मंजुल वर्णों की छटा देखिये।

हे मन्दार उदार! वीर करवीर! महामति,
देखे कहुँ बलबीर धीर मनहरन धीर-गति।
हे चन्दन! दुख-दन्दन सब की जरन जुड़ावहु,
नँद-नन्दन जग-वन्दन चन्दन हमहिं बतावहु॥६॥

शब्दार्थ:—मन्दार एवं करवीर=विटप-विशेष, बलबीर-धीर=बलराम के धैर्य=अर्थात् बलराम को धैर्य देने वाले, वीर दुख-दन्दन=दुख को पीड़ा देने वाला=दुख-नाशक, सुखद—

भावार्थ:–स्पष्ट है?

अर्थ:—हे उदार मंदार! हे वीर करवीर (महामति) क्या तुमने बलवीर के धीर-वीर, मन हरने वाले और धीर गति वाले (कृष्ण) को देखा है?, हे चन्दन! तुम दुख के नाश करने वाले हो तथा सब के ताप (जलन) को शान्त करके उर को शीतल करने वाले हो, अतः हमें नंद-नन्दन और जगत-वंद्य चंदन को बतलाओ।

नोट:—सार्थक अनुप्रास यही है। चन्दन पद साभिप्राय है, वह स्वभावतः ही शीतल करता है, वैसे ही जग-वंदन-चन्दन नंदवंदन भी हैं, अतः दोनों मित्र होंगे—प्रकृति-साम्य से मैत्री होती है। साथ ही चन्दन से इसीलिये विशेषतः

पूछा है, क्योंकि वह ताप को दूर कर शीतल शान्ति देने वाला है, अतः उसे कृष्ण की खोज बता कर हमें शान्त करना चाहिये। आगे देखिये सुन्दर भाव-पोषक उत्प्रेक्षायें हैं, प्रस्तुत से अप्रस्तुत का सादृश्य-मूलक सजीव चित्रण है।

पूछौ री इन लतनि फूलि रहिं फूलनि जोई,
सुंदर पिय कैं परस बिना अस फूल न होई।
हे सखि ! हे मृग-बधू ! इन्हैं किन पूछहु अनुसरि,
डहडह इनके नैन अबहिं कहुं देखे हैं हरि ॥७॥

शब्दार्थः—फूलनि—फूलों से (देखो "से" विभक्ति का लोप) फूलि रहिं = प्रफुल्लित या प्रसन्न हो फूल रही हैं, परस—स्पर्श, फूल—प्रफुल्लता, अनुसरि—पीछे पीछे जाकर।

भावार्थः—फूली हुई लताओं से पूछो क्योंकि प्रिय-स्पर्श के बिना इनमें ऐसी प्रफुल्लता न आती। साथ ही मृगियों से पूछो, क्योंकि इनके डबडबाये हुये नेत्रों ने अभी ही हरि को देखा है।

अर्थः—एक सखी कह रही है, कि अरी इन लताओं से पूछो, जो फूलों से फूल रही हैं (ये अवश्यमेव हमारे प्रिय कृष्ण का पता जानती होंगीं क्योंकि) बिना सुन्दर प्रिय का स्पर्श पाये ऐसी प्रफुल्लता इनमें न होती। हे सखी ! इन मृगवधुओं (मृगियों) से इनके छीछे पीछे जाकर क्यों नहीं पूछती हो, क्योंकि इनके डबडबाये हुये नेत्र प्रकट करते हैं कि इन्होंने अभी ही कहीं हरि को देखा है।

नोटः—देखिये फूल शब्द को श्लिष्ट कर मार्मिक भाव व्यंजित किया गया है। प्रिय-स्पर्श में शरीर में प्रफुल्लता आती है, वह पुलकावली तथा रोमाञ्च मे कुछ कुछ फूल सा जाता है। (देखो रति-रहस्य)। मानव-मानस स्वदशा का प्रत्यक्षानुभव प्रकृति में तत्प्रतिबिम्ब को देख करता है। प्रकृति उसी रूप-रंग में

दीखती है जिस रूप-रस के भाव से मानव उसे देखता है। तत्व-वेत्ताओं का कथन है कि सारा संसार हार्दिक विचारों या भावनाओं के रूपों में ही मिलता है। संसार कल्पना-कृत है, उसकी महत्ता-सत्ता विचारों पर निर्भर है, ऐसा ही वर्कले का भी मत है। एक दूसरा पक्ष भी यहाँ प्रगट होता है, जिससे तात्पर्य यह है कि सारा संसार परमात्मा या आत्मा का प्रतिविम्ब मात्र है, अथवा मानसिक भावों-भावनाओं का प्रतिरूप है। दुखी को विश्व दुःख-स्वरूप तथा सुखी को वही सुखरूप है। पृथक सत्ता के रखने पर तो ऐसा न होता। सुख-दुःखादि भावनायें मन या मस्तिष्क से पृथक अस्तित्व नहीं रखतीं, अतः इनसे सम्बन्ध रखने वाला विश्व भी कल्पनाकृत है। इसके साथ ही प्रतिविम्ब वाद या छाया वाद, संसार को मन-दर्पण गत प्रतिविम्ब ही कहता है। अतः यहाँ कई सिद्धान्तों की झलक है।

अहो सुभग वन-सुरभि-पवन सँग थिर जु रही चलि,
सुख सु-भवन दुख-दमन रमन इततैं चितये वलि।
हे चम्पक! हे कुसुम! तुम्हैं छवि सब सौं न्यारी,
नेक वताय जु देउ जहाँ हरि कुंज-विहारी ॥८॥

शब्दार्थ:—जु—जू (आदर-सूचक पद, जैसे "जी") तुम्हैं—तुमको (तुममें, देखिये अधिकरण के स्थान पर उसी अर्थ के लिये कर्म-कारक का प्रयोग) थिर—स्थिरता से, मंद-मंद या रुक-रुक कर, चितये—देखे।

भावार्थ:—स्पष्ट है।

अर्थ:—ऐ सुन्दर वन की सुरभि! तू पवन के साथ स्थिरता या मंद-मंद गति से रुक-रुक कर चल या आ रही है, कह क्या तूने दुख को दमन करने वाले, सुख के सदन तथा रमण करने वाले, (कृष्ण) को इधर से कहीं जाते देखा है। हे चम्पक!

हे ! पुष्पो ! तुम्हारी सुन्दरता सब से निराली है, तनिक वह स्थान बता तो दो जहाँ श्री कुंज-बिहारी कृष्ण हैं ।

नोटः—गोपियाँ कभी पुरुषवाची (पुंल्लिंग संज्ञात्मक) वृक्षों तथा पशुओं से कृष्ण का पता पूछती हैं, इस विचार से कि पुरुष-पुरुष का मर्म जानता है—किन्तु उनसे उत्तर न पाकर वे सोचती हैं कि ये सब पुरुष होकर कृष्ण से ही कठोर हैं, उनका भेद न बतावेंगे, तब वे स्त्रीलिंग संज्ञक लता-वेलियों तथा मृगियों आदि से पूछती हैं, इस विचार से कि ये हमारे से स्त्री-स्वभाव की हैं, अतः स्वभावतः हमसे सहानुभूति-समवेदना रख हमें सान्त्वना देंगी, क्योंकि इनके भी हमारा ही सा हृदय है । मार्मिक उक्ति है । फूलों से भी, कृष्ण को बन के पुष्पों का प्रेमी-वनमाली (वनमाल के वास्ते) जान कर वे पूछती हैं, वे उन्हें सुमन (सु—सुन्दर मन—हृदय वाला) समझती हैं ।

हे कदम्ब ! हे निंब ! अम्ब ! क्यौं रहे मौन गहि,
वट उतंग हे सुरँग वीर कहु तुम इत उत लहि ।
असोक हे ! हरि सोक, लोकमनि पियहि बतावहु,
अहो पनस सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु ॥६॥

शब्दार्थः—लहि—लखि, पाकर, असोक—एक वृक्ष, शोक-रहित, अमिय—अमृत ।

भावार्थः—हे कदम्ब, अम्ब, निम्ब ! क्यों चुप हो, हे वट वृक्ष ! तुम्हीं बताओ, हे अशोक कृष्ण की खोज बता कर शोक हरो, हे पनस तुम मरती हुई गोपियों को आकर सुरसामृत पिलाओ ।

अर्थः—हे कदम्ब ! निम्ब ! हे आम्र ! तुम सब क्यों चुप हो रहे हो । हे सुन्दर रंग वाले ऊँचे वट ! कहो तुमने कहीं इधर उधर उन्हें देखा है । हे अशोक ! लोक-मणि प्रिय कृष्ण को बताओ और हमें अशोक (अ—नहीं—शोक—दुख) करो या

हमारा शोक नाश करो, क्योंकि तुम स्वयमेव अशोक हो, अतः "यथा नाम तथा गुणः" होना ही चाहिये। तुम्हें दुख दूर करना या शोक हरना चाहिये, न कि दुःख-शोक देना चाहिये। हे शुभ सरस हृदयी पनस (कटहल) तुम मरती हुई स्त्रियों को अमृत पिलाओ। इसी वट के नीचे रास हुआ था।

नोटः—सुन्दर स्वाभाविक साभिप्राय, सेहतुक शब्द-प्रयोग तथा चातुर्य-माधुर्य-पूर्ण वर्णन है। अशोक को अपना नाम सार्थक करने के लिये कृष्ण का पता बताना चाहिये। पनस सरस है, अतः उसे सरसता दिखानी चाहिये। सरस वृक्ष ही यहाँ चुने गये हैं। हाँ, बीच में कटु निम्ब या नीम एक अवश्य है, कदाचित तन-ताप के नाशार्थ ही है, क्योंकि नीम ठंढी, और ताप-नाशक है, अतः उसे भी रखना चाहिये। कभी-कभी कटु स्वाभाव वाले भी हित-कारक होते हैं।

जमुन-निकट के विटप पूछि भईं निपट उदासी,
क्यौं कहिहैं सखि अति कठोर ये तीरथ-बासी।
हे जमुना! सब जानि-बूझि तुम हठहिं गहति हौ,
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट वहति हौ ॥१०॥

शब्दार्थ:—वहति हौ—धारण करती या प्रवाहित करती हो।

भावार्थ:- वृक्षों आदि को उत्तर न देते हुये देख कर गोपियाँ यमुना जी से उनके जल की तथा उनकी प्रशंसा करके पूछती हैं, परन्तु उत्तर नहीं पातीं।

अर्थ:—गोपियाँ यमुना जी के निकटवर्ती वृक्षों से पूछ कर (और कोई उत्तर न पाकर) बहुत उदास हुईं, और परस्पर यों कहने लगीं कि हे सखियो? ये तीर्थवासी निष्ठुर और कठोर हैं, अतः ये क्यों कुछ बोलने लगे। अतः इनसे पूछना छोड़ कर

हे ! पुष्पो ! तुम्हारी सुन्दरता सब से निराली है, तनिक वह स्थान बता तो दो जहाँ श्री कुंज-बिहारी कृष्ण हैं।

नोटः—गोपियाँ कभी पुरुषवाची (पुंल्लिंग संज्ञात्मक) वृक्षों तथा पशुओं से कृष्ण का पता पूछती हैं, इस विचार से कि पुरुष-पुरुष का मर्म जानता है—किन्तु उनसे उत्तर न पाकर वे सोचती हैं कि ये सब पुरुष होकर कृष्ण से ही कठोर हैं, उनका भेद न बतावेंगे, तब वे स्त्रीलिंग संज्ञक लता-बेलियों तथा मृगियों आदि से पूछती हैं, इस विचार से कि ये हमारे से स्त्री-स्वभाव की हैं, अतः स्वभावतः हमसे सहानुभूति-समवेदना रख हमें सान्त्वना देंगी, क्योंकि इनके भी हमारा ही सा हृदय है। मार्मिक उक्ति है। फूलों से भी, कृष्ण को बन के पुष्पों का प्रेमी-वनमाली (वनमाल के वास्ते) जान कर वे पूछती हैं, वे उन्हें सुमन (सु—सुन्दर मन—हृदय वाला) समझती हैं।

हे कदम्ब ! हे निंब ! अम्ब ! क्यौं रहे मौन गहि,
वट उतंग हे सुरँग बीर कहु तुम इत उत लहि।
असोक हे ! हरि सोक, लोकमनि पियहि बतावहु,
अहो पनस सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु ॥६॥

शब्दार्थः—लहि—लखि, पाकर, असोक—एक वृक्ष, शोक-रहित, अमिय—अमृत।

भावार्थः—हे कदम्ब, अम्ब, निम्ब ! क्यों चुप हो, हे वट वृक्ष ! तुम्हीं बताओ, हे अशोक कृष्ण की खोज बता कर शोक हरो, हे पनस तुम मरती हुई गोपियों को आकर सुरसामृत पिलाओ।

अर्थः—हे कदम्ब ! निम्ब ! हे आम्र ! तुम सब क्यों चुप हो रहे हो। हे सुन्दर रंग वाले ऊँचे वट ! कहो तुमने कहीं इधर उधर उन्हें देखा है। हे अशोक ! लोक-मणि प्रिय कृष्ण को बताओ और हमें अशोक (अ—नहीं—शोक—दुख) करो या

हमारा शोक नाश करो, क्योंकि तुम स्वयमेव अशोक हो, अतः "यथा नाम तथा गुणः" होना ही चाहिये। तुम्हें दुख दूर करना या शोक हरना चाहिये, न कि दुःख-शोक देना चाहिये। हे शुभ सरस हृदयी पनस (कटहल) तुम मरती हुई स्त्रियों को अमृत पिलाओ। इसी वट के नीचे रास हुआ था।

नोटः—सुन्दर स्वाभाविक साभिप्राय, सेहतुक शब्द-प्रयोग तथा चातुर्य-माधुर्य-पूर्ण वर्णन है। अशोक को अपना नाम सार्थक करने के लिये कृष्ण का पता बताना चाहिये। पनस सरस है, अतः उसे सरसता दिखानी चाहिये। सरस वृक्ष ही यहाँ चुने गये हैं। हाँ, बीच में कटु निम्ब या नीम एक अवश्य है, कदाचित तन-ताप के नाशार्थ ही है, क्योंकि नीम ठंढी, और ताप-नाशक है, अतः उसे भी रखना चाहिये। कभी-कभी कटु स्वाभाव वाले भी हित-कारक होते हैं।

जमुन-निकट के विटप पूछि भईं निपट उदासी,
क्यौं कहिहैं सखि अति कठोर ये तीरथ-वासी।
हे जमुना! सब जानि-बूझि तुम हठहिं गहति हौ,
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट वहति हौ॥१०॥

शब्दार्थः—वहति हौ—धारण करती या प्रवाहित करती हो।

भावार्थः- वृक्षों आदि को उत्तर न देते हुये देख कर गोपियाँ यमुना जी से उनके जल की तथा उनकी प्रशंसा करके पूछती हैं, परन्तु उत्तर नहीं पातीं।

अर्थः—गोपियाँ यमुना जी के निकटवर्ती वृक्षों से पूछ कर (और कोई उत्तर न पाकर) बहुत उदास हुईं, और परस्पर यों कहने लगीं कि हे सखियो? ये तीर्थवासी निष्ठुर और कठोर हैं, अतः ये क्यों कुछ बोलने लगे। अतः इनसे पूछता छोड़ कर

आगे यमुना जी से कहती या पूछती हैं, परन्तु उन्हें भी निरुत्तर पाकर कहती हैं कि ऐ यमुने ! तुम सब जान-बूझ कर भी हठ धारण कर रही हो, यद्यपि संसार के उद्धार करने वाले जल को प्रगट रूप में प्रवाहित करती हो।

नोट :—तीर्थ-निवासी महंत या साधु-समाज अथवा यमुना-तट-वासी पंडों आदि की कठोरता तथा निष्ठुर रीति-नीति की भी व्यंजना यहाँ है। ये कभी हरि की खोज या उनका पता नहीं वताते, (इस कारण कि वे स्वयमेव अनभिज्ञ होते हैं—नहीं, किन्तु इस कारण कि वे कठोर होते हैं, दुखी आत्माओं के प्रति उनमें सहानुभूति एवं समवेदना नहीं होती)। इससे तीरथवासी समाज का सामयिक या साधारण स्वभाव चित्रित किया गया है। संसार को शुद्ध करने वाले तथा जीवन देने वाले जल को भी धारण कर सरस हृदया होकर भी यमुना गोपियों की प्रार्थना नहीं सुनतीं, खेद एवं दुख का विषय है—यह उनका हठ है।

अहो कमल ! सुभ-वरन कहौ तुम कहुँ हरि निरखे,
कमल-माल वनमाल कमलकर अतिहीं हरखे।
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित-चोर हमारे,
राखे कितहुँ दुराय वताय न देहु पियारे॥११॥

शब्दार्थ :—कमलकर=कमल-स्वरूपी हाथों वाले या कर में कमल धारण करने वाले।

भावार्थ :—कमलों से कमल-माल तथा कर में कमल धारण करने वाले पद्मपाणि प्रसन्न वदन हरि को, तथा पृथ्वी से चित्त-चुराने वाले कृष्ण को तथा आगे प्रभु-पद प्रीता तुलसी से भी नन्द-नन्दन को गोपियाँ पूछती हैं और अँधेरे कुंजों में भी अपने मुख-चन्द्र के प्रकाश से चली जाती हैं।

नहीं बदला, अब भी उनका मुख-चंद्र चंद्रिका छिटकाता है—अभी उनमें संयोगाशा की आभा है—अतः उनकी कान्ति अक्लान्त है, नहीं तो मलिन हो जाती। कृष्ण-प्रेम-भक्ति की तम-हारी प्रतिभा उनमें है। गोपियाँ सब से कृष्ण की खोज पूछ चुकीं, प्रकृति में कोई उन्हें बता न सका—बताता कैसे प्रकृति से परे को प्रकृति से परे रहने वाले ही जान-जना सकते हैं। प्रकृति वाले क्या जाने। भक्त को भगवान का पता संसार में कौन बतावे—"सोइ जानै जेहि देहिं जनाई"—जनावे तो वही भगवान जनावे। तब वे फिर आत्म ज्ञान या भक्ति (प्रीति-प्रतीति) से पूछती हैं और उसीसे ठीक पता पाती हैं और उसी पते से खोज कर हरि का दर्श-स्पर्श-सुख प्राप्त करती हैं। सराहनीय सार्थक शब्द-संगठन; और लालित्यपूर्ण अर्थ-गौरव है। सार्थक अनुप्रासों एवं अलंकारों की छवि-छटा है, काव्य में दार्शनिक तत्व-ज्ञान का सामीचीन सामंजस्य है। प्रत्येक शब्द अपनी महत्ता-सत्ता भाव-सार्थकता के साथ रखता है।

हे तुलसी कल्यानि ! सदा गोविँद-पद-प्यारी,
क्यों न कहो तुम नन्द-सुवन सौं बिथा हमारी।
जहँ आवत तम - कुंज - पुञ्ज-गहवर-तरु-छाहीं,
अपने मुख चाँदने चलत सुन्दर वन माहीं ॥१२॥

शब्दार्थ :—सुवन—पुत्र, सुत, बिथा (व्यथा-सं.) व्यथा, गवहर—(सं. गह्वर) गह्वर, गहरा।

भावार्थ :—गोविन्दपदानुरक्ते ! हे-तुलसिके ! तुम कृष्ण से क्यों हमारी व्यथा नहीं कहतीं। यों कहती हुई जहाँ कुंजादि की छाँह में वे आती हैं वहीं अपने मुख-चंद्र का प्रकाश कर चली जाती हैं।

अर्थ :—हे कल्याणी, गोविन्द-पद-प्रीते तुलसी, क्यों तुम

नन्द-नन्दन से हमारी व्यथा नहीं कहतीं। इस प्रकार वे वन में विलपती जाती हैं। जहाँ तमपूर्ण कुंज-गह्वर य तरु-पुंज के नीचे वे आती हैं, वहाँ उनकी मुख-चंद्र-चंद्रिका से प्रकाश हो जाता है।

इहि विधि वन वन ढूँढि बूझि उनमत की नाईं,
करन लगीं मनहरन लाल-लीला मन भाई।
मोहन लाल रसाल कि लीला इनहीं सोहैं,
केवल तन्मय भईं कछु न जानैं हम को हैं ॥१३॥

शब्दार्थ :—ढूँढि, बूझि—ढूँढ और पूछ कर (पूर्वकालिक क्रियायें हैं, केवल "इ" अंतिम वर्ण में जोड़ कर बनाई गई हैं—संयुक्तावस्था में प्रत्यय हैं—इन्हें खड़ी बोली के विश्लेपात्मक रूपों से मिलाओ) नाईं—समान, सोहैं—फबती हैं, शोभा देती हैं, को—कौन।

भावार्थ :—चारों ओर वन में ढूँढ कर और पूछ पूछ कर वे हार गईं, तथा प्रेम-रसावेश से भाव-मग्न हो तल्लीन और तन्मय हो कर कृष्ण की लीला करने लगीं। वह उन्हें ही शोभा देती है। वे नहीं जानतीं कि हम कौन हैं।

अर्थ :—इस प्रकार वे सारे वन में उन्मत्त के समान पूछ कर तथा ढूँढ कर (प्रेमावेश से तल्लीन और तन्मय होकर) गोपाल लाल की मन के हरने वाली रोचक लीला करने लगीं। क्या इन्हें मोहन की सरस लीला भली लगती है ? (कदापि नहीं—क्यों, उससे स्मृति वढ़ेगी, जिससे वियोग-व्यथा की दूनी वृद्धि होवेगी) साथ ही उनको कृष्ण का अनुकरण या नकल करना सर्वथा अनुचित है—वह इनको शोभा नहीं देता, उन्हें नहीं फबता, (क्योंकि बड़े आदमियों की नक़ल करना मानों उनका अपमान कर उनकी हँसी उड़ाना है) किन्तु इसका

कारण यही है कि वे अपने होश में नहीं हैं—आपे से बाहर हैं—वे प्रेमावेश से तन्मय (कृष्णमय) हो गई हैं, और यह नहीं जानतीं कि हम कौन हैं—(क्या, कहाँ, किस प्रकार कर रहीं हैं)। यह लीला हाव है, जो भावावेश कृत है। यह इन्हीं को फवना है।

नोट :—अब यहाँ से कवि गोपियों की प्रेमावेश-जनित कृष्ण-लीला का वर्णन उठाता है—जब कोई भाव दृढ़ और प्रगट होकर दूसरे भावों पर प्रभावी हो जाता है तब वह आङ्गिक क्रियाओं के रूप में स्वभावतः आ जाता है - इच्छा के न रहते हुये भी ऐसा होता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त यहाँ चारुता से घटित किया गया है—यही तन्मयता वस्तु की अविद्यमानता में भी उसकी विद्यमानता दिखाती है, तदनुकूल दशा को प्राप्त करती है—इसी को योगी और भक्त प्राप्त करना चाहते हैं, और तदर्थ सब प्रकार निरंतर यत्न करते हैं, आराध्य का गुण-कीर्तन, भजनार्चन, तथा तद्ध्यान-दर्शनादि इसके लिए साधन-रूप हैं—तल्लीनता एवं तन्मयता की अंतिम स्थिति ही समाधि है, समाधि में तन्मयता आंगिक क्रियाओं में नहीं आ पाती, क्योंकि अंग-प्रत्यंग प्रथम ही शान्त कर दिये जाते हैं—तभी यह अलौकिक आनन्द देती है—प्रेम के कारण प्राकृतिक रूप में यही तन्मयता प्रकट होती है तथा योग और ज्ञान से जन्य आनन्द सा देती है।

हरि की सी सब चलनि विलोकनि हरि की हेरनि,
हरि की सी गायनि घेरनि, टेरनि, पट फेरनि।
हरि की सी वन तें आवनि गायन रसरंगी,
हरि-सम कन्दुक रचन नचन वनि ललित त्रिभंगी ॥१४॥

शब्दार्थ :—हेरनि—देखना, खोजना (आँख-मिचौली के खेल में) गायनि घेरनि—गायों को घेर लाना, गायन—गाना त्रिभंगी—कृष्ण का वंशी वजाते समय सिर, कटि तथा पदों को

लचा कर तीन स्थानों से झुकना और एक आकृति विशेष बनाना—कृष्ण का इसी से "त्रिभंगी या लाकृति" नाम भी पड़ गया था। यहाँ तक तो आंगिक आकृतियों या दशाओं का अनुकरण हुआ, आगे उनकी लीलाओं या कार्यों की नक़ल है।

भावार्थ :—स्पष्ट है।

अर्थ :—गोपियाँ सभी आचरण वैसे ही करती हैं जैसे श्री कृष्ण, उन्हीं के समान वे चलतीं, देखतीं, गातीं, खोजतीं, पुकारतीं और वस्त्र उछालती हैं, गान-रस-रंग के साथ हरि का-सा वन से आना, गेंद खेलना और त्रिभंगी रूप हो नाचना आदि सभी व्यापार वे हरि के ही समान करती हैं।

कोउ श्रीदाम दुभाम चढ़त कान्हर कैं काँधै,
कोउ जसुमति ह्वै दाम कान्ह ऊखल सौं बाँधै।
कोउ जमलार्जुन भंजत गंजत काली-बल कौ,
कोउ कहै मूँदौ नैन सोच नहिं दावानल कौ ॥१४॥

शब्दार्थ—श्रीदाम—कृष्ण का एक सखा, दाम—रस्सी जमलार्जुन—यमलार्जुन जो शाप-प्रभाव से दो वृक्ष-रूप हो गये थे, कृष्ण ने ऊखल को इनमें अटकाकर इन्हें उखाड़ दिया तथा मुक्त किया था, (देखो अन्तर्कथा के लिये—भागवत)। काली—एक यमुना की कुक्षि में रहने वाले सर्प का नाम है, इसके बल एवं दर्प को भी श्रीकृष्ण ने चूर किया था—

भावार्थ—स्पष्ट और सरल है।

अर्थ—गोपियाँ अब कृष्ण बन जाती हैं और कुछ उनके से खेल करती हैं, उनकी लीलाओं का अनुकरण करती हैं। कोई श्री दाम बन जाती है और कोई कृष्ण या कान्ह के कंधे पर चढ़ती है। कोई यशोदा बन जाती है और दूसरी उसको रस्सी देकर कृष्ण बनी हुई गोपी को ऊखल से बाँधती है। कोई

कृष्ण-रूप हो यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ती है और कोई उसी रूप से काली के बल-दर्प को चूर करती है। कोई कहती है कि अब आँख बन्द कर लो (आँख मिचौली खेलो) अब दावानल का भय नहीं रह गया (दावानल को श्रीकृष्ण ने शान्त किया था)।

नोट—श्रीकृष्ण की ललित बाल-लीलाओं का अनुकरण गोपियाँ प्रेम-रस के भावावेश से तन्मय होकर कर रही हैं-इस प्रकार एक नाटक सा हो रहा है। कृष्ण-स्मृति में गोपियाँ आत्म-विस्मृति से ऐसा करती हैं। यह लीला हाव है।

कोउ गिरवर अंबर कौ कर धरि बोलति है तब,
निधरक एहि तर होहु गोप-गोपी-गोधन सब।
भृंगी भय तैं भृंग होय वह कीट महा जड़,
कृष्ण-प्रेम तैं कृष्ण होय कछु नहिं अचरज बड़ ॥१६॥

शब्दार्थ—गिरवर (गोवर्धन) पर्वत, अंबर—नभ, वस्त्र, निधरक—निडर, गोधन—गायों का धन, भृङ्गी—एक प्रकार की भौंरी।

भावार्थ—जिस प्रकार भृंगी के भय से कीड़ा भृङ्ग-रूप हो जाता है उसी प्रकार कृष्ण-प्रेम-प्रभाव से गोपियाँ हरि-रूप हो यह सब कृष्ण की लीलायें कर रही हैं, यह आश्चर्य-जनक विषय नहीं।

अर्थ—कोई गोपी कृष्ण बनकर वस्त्राचल (गोवर्धन) बना उसे हाथ में उठाकर यों कहती है कि सब गोप और गोपी अपने गोधन (गायों) के साथ निडर हो (इंद्र की आज्ञा से प्रलय-पयोदों की महावृष्टि से बचने के लिये) इसके नीचे आ जाओ। जब महा जड़ कीड़ा भृंगी के भय से भृङ्ग-रूप हो जाता है, तब यदि कृष्ण-प्रेम से गोपियाँ कृष्ण-रूप हो जायें तो विस्मय का विषय नहीं।

नोट—उदाहरण बड़ा ही उपयुक्त है। इससे वही विचार प्राबल्य से पूर्ण परिवर्तन का होना सिद्ध है। भृंगी के द्वारा कीट के मस्तिष्क में भृंगी-नाद प्रबलता से भर दिया जाता है, उसके ही प्रभाव से वह अपना रूप-गुण-कर्म-स्वभाव सर्वथा भूल जाता है, उसे अपनी स्थिति का भी ध्यान नहीं रहता, वह अपने को भृङ्गी ही जानने-मानने लगता और अंत में वस्तुतः वही हो जाता है। बस इसी कारण गोपियाँ भी कृष्ण-रूप हो रही हैं। विचारों के प्रबल-वेग एवं प्राधान्य से सारी सृष्टि परिवर्तित की जा सकती है। साधारणतः यह आश्चर्यजनक है, परन्तु है यह प्रयोग-सिद्ध और अभ्यास-साध्य सत्य।

तब पायौ पिय-पद-सरोज कौ खोज रुचिर तहँ
अरि, दर, अंकुस, कमल, कलस अति जगमगात जहँ।
जो रज अज सिव खोजत जोजत जोगी-जन हिय,
सो रज वंदन करन लगीं, सिर धरन लगीं तिय ॥१७॥

शब्दार्थ—खोज—चिन्ह, पता, अरि—चक्र, दुर—शंख कलस—वज्र या कुलिश—जोजत—योजित करते हैं, रखते हैं।

भावार्थ—गोपियों को हरि-पद-चिन्ह एक स्थान पर मिला, जिसमें शंख-चक्र कमलांकुश एवं कुलिश आदि के शुभ चिन्ह, जो कृष्ण-पद पर थे, स्पष्ट थे। उस पद-रज को गोपियों ने परमपूज्य मान वंदित कर अपने शिर पर रक्खा।

अर्थ—इस प्रकार लीलायें करती हुई गोपियों ने एक स्थान पर प्यारे कृष्ण के सुन्दर चरण-कमल का चिन्ह देखा और इस प्रकार उनके खोज का सूत्र पाया। उस पद-चिन्ह में शंख, चक्र, अंकुश, कमल और वज्र के चिन्ह स्पष्ट उतरे हुये थे। जिस हरि-पद-रज को अज और शिव जी खोजते तथा योगी लोग अपने हृदय में जिसे सावधानी से रखते हैं उसी पद-रज को

पाकर गोपियाँ अपने शिर पर रखने तथा उसकी वंदना करने लगीं।

नोट—उक्त शंख-चक्रादि चिन्ह सामुद्रिक शास्त्रानुसार अति शुभ और महान ऐश्वर्य शाली के पद-तल पर होते हैं। कृष्ण तो अवतार ही हैं, उनके पद-तल पर सारे शुभ चिन्ह विद्यमान थे, जिन्हें गोपियों ने अनेक वार देखा था। उन्हीं को पद-चिन्ह में स्पष्ट देख वे उसके कृष्ण-पद-चिह्न होने का विश्वास करती हैं, अव तक गोपियों ने वन में पद-चिन्द न देखा था-कदाचित वहाँ धूल ही न थी, जिस पर चिह्न पड़ता, वहाँ हरियाली थी,या वे आत्म-विस्मृति तथा प्रेम-रसावेश से तन्मय होकर कृष्णानुकरण में तन-मन से लगी थीं, इसीसे कदाचित्त उन्होंने पद-चिह्न न देख पाया था। अव वे यमुना-तट पर, जहाँ पद-चिन्ह के पड़ने के लिए धूल और वालू है, पहुँच गई तथा अव उनकी आत्मविस्मृति कम हुई, वे शिथिल हो रंच ठहरीं और फिर खोज में लगीं। उनका सव ध्यान इस पद-चिन्ह पर गया, जिसे उन्होंने शंख-चक्रादि चिन्हों के कारण पहिचान लिया। वस खोज का सूत्र मिला, अव कुछ आशा वढ़ी—इस पद-चिन्ह से उनमें पुराने प्रेम का भाव फिर उठ आया। अव विरह-व्यथा के सह चुकने से उनमें सरस प्रेम का ही उदय न हुआ वरन् श्रद्धा-भक्ति के भाव भी जाग उठे, उनका मान-गुमान दूर ही हो चुका था, अव वे कृष्ण की प्रेमिका न रहकर दासी या सेविका हो गईं। श्री कृष्ण की क्या माया है, जो उन्होंने विचारा वही हुआ। गोपियाँ उचित मार्ग पर आ गईं। प्रीति श्रद्धा-भक्ति में परिणित हो गयी, यह वियोग का ही प्रभाव है। मानव-प्रकृति अधिक आकर्षित होती है, कष्टसाध्य और दुर्लभ के प्रति, सुखसाध्य के प्रति कम। यही वात वियोग से उत्पन्न होती है, चिर-परिचय, सान्निध्य, स्नेह-साहचर्य से प्रेम में शिथिलता सी आजाती है, वह वियोग से ही दूर होती है। श्रद्धा-

भक्ति-पूर्ण प्रेम वियोग से होता है। इसीसे कृष्ण ने ऐसा किया, यही उनका कृपा-पूर्ण सत्यानुराग है। रोगी को हित-कामना से पथ्य ही दिया जाता है, यद्यपि वह उसे नहीं सुहाता तथापि अपथ्य जो उसे रुचिकर होता है, कदापि नहीं दिया जाता।

तहँ निरखे ढिग जगमगात प्यारी पिय के पग,
चितै परस्पर चकित भईं जुरि चलीं तिही मग।
चकित भईं सब कहैं कौन यह बड़भागिनि अस,
परम कांत एकांत पाइ पीवत जु अधर-रस ॥१८॥

शब्दार्थ :—ढिग=पास, जगमगात=चमकते हुये (पद-चिन्ह चूंकि बालुका पर पड़े थे, जो चमकीली होती है, इसी से चमकते थे) जुरि=इकट्ठा होकर, साथ-साथ, तिही—उसी (देखो सं० रूप तत् हि)। परम—श्रेष्ठ, जु—जो।

भावार्थ :—श्रीकृष्ण के पद-चिन्ह के निकट गोपियों ने एक कृष्ण-प्रिया गोपी के भी पद-चिन्ह देखे और उसे कान्ताधर-रस की रहसि प्राप्ति के लिये सौभाग्य-शालिनी कहती हुई उसी चिन्ह के अनुसार आगे बढ़ीं।

अर्थ :—उसी कृष्ण-चरण-चिन्ह के निकट एक अपनी सहेली तथा कृष्ण की अत्यंत प्यारी गोपिका के पद-चिन्ह भी स्पष्ट-रूप से जगमगाते हुये देखे, उन्हें देखकर वे गोपियाँ परस्पर बहुत चकराईं, किन्तु फिर उन्हीं चिन्हों के अनुसार खोजती हुई उसी पथ पर वे आगे बढ़ीं। चकित हो वे सब कहतीं हैं कि यह कौन बड़ी भाग्यशालिनी गोपी है, जो श्रेष्ठ कान्त को एकान्त में पाकर उनके अधरों का सुधा-रस पी रही है।

नोट :—श्रीकृष्ण और सब कामिनी गोपियों को छोड़ स्वप्रिया एक गोपी (राधिका) को साथ ले गये थे, इसमें मान-गुमान अभी न था, इसी के चरण-चिन्ह गोपिय

को दिखाई दिये थे। पद-चिन्ह यमुना-तट की वालू पर चमक रहे थे, वालू सूर्य या चन्द्र के प्रकाश में चमकती है। गोपियों में रति-रस-रंग की तरंग फिर उठी, उन्होंने सोचा कि वह प्यारी गोपी एकान्त में कान्त का सुधा-रस पी रही होगी, यहाँ उनमें सपत्नी-हृदय के द्वेष और आसूयादि के भाव नहीं, वे उस गोपी की प्रशंसा करती हैं, उसे चाहती, सराहती हैं। इससे उनके हृदय की शुचिता तथा साधुता प्रकट है, वे उसके सत्य प्रेम का स्मरण कर उसकी महत्ता को मान रही हैं, तथा अपनी भारी भूल पर पश्चाताप करती हैं। मन में वे अपनी मंदाधता के दोष और मूढ़तामय अपराध स्वीकार करती हैं। अतः अन्तर्यामी कृष्ण प्रसन्न हो उन्हें क्षमा कर फिर अपनाते और संभोग-सुख देते हैं।

नोट :—दर्पण से गोपियाँ कृष्ण का पता पूछती हैं परन्तु वह उत्तर नहीं देता, क्योंकि उसे भी कृष्ण-राधा का वियोग दुःख दे रहा है और इसीसे उसे भी बोलना नहीं अच्छा लगता।

आगे चलि अवलोकि एक नवपल्लव-सेनी,
जहँ पिय निज कर कुसुम सुसुम लै गूँथी वेनी।
तहँ पायौ एक मंजु मुकर मनि-जटित विलोलै,
तिहिं पूछति व्रज-बाल विरह-बस सोउ न बोलै ॥१६॥

शब्दार्थ:—तिहिं—उससे (हि—को, से, कर्म कारक की विभक्ति के रूप में)। सुसुम—एक पुष्प।

भावार्थ:—एक कुंज में गोपियों ने एक दर्पण पाया, उससे भी उन्होंने कृष्ण की खोज पूछी, परन्तु वह भी कुछ न बोला।

अर्थ:—और आगे जाकर उन्होंने एक नवीन पल्लवों से पूर्ण कुञ्ज देखा, जहाँ कृष्ण जी ने सुन्दर फूल लेकर प्रिया की वेणी गूँथी थी। वहीं पर उन्होंने एक सुन्दर मणियों से जड़ा हुआ

दर्पण देखा। उससे व्रज-बालायें कृष्ण के विषय में पूछने लगीं किन्तु वह भी विरह-व्यथा के कारण न बोला।

करि आपुस में तरक कह्यौ यह क्यों कर लीनों,
तिन मैं कोउ तिन कैं हित कौ नहिं उत्तर दीनो।
वेनी-गूंथन-समय छैल पाछे बैठे जब,
सुन्दर वदन विलोकन सुख कौ अंत भयौ तब ॥२०॥

शब्दार्थ:—छैल—छैला, रसिक, प्रेमी (अत्र इसका प्रयोग गुन्डे के अर्थ में भी होता है)।

भावार्थ:—दर्पण लेने का कारण गोपियाँ अपनी-अपनी तर्क बुद्धि से निश्चित करती हैं, एक कहती है कि वेणी के सजाते समय पीछे बैठ कर कृष्ण अपनी प्यारी का प्रतिविम्ब इसी में देख कर दर्शन-सुख उठाते थे।

अर्थ:—परस्पर तर्क करती हुई वे कहती हैं, कि यह दर्पण उन्होंने क्यों हाथ में लिया था, परन्तु उनमें से किसी ने उसका उचित और मनोनीत उत्तर नहीं दिया। वेणी-ग्रंथन के समय जब कृष्ण पीछे बैठे थे तब अपनी प्यारी के मुख को देखने के लिये इसे सामने रख लिया था, और यों उसका प्रतिविंव इसमें देख कर वे सुख प्राप्त करते थे।

नोट :—वस्तुतः दर्पण के लेने पर है अच्छी सहेतुक उक्ति, सतर्क कल्पना है, इस हेतूत्प्रेक्षा में न केवल कोरी कल्पना ही है वरन् सरस भाव-गम्भीर्य भी है। जब कृष्ण स्वप्रिया की वेणी सजाने को पीछे बैठे तब एक कठिन समस्या आ गई, वह यह थी कि कृष्ण और राधा एक दूसरे का मुख न देख सके, राधिका वेणी-रचना में बाधा होने से अपना मुख घुमा भी न सकती थी। अतः दर्पण सामने रखा गया, जिसमें राधा और कृष्ण दोनों एक दूसरे के मुख का प्रतिविम्व देख सकें। साथ ही राधिका

दर्पण में देखेंगी कि वेणी ठीक सजी और भली लगती है या नहीं, इसी बहाने से वे हरि-मुख-दर्शन की साध भी साध सकेंगी।

तातैं मंजुल मुकुर सुकुर लै बाल दिखायौ,
श्रीमुख कौ प्रतिबिंब सखी तब सनमुख आयौ।
धन्य कहति भईं ताहि नाहिं कछु मन मैं कोपीं,
निर मतसर संतन की हैं चूड़ामनि गोपीं ॥२१॥

शब्दार्थः—सुकुर—सुन्दर हाथ, श्री-मुख—श्री—लक्ष्मी, जिनकी अवतार-रूप-राधा थीं—मुख या श्री मुख—सुन्दर तेज या कान्ति-पूर्ण मुख-श्री आदर-सूचक विशेषण है, कोपीं—कोप, शब्द से क्रिया बना कर बहु-वचनान्त रखी गई हैं—धातु-कोपना, गोपीं—गोपियाँ, (केवल अनुस्वार से ही बहुवचन बना लिया गया है,) गोपिन शब्द में "न" लगा कर भी बहुवचन होता है किन्तु यह शब्द दूसरा अर्थ देता है—(मिलाओ खड़ी बो० गोपियों का रूप)।

भावार्थः—राधा-मुख-प्रतिबिम्ब-दर्शनार्थ कृष्ण ने दर्पण हाथ में लेकर उन्हें दिखाया था और उनका अभीष्ट सिद्ध भी हुआ—गोपियाँ यह विचार कर राधा को धन्य-धन्य कहने लगीं और उस पर कुपित न हुईं क्योंकि उनका हृदय साधु एवं संत सा निर्मत्सर है।

अर्थः—इसीलिये सुन्दर दर्पण लेकर (कृष्ण ने) सुन्दर हाथ से बाल (राधा) को दिखलाया (यह तो बस बहाना था, कारण तो राधा को यही जान पड़ा कि मानों कृष्ण उन्हें दर्पण इसीलिये दिखाते हैं कि वे देख कर उनका वेणी गूँधना पसंद कर लें, किन्तु इसी व्याज के भीतर कृष्ण का गुप्त भाव, राधा-मुख-दर्शन-प्राप्ति का विद्यमान है, सच्चा हेतु यही है। देखते समय राधा के श्री मुख की (राधा श्री या लक्ष्मी-स्वरूपा हैं, राधा हो

रमा ही मृत्यु-लोक में कृष्ण के साथ आई है—अतः श्री—लक्ष्मी-(का) मुख—तत्पुरुष समास के द्वारा कवि यह भाव व्यंजित करता है—साथ ही श्री-मुख आदर-सूचक शब्द भी है) छाया संमुख आ गई (यही कृष्ण को अभीष्ट था और इसीलिये विशेषतया यह किया ही गया था)।

गोपियाँ उस अपनी सखी (राधा) को धन्य-धन्य कहने लगीं और उनके हृदय में उनके प्रति कोई रोष-दोष या द्वेष के भाव न उत्पन्न हुये, क्योंकि गोपियाँ निर्मत्सर संत-समाज की चूड़ा-मणियाँ हैं।

नोटः—प्रेमी रसिक नायक कृष्ण ने चातुरी से बहाने के साथ अपना मनोरथ सिद्ध किया। राधा जी यह रहस्य न जान पाईं, वे अपनी शृंगार-सजावट के देखने ही में मुग्ध थीं, या वे भी कृष्ण-मूर्ति का दर्पणगत प्रतिबिम्ब देख रही थीं, वे उसे साधारण-तया देख कर अलग नहीं रखतीं—"एक पंथ तीन काज" यहाँ यों चरितार्थ होता है (१) (राधा-पक्ष में) वेणी की सुन्दर सजावट देखना (२) (कृष्ण-पक्ष में) राधा की रूप-माधुरी पीछे बैठ कर दर्पण के प्रतिबिम्ब में देखना (३) (राधा-पक्ष में) वेणी की छटा के साथ अपना मुख तथा उसके पास श्री कृष्ण का मुखार-विंद देखना। कवि ने केवल एक ही भाव (कृष्ण-पक्ष वाला) विशेष रूप से प्रगट किया है और दूसरे भावों को गुप्त ही रक्खा है, क्योंकि वह केवल गोपियों के भाव रखता है, अतः स्वभावतः ही कृष्ण की चतुरता की ओर उन्हें झुकाना पड़ेगा, क्योंकि नायिकायें नायक के ही विचारों एवं व्यापारों की विशेष-विवेचना करती हैं। साथ ही कृष्ण राधा की रूप-माधुरी पर अति-मुग्ध थे, अतः उन्हें उसके मुख-दर्शन की विशेष लालसा रही थी। राधा में यह बात कदाचित न थी, गोपियाँ यही विचारती और जानती हैं, कि कदाचित राधा भी हमारी तरह मानिनी है, अतः उसे

दर्पण में देखेंगी कि वेणी ठीक सजी और भली लगती है या नहीं, इसी बहाने से वे हरि-मुख-दर्शन की साध भी साध सकेंगी।

तातैं मंजुल मुकुर सुकुर लै बाल दिखायौ,
श्रीमुख कौ प्रतिबिंब सखी तब सनमुख आयौ।
धन्य कहति भईं ताहि नाहिं कछु मन में कोपीं,
निर मतसर संतन की हैं चूड़ामनि गोपीं ॥२१॥

शब्दार्थः—सुकुर—सुन्दर हाथ, श्री-मुख—श्री—लक्ष्मी, जिनकी अवतार-रूप-राधा थीं—मुख या श्री मुख—सुन्दर तेज या कान्ति-पूर्ण मुख-श्री आदर-सूचक विशेषण है, कोपीं—कोप, शब्द से क्रिया बना कर बहु-वचनान्त रखी गई हैं—धातु-कोपना, गोपीं—गोपियाँ, (केवल अनुस्वार से ही बहुवचन बना लिया गया है,) गोपिन शब्द में "न" लगा कर भी बहुवचन होता है किन्तु यह शब्द दूसरा अर्थ देता है—(मिलाओ खड़ी बो० गोपियों का रूप)।

भावार्थः—राधा-मुख-प्रतिबिम्ब-दर्शनार्थ कृष्ण ने दर्पण हाथ में लेकर उन्हें दिखाया था और उनका अभीष्ट सिद्ध भी हुआ—गोपियाँ यह विचार कर राधा को धन्य-धन्य कहने लगीं और उस पर कुपित न हुईं क्योंकि उनका हृदय साधु एवं संत सा निर्मत्सर है।

अर्थः—इसीलिये सुन्दर दर्पण लेकर (कृष्ण ने) सुन्दर हाथ से बाल (राधा) को दिखलाया (यह तो बस बहाना था, कारण तो राधा को यही जान पड़ा कि मानों कृष्ण उन्हें दर्पण इसीलिये दिखाते हैं कि वे देख कर उनका वेणी गूँथना पसंद कर लें, किन्तु इसी व्याज के भीतर कृष्ण का गुप्त भाव, राधा-मुख-दर्शन-प्राप्ति का विद्यमान है, सच्चा हेतु यही है। देखते समय राधा के श्री मुख की (राधा श्री या लक्ष्मी-स्वरूपा हैं, राधा ही

रमा ही मृत्यु-लोक में कृष्ण के साथ आई है—अतः श्री—लक्ष्मी-(का) मुख—तत्पुरुष समास के द्वारा कवि यह भाव व्यंजित करता है—साथ ही श्री-मुख आदर-सूचक शब्द भी है) छाया संमुख आ गई (यही कृष्ण को अभीष्ट था और इसीलिये विशेषतया यह किया ही गया था)।

गोपियाँ उस अपनी सखी (राधा) को धन्य-धन्य कहने लगीं और उनके हृदय में उनके प्रति कोई रोष-दोष या द्वेष के भाव न उत्पन्न हुये, क्योंकि गोपियाँ निर्मत्सर संत-समाज की चूड़ा-मणियाँ हैं।

नोट:—प्रेमी रसिक नायक कृष्ण ने चातुरी से बहाने के साथ अपना मनोरथ सिद्ध किया। राधा जी यह रहस्य न जान पाईं; वे अपनी शृंगार-सजावट के देखने ही में मुग्ध थीं, या वे भी कृष्ण-मूर्ति का दर्पणगत प्रतिविम्ब देख रही थीं, वे उसे साधारण-तया देख कर अलग नहीं रखतीं—"एक पंथ तीन काज" यहाँ यों चरितार्थ होता है (१) (राधा-पक्ष में) वेणी की सुन्दर सजावट देखना (२) (कृष्ण-पक्ष में) राधा की रूप-माधुरी पीछे बैठ कर दर्पण के प्रतिविम्ब में देखना (३) (राधा-पक्ष में) वेणी की छटा के साथ अपना मुख तथा उसके पास श्री कृष्ण का मुखार-विंद देखना। कवि ने केवल एक ही भाव (कृष्ण-पक्ष वाला) विशेष रूप से प्रगट किया है और दूसरे भावों को गुप्त ही रक्खा है, क्योंकि वह केवल गोपियों के भाव रखता है, अतः स्वभावतः ही कृष्ण की चतुरता की ओर उन्हें झुकाना पड़ेगा, क्योंकि नायिकायें नायक के ही विचारों एवं व्यापारों की विशेष-विवेचना करती हैं। साथ ही कृष्ण राधा की रूप-माधुरी पर अति-मुग्ध थे, अतः उन्हें उसके मुख-दर्शन की विशेष लालसा रही थी। राधा में यह बात कदाचित न थी, गोपियाँ यही विचारती और जानती हैं, कि कदाचित राधा भी हमारी तरह मानिनी है, अतः उसे

कृष्ण-दर्शन की विशेष चाह या परवाह न रही होगी (विशेषतः संयोगावस्था में - वियोगावस्था में चाहे हो भी), अतः वे कृष्ण ही को रूप-लालची जान कर उन्हीं के पक्ष का भाव प्रगट करती हैं, साथ ही वे सोचती थीं कि राधा अपना शृंगार स्वयमेव तो करती ही न थी कि उसे दर्पण के संमुख रखने की आवश्यकता हो, उसका शृंगार तो शृंगार-कला-कुशल कृष्ण कर रहे थे। अतः उसे दर्पण रखने की क्या आवश्यकता, आवश्यकता थी, कृष्ण ही को, जो पीछे बैठने से राधा-मुख-माधुरी न प्राप्त कर उसके लिये उत्सुक थे, अतः उन्हीं के बहाने से अपनी इच्छा पूरी की, इसीसे कवि ने एकही पक्ष का भाव प्रकट किया है। राधा श्री-मूर्ति होकर कृष्ण-पद-दर्शनाकुला थीं, न कि मुख-दर्शनाकुला, किन्तु कृष्ण श्री-मुख-दर्शनाभिलाषी हैं, इसीसे कृष्ण ने यह व्याज-रूप में किया, अतः यही भाव स्पष्ट रखा गया है।

यहाँ भी गोपियों में स्वाभाविक सपत्नीक ईर्षा, द्वेष-रोष की भावना नहीं होती, वे राधा को चाहती, सराहती हैं, उनके हृदय निर्मत्सर साधुओं से शुद्ध हैं, गोपियों में भक्ति-भाव का ही, जिसे कवि ने पद-चिन्ह-प्राप्ति पर दिखाया है, प्राधान्य है। शुद्ध प्रेम ही प्रगट किया गया है, इसमें लौकिक प्रेमी-प्रेमिकाओं की वैषयिक वासना का विचार नहीं, जिससे सपत्नीक द्वेष-रोषादि की कुत्सित भावनायें उठती हैं। यदि गोपियाँ क्रोधादि भी करतीं, तो व्यर्थ था। इससे कदाचित गोपियों पर कृष्ण और रुष्ट होते, क्योंकि उन्हें अच्छा न लगता गोपियों से निज प्रियतमा का तिरस्कार। कदाचित यही सोच गोपियाँ राधा की सराहना ही करती हैं, क्योंकि इससे सम्भवतः कृष्ण प्रसन्न भी हो सकेंगे, क्योंकि निज प्रियवस्तु की सराहना सब को प्रिय होती है। गोपियाँ इसे अपना स्वाभाविक-कर्त्तव्य मानती हैं कि वे अपने प्यारे की

स्पष्ट कहा है) व्याही हुई थीं, कृष्ण की इसमें अति अनुरक्ति थी, किन्तु वह भी गर्व के कारण छोड़ दी गई, इसीसे "पिय अति रति बाढ़ी" पद है—इसीसे गोपियों पर यह प्रभाव पड़ा कि कृष्ण गर्व देख अपनी प्रिय वस्तु भी त्याग देते हैं। "रति" से तात्पर्य प्रीति का है। चूंकि अभी अंकुरित विरह है, अतः राधा का वर्ण अभी अम्लान ही है।

जनु घन तैं बिछुरी बिजुरी मानिनि तनु काछैं,
  किधौं चन्द सौं रुसि चन्द्रिका रहि गई पाछैं।
नैनन ते जल-धार धाइ धोवति धर धावति,
  भँवर उड़ाय न सकति बास-वस मुख-ढिंग आवत ॥२५॥

शब्दार्थ :—बिजुरी = बिजली, मानिनि = मानिनी, रुसि = रुष्ट हो, रूठ कर, धर = धरा, धड़, तनवास = सुरभि, सुगन्धि।

भावार्थ :—राधा, घन से विलग हुई बिजली या चन्द्र से रुष्ट हो पीछे रह गई चन्द्रिका के समान लगती हैं, उसके नेत्रों में दुःखाश्रु-धार उर-हार को धोती हुई भू पर गिर रही हैं और वह सौरभ-वशागत भ्रमरों को भी नहीं उड़ा सकती।

अर्थ :—वह मानिनी अपने शरीर की द्युति से ऐसी जान पड़ती है मानों घन से विलग हुई बिजली हो या चन्द्रमा से रूठ कर चंद्रिका पृथक हो गई हो। राधा के नेत्रों से अश्रु-धार उसके हृदय-हार को धोती हुई पृथ्वी पर आती है, और वह उन भंवरों को, जो उसके शरीर से आती हुई कमल की सी सुरभि के कारण, पास आते हैं, नहीं उड़ा सकती, (क्योंकि विरह-व्यथा से शिथिल है)।

नोट :—दोनों ही उपमायें या उत्प्रेक्षायें बहुत ही सार्थक हैं। बिना बिजली के घनश्याम होता है, उसी प्रकार कृष्ण भी हैं, वैसे ही बिना चन्द्रिका के चन्द्र भी श्याम ही होगा, क्योंकि

चंद्रिका के साथ भी वह कुछ श्याम सा दीखता है तब उसके विना तो और भी श्याम होगा—इसी प्रकार गोरी राधा के साथ कृष्ण में कुछ गौरता आ जाती है, विना उसके तो वे काले ही रहेंगे—क्योंकि स्वभावतः ही वे ऐसे हैं—देखिये—

"मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जातन की झाईं परैं, स्याम हरित दुति होय।"—विहारी

वस्तुतः श्याम, राधा के गौर-वर्ण या कान्ति के पड़ने से हरे हो जाते हैं, उनमें कुछ गौरता सी आ जाती है—राधा नितांत कंचन-कान्ति-कलिता हैं--इसीसे उन्हें घन से पृथक विजली और चन्द्र से पृथक चंद्रिका के समान कहा है—घन के कारण विजली में और चंद्र के कारण चंद्रिका में कुछ वर्णांतर आ जाता है, पृथक रह कर दोनों विशेष उज्वल दीखेंगी। यही हाल राधा का भी है। क्षणिक विरह से वर्ण में कोई विशेष विकार नहीं हुआ। राधा के पद्मिनी होने से उनके शरीर से कमल की सी सुरभि आती है, जिससे आकृष्ट हो मधुपावली उनके पास आ जाती है—अब वे वियोग-विधुरा हैं, उन्हें अपने तन-मन का भी कुछ ध्यान नहीं, इसीसे वे उसे उड़ा नहीं सकतीं। यह कारण नहीं कि वे वियोग से हीन-दीन हैं, क्योंकि अंकुरित वियोग ही अभी है। हो सकता है कि कृष्ण रति के पश्चात् (पंक्ति ० ९० में श्लिष्ट मुद्रा-मय पद "रति" से सूच्य) स्वभावतः उत्पन्न शिथिलता से, जिसके ही कारण कदाचित राधा ने अपनी चलने में असमर्थता प्रकट कर कृष्ण से उनके स्कंधारोहण का प्रस्ताव किया था और जिससे कृष्ण ने अनुचित गर्व का अर्थ लेकर उन्हें त्याग दिया था-और वे शिथिल हो आगे न जाकर वहीं खड़ी रह गई थीं—वे सुरभि-समाकृष्ट भ्रमरों को अपने ऊपर से उड़ा नहीं सकतीं। कैसी भाव-व्यंजक गूढ़ पदावली है।

"कासि कासि पिय ! महाबाहु" यौं वदति अकेली,
महा विरह की धुनि सुनि रोवत खग, मृग, वेली ।
ता सुंदरि की दसा देखि कछु कहत न आवै,
विरह-भरी पुतरी होय जो अति छवि पावै ॥२६॥

शब्दार्थ :—कासि = क—कहाँ + असि = हो (संस्कृत का तत्सम शब्द है) वदति = कहती है (संस्कृत के वद् धातु का वर्तमान काल के एक वचन, अन्य पुरुष में रूप है—तत्सम रूप में प्रयुक्त हुआ है) । पूतरी = पुत्तली, पुतली ।

भावार्थ :—हे प्रिय ! कहाँ हो ! इसी प्रकार वह कहती है, और विरह की पुतली सी शोभित है-उसके शब्द सुन सब पशु, पक्षी, लता-द्रुमादि भी रोते हैं ।

अर्थ :—हे दीर्घ भुजाओं वाले प्रियतम ! कहाँ हो, कहाँ हो ! ऐसा वह अकेली खड़ी खड़ी कह रही है, और उसकी महा विरह की ध्वनि सुन कर वन के पशु, पक्षी और लता, द्रुमादि सब रोते हैं । उस सुन्दरी की दशा देख कर कुछ कहते नहीं बनता, वह ऐसी प्रतीत होती है मानों विरह से परिपूर्ण पुतली है, जो शोभा पा रही है ।

नोट :—यहाँ कवि ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कदाचित इसलिये किया है कि संस्कृत तो देव-वाणी और राधा और कृष्ण देवी-देवता हैं, अथवा राधा कृष्ण को ईश्वर मान कर देव-वाणी संस्कृत का प्रयोग इसलिये करती हैं कि वे उसे समझ सकें । वियोग-व्यथा-वेग के सूचनार्थ केवल एक अल्प शब्द "कासि" का रखना "कहाँ हो" की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है- (नन्ददास के समय में सं० के ऐसे तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रायः होता भी था—इति वदति तुलसीदास—"कहहु सुजन यथा-रुचि जेही—इत्यादि) ।

राधा का विलाप और रोदन सुन वन के पशु-पक्षी, लता-विटपादि सहानु-भूति या समवेदना से रोने लगते हैं और यह प्रकृति की सहानुभूति-पूर्ण संमवेदना है—यह मार्मिक और संक्षिप्त है, क्योंकि इसका विस्तार विरह-वैकल्य के भाव को न्यून कर देता, वियोग-व्यथा उर-अनुभवित हैं, वाणी से वर्ण्य नहीं, किन्तु प्रारम्भिक विरह-व्यथा में भले ही अधिक कारुणिक शब्द-प्रयोग होता है। जायसी ने व्यर्थ विरह-विलाप का विस्तार किया है। कवि इसे कुछ मार्मिक संकेत से ही व्यक्त करे तो ठीक है, भावुक-हृदय उससे ही बहुत समझ लेता है। एक पंक्ति ही यहाँ विरह-वेदना, प्रकृति की सहानुभूति आदि की सूचना दे देती है, सत्कवि थोड़े शब्दों में ही गूढ़ मार्मिक बात रसार्थ-गौरव के साथ रखते हैं।

धाय भुजनि भरि लई सबन लै लै उर लाई,
मनौं महानिधि खोय मध्य आधी निधि पाई।
कोउ चुम्बत मुख-कमल कोऊ जु सुधारत अलकैं,
जामैं पिय-संगम के सुन्दर स्रम कन झलकैं ॥२७॥

शब्दार्थ—सरल—स्पष्ट है।

भावार्थ—गोपियों ने राधा को हृदयों से लगाकर उसको चूमकर उसके बिखरे केश-कलाप को सुधारा, उसके शरीर पर रतिकृत स्वेद-कण झलक रहे थे।

अर्थ—सब गोपियों ने दौड़कर उसे अपनी भुजाओं से परिरंभित कर हृदयों से लगा लिया, मानो बहुत बड़ी धन-राशि खोकर उसकी आधी पा ली हो। कोई गोपी तो राधा का मुख चूमती है, कोई उसकी बिखरी हुई अलकावली को सुलझा कर सुधारती है। उस अलकावली में प्रिय-संगम से उत्पन्न हुई श्रम की बूँदे (स्वेद की बूँदें) झलक रही हैं।

नोट—जब किसी वियोग-व्यथित को वैसा ही कोई अन्य मिल जाता है तो स्वभावतः ही उसमें सहानुभूति-समवेदना के साथ करुण-कृपा-पूर्ण प्रेमानुराग का भाव आ जाता है, क्योंकि दोनों की भावनायें तथा वेदनायें एक सी होती हैं और—"प्रकृति मिले मन मिलत है"—दोनों भुक्त-भोगी होकर एक दूसरे की प्रेम-पीर जानते हैं। "जा उर मैं रहै प्रेम की पीर सोई पहिचानत पीर पराई"। मानव-प्रकृति किसी को अपना सा दुखी देख अपना दुख भूलकर उसके साथ समवेदना-सहानुभूति रख उसे सान्त्वना देने लगती है। अतः गोपियाँ करुणार्द्र हो राधा को चूमती और सान्त्वना देती हैं, कुछ कहती नहीं, क्योंकि दुखी के सामने दुख रोना उसके दुख को बढ़ाना है, अथवा अब तक गोपियों को यह दुःख रहा था कि कृष्ण ने उन्हें तो त्याग दिया किन्तु उन्हीं की एक सहेली राधा को अपनाया, किन्तु अब वे राधा को भी उसी दशा में देख अपना दुख भूल उसके लिये दुखी-दयार्द्र हैं।

अपने अंचल रुचिर दृगंचल पोंछति तिय के,
पीक - भरे सुकपोल लोल रद-छत जहँ पिय के।
तेहि लै तहतें सबै बहुरि जमुना तट आईं,
नँद - नन्दन जगवंदन पिय जहँ लाड़ि लगाई ॥२८॥

शब्दार्थ—रद-छत—दाँत का काटा हुआ, ओष्ठ, लाडि-लगाई-लव लगाई थी।

भावार्थ—गोपियाँ परित्यक्ता राधा के अश्रु-पूर्ण नेत्र तथा पान की पीक से भरे हुये सुन्दर कपोलों के रद-क्षतों को अपने अंचलों से पोंछकर उसे फिर अपने साथ लेकर यमुना के उस तट पर लौट आईं, जहाँ श्री कृष्ण ने प्रेम-क्रीड़ा की और लव लगाई थी।

अर्थ—गोपियाँ अपने अंचलों से राधा के अश्रु-कण-पूर्ण

सुन्दर लोचनों को पोंछती हैं और सुन्दर लाल कपोलों पर (रति-रण में) रद-क्षतों (पिय के चुम्बनादि कृत) तथा पान की पीक की लीक को वे अंचलों से दूर करती हैं। इस प्रकार उसे कुछ शान्ति दे अपने साथ वहाँ से फिर यमुना जी के उस किनारे पर आईं, जहाँ विश्व-वंद्य नंद-नंदन ने प्रेमारम्भ में लव लगा रास-लीला की थी।

नोट—यहाँ राधिका के सुन्दर नेत्रों से वियोग-व्यथा-जनित अश्रु गिर रहे हैं, गोपियाँ उन्हें सदय करुणा से पोंछती तथा सान्त्वना देती हैं। स्वाभाविक चित्रण है। राधिका की देह पर रति के कुछ पूर्व चिन्ह भी हैं, जैसे चुम्बन-सूचक कपोल पर पीक-लीक तथा मधुराधरास्वाद-सूचक रद-क्षत, इससे पूर्व सूचित रति स्पष्ट है)। गोपियाँ इन्हें देख कर भी मानो नहीं देखतीं, उनमें ईर्षासूयादि के भाव नहीं उठते, क्योंकि इस समय उनमें करुणा, कृपा, समवेदनादि के भाव हैं। इसी कारण नन्द जी रति के अन्य चिन्हों को नहीं दिखाते, केवल मुख पर के चिन्ह दिखाये गये हैं, क्योंकि गोपियाँ अभी राधा का मुख ही सध्यान देखती और अश्रु पोंछती हैं, साथ ही अश्रु से समार्द्र पीक भरे कपोल तथा रद-क्षतादि पोंछती हैं।

यहाँ वर्णन और विस्तार उचित नहीं, अन्यथा सारा पूर्व-प्रसंग (करुणादि का भाव) नष्ट हो जायेगा, क्योंकि विप्रलंभ-शृंगार में करुणा और दया ही संचारी या व्यभिचारी भाव के रूप में उपयुक्त हैं। रति की उत्तर दशायें संयोग-शृंगार के अन्तर्गत हैं। अतः विप्रलम्भ शृंगार में वे सर्वथा उपेक्षणीय हैं। यदि आवश्यकता ही हो तो उन्हें इसी प्रकार सूच्य-रूप से रखना चाहिये।

जान पड़ता है कि परम्परा-पालनार्थ नन्ददास ने रति का वर्णन कृष्ण-लीला में दिया है। वह भी धार्मिक और आध्या-

त्मिक-भाव-युक्त, और भाव-गांभीर्य-मय दार्शनिकता के साथ, वस्तुतः उन्हें इसका ऐहिक रूप उचित और अच्छा नहीं लगता, इसीसे उन्होंने इसका सूच्य सांकेतिक रूप से स्वल्प वर्णन ही किया है।

अन्य कवियों ने इसे ऐहिक रूप से ही अधिक रक्खा है, क्योंकि वे इसके दार्शनिक रहस्य से पूर्णतया परिचित न थे। भागवत में भी इसी प्रकार इसका दार्शनिक रूप से गूढ़ वर्णन है, इसीसे वह गूढ़, गहन और दुर्बोध सा है। इसके लिये दार्शनिक सिद्धान्त और रस-पद्धति के धार्मिक रूप का ज्ञान आवश्यक है, साथ ही हृदय की शुद्धता और पवित्रता भी होनी चाहिये। नन्ददास ने प्रणाली-पालन के साथ चातुरी-चारुता से इसे रक्खा है। अब आगे वियोग-वर्णन आता है।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

—:o:—

रासपंचाध्यायी

तृतीयोऽध्यायः

विरह-वर्णन

प्राक्कथन

इस अध्याय में वियोग-व्यथिता गोपियाँ अपने आन्तरिक भाव और कृष्ण के निष्ठुर हृदय को दिखाती हैं, और अपनी कारुणिक दशा, और हार्दिक प्रीति-प्रतीति को सरस, मर्मस्पर्शी और गंभीर शब्दों में रखती हैं। कृष्ण के प्रति उनका व्यंग-पूर्ण प्रेमोपालम्भ सुन्दर है। वे कृष्ण का स्तवन एवं कीर्ति-कीर्तन भी करती हैं, और दैन्य वचनों से उनमें दया और करुणा की जाग्रति कराती हैं। नट-नागर कृष्ण की अनीति (उन्हें वियोग-व्यथा के देने की) भी वे दिखाती हैं। उनकी विचित्र दशा है, उन्हें शान्ति-सुख नहीं, एक ओर वे अपने हृदयोद्गारों से जैसे-तैसे अपने दुःख-दग्ध हृदय को हलका कर कृष्ण की सुखद लीलाओं का कीर्तन करती हैं, दूसरी ओर वही कीर्तन उनकी स्मृति को जगाकर उनकी विरह-व्यथा को और बढ़ाता है। सुखद भी दुःखद हो रहा है। अतः वे इसे छोड़ कृष्ण की प्रवंचना कहती हैं, और उपालम्भ सा देती हैं। वे कहती हैं कि आप ने हमें वंशी के द्वारा बुलाया, हम सर्वस्व छोड़ आईं, दासी बनीं, परन्तु अब आपने त्याग दिया, यह निर्दय प्रवंचना उचित नहीं। अब आप हमें निज पावन पदों से पवित्र करें। यदि हमारे उरोज कठिन-कठोर हैं तो वन-भूमि पर आप भ्रमण कर चुके हैं, तब भय क्यों करते हैं।

यों गोपियाँ स्वोद्‌गार निकालती हैं। गोपियाँ परस्पर यों कहने लगीं।

कहन लगीं यह कुँवर कान्ह ब्रज प्रगटे जब तैं,
अवधिभूति इन्दिरा अलंकृत ह्वैरहि तब तैं।
सबको सब सुख सरसत ससि ज्यौं बढ़त बिहारी,
तिनमैं पुनि ये गोपवधू प्रिय निपट तिहारी ॥१॥

शब्दार्थ :—कान्ह—कृष्ण, ब्रज—ब्रज में—(देखिये अधिकरण का० की विभक्ति "में" का लोप)—इंदिरा—कान्ति, श्री, शोभा। निपट—बिलकुल, पूर्णतया।

भावार्थ :—श्री कृष्ण-चन्द्र ब्रज में प्रगट होकर तथा नित्य-प्रति बढ़ बढ़ कर सभी के लिए सुख-सुधा सरसाते हैं, फिर उन गोप-वधुओं के लिए, जो उनको बहुत प्रिय हैं क्यों नहीं बरसाते।

अर्थ :—जब से कृष्ण कुमार ब्रज में प्रगट हुए तभी से ब्रज सभी शोभा और श्री की अवधि-रूप हो रहा है। बिहारी जी चन्द्र के समान बढ़ रहे हैं, और सभी के लिये सब सुख (सुधा-रूपी) बरसा रहे हैं, तो फिर उन गोप-वधुओं पर क्यों नहीं बरसाते? जो सर्वथा उनकी परम प्रिया हैं।

नोट :—गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण-चन्द्र ने ब्रज में जन्म ले सब को, विशेषतया अपनी अति प्रिय गोप-वधुओं को, सुख-सुधा बरसा कर आनन्द दिया है। इससे यह सूचित है कि ये गोपियाँ वे ही हैं जिन्होंने कृष्ण-जन्म से अपने को विशेष भाग्य-शालिनी समझा है, तथा जो उन्हें अति-प्रिय हैं। अतः अब उनका निर्वाह होना ही सर्वथोचित है। सुख से लालित-पालित स्वजनों, विशेषतया स्त्रियों को सुख दिखा दुःख न देना चाहिये, उन्हें त्यागना ठीक नहीं। गोपियाँ केवल प्रिय ही नहीं, वरन

सर्वथा (निपट) कृष्ण ही की हैं, तब कृष्ण को उनका ध्यान रखना ही चाहिये। यदि वे उन्हें सुख देते हैं तो निज को देते हैं। सुन्दर एकता का भाव है। प्रेमी-भक्त-आत्माओं और परमात्मा का यही ठीक सम्बन्ध है। यही भाव प्रेमिका में भी प्रेमी के प्रति रहता है। अब गोपियों का रूप-रस-राग-गर्व एवं अंहभाव, भक्ति-प्रेम में बदल गया। नन्ददास-कृत गोपियों के विरह का यह वर्णन भागवत का सा भाव-पूर्ण और सरस प्रेमाकुलित भक्तिमय न होकर भी सूरदास के वर्णन की अपेक्षा कहीं उत्तम और विस्तृत है। यह भागवत पर आधारित होकर भी मौलिक, सुगेय और भावात्मक है।

नैन मूँदवौ महा अस्त्र लै हाँसी हाँसी,
मारत ही कित सुरतनाथ विन मोल कि दासी।
विष तैं, जल तैं व्याल अनल तैं दामिनि भर तैं,
क्यौ राखी नहिं मरन दई नागर नगधर तैं ॥२॥

शब्दार्थ :—सुरत = सु—सर्वथा + रत—प्रेमासक्त, लीन + नाथ—स्वामी, जो प्रेमासक्त स्वामी (नायिका का स्वाधीन पति या सु—अच्छी तरह + रति—रति-संभोग या प्रीति या कामदेव की स्त्री—नाथ—स्वामी, अच्छी रति या प्रीति करने वाले स्वामी या रति-नाथ—कामदेव, गोपियाँ अपने को रति-रूपा और कृष्ण को कामरूप देखती हैं)। विष—काली नाग का विष, जल—इन्द्र-कोप-कृत मेघों का प्रलयकारी जल बरसाना, अनल—वृन्दावन की दावाग्नि, दामिनि-भर—गोवर्धन-लीला के समय प्रलयकारी मेघों की बिजली, नगधर—गिरधर।

भावार्थ :—प्रथम तो तुमने हमें अनेकों मार डालने वाली विपत्तियों से बचाया, और अब बिना मूल्य की दासी जानकर बस मार डालना ही ठान रक्खा है।

अर्थ :—हास्य का भाव रखकर यह अपने नेत्रों के बंद करने के महास्त्र को लेकर, हे नाथ! (सर्वथा सुन्दरता के साथ रत होने वाले स्वामी) हमें बिना मूल्य की दासी जानकर क्यों मार रहे हो। तुम्हें यदि इसी प्रकार हमें मारना ही था तो फिर क्यों तुमने विष से, जल से, सर्प से, अग्नि और बिजली की ज्वाला से, हमें बचाया था। हे नागर! क्यों तुमने हमें तभी न मर जाने दिया, हे गिरिधर! तुमने क्यों हमारी रक्षा की थी।

नोट :—किसी को स्वेच्छानुकूल विपत्ति या मृत्यु देने को किसी को विपत्ति या मृत्यु से बचाना अनुचित है। किसी की रक्षा कर फिर उसे दुख देकर मारना निंद्य अत्याचार या पातक है—"जाकी रक्षा करिय ताहि पुनि नहि दुख दीजे"—यदि कृष्ण को गोपियाँ अप्रिय थीं तो वे उन्हें नष्ट ही हो जाने देते। यदि उन्होंने सकृपा उन्हें अपना कर बचाया तो अब शरणागतों को त्याग कर उन्हें दुख देना कैसा, यह तो अनुचित ही है?

श्रीकृष्ण ने स्वकर्तव्य-रूप से ही गोपियों की रक्षा नहीं की, वरन् स्वार्थ-प्रेम से भी, केवल दया-द्रवित हो परमार्थ के विचार से या कर्तव्य-वशात् यह नहीं किया, वरन् आत्मसुखाय ही किया था। गोपियों ने उनका स्वार्थ भी पूरा किया, तब श्रीकृष्ण के लिये उन्हें त्यागना ठीक नहीं, जिन्होंने दासी हो उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है।

कृष्ण ने उन्हें "बिना मोल की भी दासी" ठहरा लिया, और उनकी कुछ परवाह न की. कृष्ण ने कदाचित यह सोचा कि ये गोप-वधुयें हैं, गोप उनकी परवाह करें, परन्तु गोपियाँ अपने को कृष्ण की कहती हैं। कृष्ण ने भी उन्हें अपनाया है, अतः सम्बन्ध हो गया, उसे अब तो तोड़ना ठीक नहीं, जब यह सम्बन्ध बाल-लीला से दृढ़ भी हुआ है। अतः कृष्ण को अब उसका निर्वाह

करना ही न्यायोचित है। वस्तुतः बात यों है कि कृष्ण ने उन्हें नितान्त नहीं त्याग दिया, यह तो केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं का क्षणिक रूठने का प्रेममय वियोग है। गोपियाँ इस सरस मर्म को वियोग-वैकल्य-वशात् नहीं समझतीं।

जसुदा-सुत जनु तुम न भये पिय अति इतराने,
विस्व-कुसल कारन विधना विनती करि आने।
अहो मित्र! हो प्राननाथ! यह अचरज भारी,
अपने जन कौं मारि करौ काकी रखवारी॥३॥

शब्दार्थ :—जसुदा=यशोदा, काकी - किसकी।

भावार्थ :—अपने को तुम यशोदा महरानी का राज-कुमार जान मानो इतराने लगे हो, वस्तुतः क्या तुम समझते हो कि यह ठीक है? नहीं, आप विष्णु-रूप हो संसार की कुशलता के लिये लाये गये हो, अतः यह कहो कि अपने जन को मार कर रक्षा किस की करते हो?

अर्थ :— हे कृष्ण! तुम यशोदा जी के लड़के क्या हुये हो, बहुत इतराने या घंमड करने लगे हो, क्या यह भूल गये कि तुम विष्णु-रूप हो और विधाता संसार की कुशलता के लिये विनय कर के तुम्हे यहाँ लाये हैं, या मानों तुम्हें विधाता से प्रार्थना कर के संसार की कुशलता के लिये वे (नन्द जी या वसुदेव) लाये हैं। हे सखे! हे प्राणनाथ! यह हमें बड़े आश्चर्य की बात जान पड़ती है कि तुम अपने जन को मारते हो, यदि यों करते हो तो कहो रक्षा किसकी करते हो? क्या तुम यशोदा के लड़के ही नहीं हो, जो इतना गर्व करते हो, तुम वही यशोदा-सुत हो जिसे हमने खिलाया, पिलाया है।

नोट—यहाँ भागवत का विलोम भाव है, और उपालम्भ-रूप में है, जैसा उसमें नहीं। व्यंग भी इसमें है। गोपियाँ कहती

शब्दार्थ—पखान = पाषाण - प्रस्तर = पत्थर, खचै = छीलन गड़ना, काटना, छाँटना, दई = देव, विधाता, ब्रह्मा।

भावार्थ—हमारी प्रीति और तुम्हारी निष्ठुरता में महदन्त है, मणि-प्रस्तर का भाव है, तुम्हारे बिना हमारी जो दशा होत है, वह हमीं जानती हैं।

अर्थ—कहाँ तो हमारा तुम्हारे प्रति ऐसा प्रगाढ़ प्रेम, औ कहाँ आप की यह निष्ठुरता? दोनों का मेल नहीं मिलता, दोन में बड़ा अन्तर है। मणि कहीं पत्थर पर जड़ी जाती है, ब्रह्मा कुछ वस नहीं। जब तुम वन को चले जाते हो तब हमारे ए एक क्षण हजारों युगों के समान बीतते हैं और बिना तुम्ह हमारे दिन जैसे बीतते हैं, हम ही जानती हैं।

नोटः—गोपियाँ कहतीहैं कि हमारी प्रीति और तव निष्ठुर दोनों कहीं कदापि न मिलने वाली समानान्तर रेखायें हैं, यद्य हम और तुम दोनों एक ही हैं, जैसे पत्थर और मणि, भी ऐसा अन्तर हो गया है, और ब्रह्मा ने इन्हें परस्पर घात कर दिया है, ब्रह्मा ने कैसा मेल या संयोग रचा है, मणि को पत्थ में जड़ दिया है (गोपियाँ अपने को मणि तथा कृष्ण पाषाण सा मानती हैं, किन्तु वे भूल जाती हैं कि मणि कठोर है-यह कदाचित इसलिये कि मणि पत्थर से बनकर कठि होना ही चाहे, क्योंकि इसी भाँति गोपियों की मान-गुमान समय की कठोरता कृष्ण की कठोरता की ही प्रतिकृति है, उनके मणि-रूपी मन पर पड़ती हैं)। ब्रह्मा से कुछ वस न चलता, नहीं तो ऐसा बेमेल संयोग न हो पाता—ऐसे गोपियों में अहम्मन्यता या आत्म-प्रशंसा का दूषित भाव दीख है, किंतु भक्ति-भाव के विचार से यह उचित है, वस्तुतः गोपि का प्रेमी या भक्त हृदय मणि सा विमल है, उस पर कृष्ण

प्रतिविम्व पड़ता है, आत्मा-परमात्मा में यही सम्वन्ध माना भी गया है।

यह भी स्पष्ट है कि दोनों का सम्बंध विधिकृत है, अतः अभीष्ट है, यह वियोग अल्पकालीन ही है, शीघ्र ही संयोग होगा। प्रश्न यह है कि जब गोपियों और कृष्ण का संयोग वेमेल था—क्योंकि दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न थीं—तब गोपियाँ उसे जान कर भी क्यों चाहती थीं, और वह हुआ भी क्यों, उत्तर है वही विधि की इच्छा। यदि वे कृष्ण-संयोग चाहती हैं तब कृष्ण की निंदा क्यों करती हैं। यही उनकी चतुरता है, प्रथम तो वे कृष्ण का गुण-गान करती हैं, जब उससे वे नहीं रीझते, तब अपनी श्लाघा और कृष्ण की निन्दा (व्याज से ही) कर कहती हैं कि हमारा-तुम्हारा संयोग अयोग्य था, किन्तु ब्रह्मा ने हठात् यह कर दिया, नहीं तो हम ऐसे निठुर-नायक को अपना सरस-प्रेम क्यों देतीं। यह कथन प्रेमाकर्षणार्थ ही है, क्योंकि प्रेमी प्रेम-पात्र की विमुखता देख उसकी ओर आकृष्ट होता है—इसी से अपनी आन्तरिक सम्मिलनेच्छा के छिपाने को वे दोष "दई" को देती हैं, सुन्दर चातुर्य है।

गोपियाँ ठीक कहती हैं उनकी वियोग-व्यथा निर्मोही मोहन कैसे जानें, उन्हें वियोग कहाँ व्यापा है, वे तो सब में रमे हैं, गोपियाँ भुक्त-भोगी हैं— स्त्रियों में तो हृदय ही, किंतु मनुष्यों में मस्तिष्क प्रधान रहता है—पुरुषों के हृदय वज्र से भी अधिक कठोर होते हैं—इसी से कृष्ण गोपियों की वियोग-व्यथा नहीं जान पाते।

जब कानन तें आवत सुंदर आनन देखैं,
तहँ यह बिधना क्रूर करि धरी नैन निमेखैं।
बुध-जन-मनहरनी वानी बिन जरति सबै तिय,
अधर-सुधासव सहित तनक प्यावहु, ज्यावहु पिय॥६॥

शब्दार्थ :—करि = बनाकर, निमेखैं = पलकों का लगाना-आसव = मदिरा, अर्क, प्यावहु, ज्यावहु = पियावहु, जियावहु, पिलाओ = जिलाओ (देखे ख० बो० के रूप)

भावार्थ :—निमेषों के कारण नेत्रों से पूर्ण दर्शन-सुख नहीं मिलने पाता, यह ब्रह्मा जी की क्रूरता का फल है। आपकी मधुर-वाणी के बिना स्त्रियाँ जल रही हैं अतः उन्हें अधर-सुधा-रसासव पिलाकर जिलाइये।

अर्थ :—जब हम वन से तुम्हें आता हुआ देखती हैं तब तुम्हारा सुन्दर मुख देख हमें परम प्रसन्नता होती है, परन्तु हम पूर्णतया उसका अनुभव नहीं कर सकतीं क्योंकि क्रूर ब्रह्मा ने नेत्रों में निमेषों को रख छोड़ा है, जो मुख-दर्शन में बाधा डालते हैं और पूर्ण दर्शन-सुख नहीं लेने देते। सभी गोपियाँ आपकी विद्वानों के भी मनों को हरने वाली वाणी के बिना जल रही हैं, अतः उन्हें आसव के साथ अधर-सुधा-रस तनिक पिलाइये और जिलाइये।

नोट—मुख-दर्शन-सुख के लेने में आँखों का पलक लगाना बड़ी बाधा डालता है, ब्रह्मा जी ने यह बड़ी क्रूरता प्रेमियों के साथ की है—यही भाव ऐसे ही भागवत में भी है। (देखो भागवत दशम० ३१ अ० श्लोक १५)

भगवान कृष्ण की सरस वाणी ज्ञानमयी है, इसी से वह बुधजनों के मनों को मुग्ध कर हर लेती है, (गीता ही लीजिये) फिर उनका शब्द, या स्वर और भी श्रुति-मधुर, मृदु और मनोहर है, गोपियाँ उसी वाणी के बिना संतप्त हैं—और अज्ञानाग्नि से दग्ध हैं अथवा उनके सरस स्वर के बिना दुखी है, अतः वे उनकी सरस-वाणी ही सुनना चाहती हैं, ज्ञान-गम्य नहीं, वे मादक प्रेमासवमय अधर-सुधा-रस की प्यासी हैं, उसी से उन्हें नव-

जीवन मिलेगा। प्रेमासव के पीने से उन्हें उनके हृदयगत वियोग-व्यथा-व्रण पीड़ा न देंगे, मादकता से वेदना का अनुभव न होगा। साथ ही रसोदीप्ति से उन्हें आनन्द मिलेगा, और विरह-व्यथा चली जावेगी। क्या सुंदर व्यंजकता है।

यह पर तुम्हरी कथा-अमृत सब ताप सिरावै,
अमरामर कौ तुच्छ करै ब्रह्मादिक गावै।
जिहि यह प्रेमसुधाधर मोहन-मुख न लख्यो पिय,
तिनकी जरन न मिटै रसिक, संविद, कोविद हिय ॥७॥

शब्दार्थ :—सिरावै=शान्त या ठंडा करती है; अमर=देवता, मर=मनुष्य (इनकी कथाओं को भी) संविद=संम्=सब प्रकार+विद्=जानने वाले=ज्ञानी, कोविद=कः=क्या+विद=जानने वाले, क्या न जानने वाले या सब जानने वाले या (क्या=प्रश्न) सब प्रश्नों (और उनके उत्तरों) को जानने वाले=विद्वान्।

भावार्थ :—कृष्ण-कथामृत सर्व तापहर श्रेष्ट तथा ब्रह्मादिकों से गाये गये हैं। विना कृष्ण-मुख देखे जलन नहीं जाती, चाहे कोई कितना ही ज्ञानी या रसिक क्यो न हो।

अर्थ :—तुम्हारी यह रसीली कथा अमर सुधा है और सब तपों को शान्त करती है अथवा तुम्हारा यह कथामृत सब संतापों को शान्त करने वाला हो दैवी और मानवीय कथाओं को तुच्छ करता है और इसे ब्रह्मादि भी गाते हैं। जिन्होंने प्रेम-सुधा-सिंचित अधरों वाले इस मोहन (मोहने वाले, या कृष्ण के) मुख को नहीं देखा, उनकी जलन नहीं दूर होती, चाहे वे कैसे ही रसिक, और ज्ञानी क्यों न हों।

नोट:—यहाँ उक्त भाव और भी स्पष्ट है, हृदय की जलन प्रेम-सुधाधर वाले मुख के दर्शन से ही जाती है। ज्ञान-विज्ञान से

नहीं—यह कृष्ण-प्रेम की महत्ता है, ज्ञान-विज्ञान की नहीं, यही भक्ति-मार्ग का मूल-मन्त्र है। साथ ही कृष्ण-कथा की भी गरिमा-महिमा दिखाई गई है।

जदपि परम सुखधाम स्याम पिय कौ लीला-रस,
तदपि तिनहिं अवलोकन बिन अकुलाय गई अस।
ज्यौं चन्दन, चन्द्रमा तपन सब सीतल करहीं,
पिय-बिरही जे लोग तिनहिं लगि आगि बितरहीं ॥८॥

शब्दार्थ :–बितरहीं = बिखराते या बरसाते हैं। लगि = के लिये

भावार्थ :—श्रीकृष्ण की लीलाओं का रस बिना उनके देखे शान्ति-सुखकारी नहीं, वरन् जलाने वाला होता है। जैसे चन्दन और चन्द्रमा विरह में विरहियों को शान्ति न देकर जलाते हैं।

अर्थ :—यद्यपि गोपियों के लिये सुख-सद्म प्रिय श्याम की ललित-लीला का रस उपस्थित है—वे उसे पान कर (उसका गान कर) सुख पा सकती हैं—तथापि बिना कृष्ण-दर्शन के वे सब व्याकुल हैं। जैसे चन्दन और चन्द्रमा तन-ताप-नाशक तो हैं, किन्तु प्रिय-विरह से व्यथित-जनों के मनों को वे ही दारुण हैं, वैसे ही कृष्ण-लीला का सुखद-शीतल रस, विरहिणी-व्रजाङ्ग-नाओं को जला रहा है।

नोट :—कृष्ण-दर्शन का महत्व हरि की सरस कथा के कीर्तन से भी अधिक है—कृष्ण-कथा में सुख-शान्तिकर रस है तो अवश्य, परन्तु वह बिना कृष्ण-संयोग के दाहक है—इसीसे गोपियाँ लीला-स्मरण से और भी व्याकुल होती हैं। विरह-व्यथा में तापनाशक चन्द्र-चन्दन का दाहक होना सभी कवियों ने दिखाया है।

छिन बैठति छिन उठति लोटीं तिहि रज माहीं,
थोरे जल ज्यौं मीन दीन आतुर अकुलाहीं।

सन्तत भय तें अभय करन करकमल तिहारे,
कह घट जैहै नाथ तनक सिर छुवत हमारे ॥६॥

शदार्थ :—सरल स्पष्ट है ।

भावार्थ :—व्याकुल गोपियाँ विकल हो रही हैं और कहती हैं कि नाथ! आप के हाथ अभय करने वाले हैं। अतः यदि उनसे आप हमारे सिर छू दें तो आप का कुछ घटेगा नहीं।

अर्थ :—गोपियाँ बहुत व्याकुल हैं, उनकी अवस्था थोड़े पानी में पड़ी हुई मछलियों के समान है। वे क्षण में बैठतीं, क्षण में उठतीं और क्षण में वहाँ की धूल में लोटती हैं, आतुरता और आकुलता से हीन-दीन गोपियाँ छटपटा रही हैं। वे कहती हैं कि हे कृष्ण! हे स्वामिन्! तुम्हारे कर-कमल सदैव भय से अभय करने वाले हैं, अतः यदि तुम उनसे हमारे सिर छू दो तो तुम्हारा क्या घट जावेगा।

नोट :—विकल गोपियाँ बार बार कहतीं हैं कि हे नाथ! हम पर कृपा करने से तुम्हारी हानि नहीं, यदि होती तो हम कदापि तदर्थ आग्रह न करतीं, न सही कृपा, सुखद कर-स्पर्श से ही हमें संतोष हो जावेगा, क्योंकि ऐसा करने में आपकी कोई भी हानि नहीं, प्रत्युत हम दोनों ही का लाभ है। आप को तो यश और हमें सुख मिलेगा। प्रथम उन्होंने कृष्ण से दुख हरने को कहा था, "कह घटि जैहैं नाथ हरत दुख हमरे हिय के" पंक्ति १६, अब वे केवल कर-स्पर्श ही चाहती हैं, क्या चतुर उक्ति है। गोपियों की भक्ति में माधुर्य-भाव है, इसीसे वे कृष्ण-कर-स्पर्श चाहती हैं। उनमें दास्य-भाव की भक्ति नहीं, अन्यथा वे पद-स्पर्श चाहतीं। देखिये—

"अर्थ न धर्म न काम रुचि, पद न चहौं निर्वान,
जन्म जन्म रघुबीर-पद, यह बरदान न आन।" गो० तुलसीदास

स्रवनमात्र मंगलदायक अस और न होई,
मोहन-मुख निरखे विन और सहाय न कोई।
ललित मधुर मृदुहास तुम्हारो प्रेम-सदन पिय,
मारत मनसिज बाननि कसकत प्रेमिन के हिय ॥१०॥

शब्दार्थ :—सरल स्पष्ट है।

भावार्थ :—कृष्ण-कथा के श्रवण करने की अपेक्षा उनका दर्शन अधिक सुखद है, परन्तु उनका मंजु-मृदु मधुर हास काम-बाण सा हृदय में लगता है।

अर्थ:—केवल कृष्ण-लीला का सुनना ही ऐसा मंगल-प्रद न होगा, बिना मोहन के मुख का दर्शन पाये कोई और सहाय नहीं है, और कोई सरल सुखद उपाय भी नहीं है। हे प्रियवर! तुम्हारा मंजुल-मंद मधुर-हास प्रेम का सद्म है, उसी के द्वारा तुम काम के बाण मारते हो, जो प्रेमियों के हृदयों में कसकते हैं।

नोट :—ऊपर तो कृष्ण-कथा-कीर्तन की अपेक्षा मुख-दर्शन को अधिक सुखद कहा गया है, परन्तु अब दुखद कहा जाता है उसी मुख-दर्शन को, क्योंकि मुख की मधुर मुसकान हृदयों को काम-शराहत करती है। प्रेम-सदन को मृदु-हास का विशेषण कर कह सकते हैं कि चूँकि यह प्रेम-सद्म है, अतः उससे उर-दुखद मदनोत्पत्ति होती है। या इसे प्रिय का विशेषण कर कह सकते हैं कि आपके मृदु-हास के ही रूप में काम अपने शर मारता है या यों भी कह सकते हैं कि मुख के नेत्रों से काम-शर जैसे दृष्टि-बाण आकर प्रेमियों के मनों में जा चुभते हैं—कैसे ही लेलें, मुख-दर्शन है आपत्ति-जनक। यह भाव भी भागवत का है-(देखो भाग० दशम२ ३१ अ० १७वां श्लोक)।

पारधिहू तैं तुम जु कठिन सुन हो मोहन पिय,
बेनु बजाय बुलाय मृगी सी मोहि हतीं तिय।

मात, पिता, पति, वन्धु सवै तजि तुम ढिग आईं,
जानि बूझि अधरात गहर वन मँह फिरि धाईं॥११॥

शव्दार्थ :—पारधि = वहेलिया, हती = मारा, अधरात = अर्धरात्रि, गहर—गहन या गह्वर, मँह—में, (देखो—सं० मध्ये, प्रा०—मज्झि, पु० हि०—माँह, हिन्दी = माँहि, मँह, महियाँ, माँ, मे, मैं) पारधी—किरात, अपार बुद्धि, बुद्धि से परे, पार कराने वाली बुद्धि वाला या उसे देने वाला ईश्वर।

भावार्थ :—हे प्रिय ! तुमने हमें वहेलिये के समान वंशी वजा कर बुलाया और माता-पिता-पतियों आदि से छुड़ा कर आधी रात में सारे वन में फिरा-मारा।

अर्थ :—हे मोहन प्यारे ! तुम वहेलिये से भी अधिक कठोर हृदयी हो, क्योंकि तुमने वंशी वजा मृगयों के समान हमें बुला कर मारा है। हम अपने माता, पिता, पति और भ्राताओं आदि को त्याग तुम्हारे पास आईं, तुमने हमें जान-बूझ कर इस अर्ध-रात्रि के समय घने वन में भटकाया।

नोट :—यह भी भागवत का भाव है, (देखो भाग० दश० अध्या० ३१ श्लोक १६ वाँ)। वस्तुतः वात यही है, पारधी होकर कृष्ण ने वीणा के स्थान पर वंशी वजा मृगियों सी मृगनैनी गोपियों को मुग्ध कर सताया। सर्वाङ्ग शुद्ध समीचीन उपमा है। रात को वुला कर भटकाना मारने से भी अधिक अत्याचार है। पारधी तो दिन में मृगियों को वीणा से आकृष्ट कर पाश-वद्ध कर मारता है, भटकाता नहीं। यहाँ प्रथम ही से अत्याचार हुआ, तड़पा तड़पा कर वेहाल किया गया। अस्तु, यह भी सही, सह लेंगे जो प्यारा अपना सहावेगा। अभी कुछ नहीं विगड़ा, जो हुआ सो हुआ, अव भी यदि दर्शन मिल जाये तो सव वन जाये, क्योंकि पारधी (किरात अथवा बुद्धि से परे, भवांवुध

से पार करने वाली या मुक्ति-कारिणी धी या बुद्धि वाला या उसे देने वाला ईश्वर) भगवान कृष्ण हैं, जिनके दर्शन मात्र से सर्वाभीष्ट सिद्ध होते हैं। श्लिष्ट पारधी से क्या चमत्कार आ गया है। कैसी सुन्दर व्याज-स्तुति है। पारधी, मोहन पिय, कठिन, मृगी-सी, अध-रात, वन आदि सभी शब्दों में गंभीर भाव-व्यंजक श्लेष और मुद्रा की छटा है। सब साभिप्राय और सहेतुक हैं। भव-सागर से पार कराने वाली धी या बुद्धि (पार+धी=बुद्धि) के दाता हरि हैं। वे मोहने वाले (मोह न-निर्मोही) परम-प्रिय नाथ हैं। वे कठिन अर्थात् कठिनता से प्राप्य या दुर्लभ हैं, भक्तात्मायें मृगियों (मृगी=भ्रमण करने या ढूँढ़ने वाली) सी हैं। वेणु भगवान का सत्यानन्द-रस-रूप ज्ञान है जिससे मुग्धाकृष्ट हो मृगी सी आत्मायें उनकी ओर आती हैं। अर्धरात्रि का अँधेरा समय अज्ञानावस्था है, विश्व ही वन है, जिसमें भटकना पड़ता है। यह भाव चतुरता से सूचित किये गये हैं। अर्धरात्रि को शान्तिमय योग-निद्रा या समाधि का समय तथा वन को विभु ईश्वर से व्याप्त प्रकृति-क्षेत्र के अर्थ में भी ले सकते हैं।

अजहूँ नहिं कछु बिगर्‌यौ रंचक तुम जौ आवौ,
मुरली कौ जूठौ अधरामृत आय पियावौ।
फनी-फनन पै अरपे, डरपे नाहिं नैक तब,
छतियन पर पग धरत डरत क्यौ कान्ह कुँवर अब॥१२॥

शब्दार्थ:—अजहूँ—आज भी, अब भी (हूँ—भी—) बिगर्‌यौ—बिगड़ा (मिलाओ खड़ी बो, और अवधी के रूप) फनी—फणी या फन वाला सर्प, अरपे—अर्पित करना, रखना।

भावार्थ:—यदि आप अब भी आकर हमें मुरली का जूठा अधरामृत दें तो सब बिगड़ी बात (जो कुछ भी थोड़ी-बहुत बिगड़ी है) बन जाये, जब आप सर्प के फनों पर पैर रखते हुए

न डरे थे, तब हमारे हृदयों पर रखते हुये आप को भय कदापि न करना चाहिये।

अर्थ:—यदि आज (अब) भी तुम आ जाओ तो कुछ अभी विगड़ा नहीं (जो कुछ विगड़ा भी है वह भी सुधर जावेगा) और यदि मुरली का जूठा अधरामृत आकर हमें पिलाओ (तो नव-जीवन-स्फूर्ति ही आ जावे)। जिस समय आपने सर्प के फनों पर अपने पैर रक्खे थे, तब आप तनिक भी न डरे थे, अब आप हमारे हृदयों पर पैर रखते हुये क्यों डरते हैं।

नोट:—गोपियों में माधुर्य और दास्य दोनों भावों की भक्ति झलकती है। प्रथम वे प्रेमिका हो कृष्णाधरामृत, फिर हरि-चरणों की सेवा और तब उनका स्वहृदय पर कर-स्पर्श चाहती हैं। ठीक है, अभी वे वियोग-व्यथा से मरणासन्न सी हैं, अधरामृत-पान से उन्हें नव-जीवन मिल जावेगा, तब कुछ भी हो, उन्हें हानि न होगी, चिन्ता नहीं यदि अधरामृत वंशी का जूठा है, किसी दूसरे का तो जूठा नहीं है। भाव-यह है कि वे किसी अन्य नायिका को उसमें भाग नहीं दे सकतीं। वांस (काठ) की मुरली पर मानवीय प्राकृतिक बिजली का हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ सकता। जूठा लेना और देना भी ठीक नहीं, अतः वे स्वहृदय पर प्रभु-पद-स्पर्श चाहती हैं—जिससे उनका वियोगाग्नि-तप्त मानस प्रभु के पवित्र पदाब्ज की सुधाधार रूपी गंगा से संसिक्त हो शुचि शीतलता पा सके। इसमें भय का स्थान नहीं, हृदय सर्प (काली) का फन नहीं, जिस पर आप नाच चुके हैं। उर तो कोमल, विष-हीन और शुद्ध माधुर्य-रस-युक्त है।

जानति हैं हम तुम जु डरत ब्रजराज दुलारे,
कोमल चरन सरोज उरोज कठोर हमारे।
सनै सनै पिय धरौ हमहि तुम निपट पियारे,
कित अटवी में अटत गडत तृन कूर्प अन्यारे ॥१३॥

शब्दार्थः—जु—जो, सनैः - सनै—शनैः - शनैः—धीरे-धीरे अटवी—वन, अटत—घूमते हो, कूर्प—कँटीली घास।

भावार्थः—आप के भय का कारण यह है कि आपके पद कोमल और हमारे उरोज कठोर हैं, जो गड़ जायेंगे। तौ भी वन में घूमने से, जहाँ व्यर्थ ही में कुकंटकादि गड़ते हैं, हमारे हृदय पर पैर रखना, जहाँ कुछ उरोज ही गड़ेंगे, अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार हमारा, जो आपकी प्रिया हैं, भला होगा।

अर्थः—हमें ज्ञात हो गया कि हे ब्रज-राज-दुलारे कृष्ण ! आप (हमारे हृदयों पर पैर रखने में) क्यों डरते हैं, कारण यह है, कि आपके चरण-कमल तो कोमल और हमारे उरोज कठोर हैं। अतः हे नाथ ! उन कठिन उरोजों वाले हृदयों पर धीरे-धीरे सावधानी से पैर रक्खो, क्योंकि हमें भी तुम प्रिय हो, अतः हमारा सुखद हित करना ही तुम्हारा कर्तव्य है, हमारा-हित हमारे हृदय पर आप के पैर रखने ही से होगा। वन में, जहाँ पर तृण और कुश-कंटकादि पैरों में गड़ते हैं, क्यों व्यर्थ घूमते हो।

नोटः—गोपियों ने भय का अच्छा कारण ढूँढा, वे कहती हैं, कि कृष्ण को हमारे हृदय पर पैर रखने में उनके मृदु पदाब्जों में हमारे कठिन उरोजों के गड़ने का भय है। यहाँ गोपियाँ चतुरता से यों अपने (कुच-काठिन्य-द्वारा) नवयोवन और मुग्धत्व का संकेत दे, कृष्ण को आकर्षित करती हैं। रूप-गर्विता के भाव का भी चारुचतुर आभास है। फिर वे कहती हैं कि हमारे हृदयों पर पैर रखने में तो यह भय व्यर्थ है, क्योंकि उरोजों के गड़ने से वैसा कष्ट न होगा, जैसा व्यर्थ वन में घूमने तथा कुश-कंटकादिकों के गड़ने से होता है। आपके रंच कष्ट से हमारा हित और आपको परोपकार का सुयश होगा, किन्तु वनाटन और कंटकादि के गड़ने से आपको केवल कष्ट ही है, न तो स्वार्थ है, न परमार्थ, यह

भी सूच्य है कि कृष्ण उनके हृदयों को पद-स्पर्श न दे कर-स्पर्श दें, क्योंकि उरोज पदों से स्पर्श्य नहीं, वरन् कोमल करों से स्पर्श्य हैं। वे जानती हैं कि कृष्णा हमारे नव-योवन तथा नवोदित कठोर उरोजों से, रति-रस-नागर, होकर इस विलोम कथन पर भी, उचित व्यवहार करेंगे। वे कहती हैं कि अपनी प्रियाओं से ऐसा करने पर, गोपियों का हित, हरि को परोपकार का सुयश (स्वार्थ तथा परार्थ दोनों ही) होगा, यह उरोजों के गड़ने तथा वन में व्यर्थ घूमने और कंटकादि के गड़ने से अच्छा है। क्या चातुरी से स्वार्थ-सिद्धि का यत्न किया है, नागर कृष्ण की नागरी गोपियाँ ही तो हैं।

इस अध्याय के प्रायः सभी भाव न्यूनाधिक रूप से भागवत के ही हैं, ऐसा जान पड़ता है कि यह अध्याय भागवत के दशम स्कंध के ३१वें अध्याय का कुशल भावानुवाद सा है। कहीं-कहीं कुछ मौलिकता भी है। (शब्दालंकारों को छोड़ कर) शेष श्लेष उपमा, मुद्रादि अलंकार बड़े ही मनोहर हैं। उपमायें आदि भी भागवत की ही हैं, हाँ उनका मौलिक सा प्रयोग-निर्वाह सराह नीय है।

इति तृतीयोऽध्यायः

—:०:—

रासपंचाध्यायी

चतुर्थोऽध्यायः

प्राक्कथन

यह अध्याय भी श्री भागवत के ३२वें अध्याय का भावानुवाद सा ही है और सर्वथा उसी पर आधारित सा है, हाँ, कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन करने की स्वतंत्रता को कवि ने स्वाधिकार समझा है, किन्तु परिवर्तन रुचिर, रोचकता, अर्थ-गुरुता और सरसता का पोषक है। अलंकार भावार्थ-गौरव के साथ सरस सार्थक हैं। सूर ने इस प्रसंग पर कुछ ही पद दिये हैं। नन्ददास ने श्री मद्भागवतानुसरण कर इसे पर्याप्त विस्तार दिया है, और अन्त में प्रेम और भक्ति के सिद्धान्त मार्मिकता से व्यंजित कर सहसा ही इति श्री कर दी है। श्री मद्भागवत में श्री कृष्ण ने अपने छिप जाने और गोपियों को छोड़ जाने का कारण कहा है, इसे यहाँ नहीं कहा गया। हाँ, भागवत के दार्शनिक तत्व को तन्महत्ता सोच संक्षेप से स्पष्ट किया गया है।

इस अध्याय में वियोग-व्यथिता गोपियों को श्री कृष्ण भगवान अपने ही बीच में मिल जाते हैं और तब उन्हें पुनर्मिलन का सुख प्राप्त होता है। कृष्ण सहर्ष उनमें रमण कर गोपियों के मनोरथों को पूर्ण करते हैं। फिर एक स्थान पर गोपियाँ उन्हें अपने वस्त्रासन पर बिठा उनसे प्रेम-भक्ति के मार्मिक तत्व पूछतीं और श्री कृष्ण उन्हें सूक्ष्मतः समझाते हैं।

इस प्रकार प्राथमिक शृंगार यहाँ पर भक्ति-प्रेम हो जाता है, और भक्ति-प्रेम का ही महत्व स्थिर होता है, जिससे कृष्ण-

लीला-सम्बन्धी शृंगार में, भक्ति और प्रेम की पुनीत वृत्तियाँ जागृत होती हैं।

इहि विधिप्रेम-सुधानिधि वढ़ि गई अधिक कलोलैं,
विह्वल ह्वै गईं वाल लाल सौं अलवल वोलैं।
तव तिनही में प्रगट भये नंद-नन्दन पिय यौं,
दृष्टि वन्द करि दुरै वहुरि प्रगटै नटवर ज्यौं ॥२॥

शब्दार्थः—कलोलैं:—क्रीडायें, अलवल=ऊटपटांग, दृष्टि-बन्ध=आत्मिक वल से दृष्टि पर ऐसा प्रभाव डालना कि जो वस्तु या कार्य वस्तुतः हो भी नहीं; वह भी दिखाई देने लगे। नट या मदारी ऐसा प्रायः किया करते हैं। नटवर=चतुर नट और नटवर, श्री कृष्ण जी।

भावार्थः—प्रमोद्वेग के प्रवर्धन से गोपियाँ विह्वल हो गईं और अल्ल-वल्ल वकने लगीं तभी श्री कृष्ण नटवर के समान उनके वीच में प्रगट हो गये।

अर्थ :—इस प्रकार प्रेम-पीयूष के पयोधि में तरंग-कलोलें वढ़ गईं या जव गोपियों के मानसों में प्रेम-सुधा-रस वढ़ा तव वे (गोपियाँ) प्रेम-प्रावल्य एवं वाहुल्य से ऐसी विह्वल हो गईं कि श्री कृष्ण से वे अनर्गल वातें (कृष्ण की काल्पनिक मूर्ति के प्रति ही) कहने लगीं, तव उन्हीं गोपियों के वीच में इस प्रकार श्री कृष्ण भगवान प्रगट हो गये, जिस प्रकार चतुर नट दर्शकों की दृष्टि को वाँध कर छिप जाता और फिर प्रगट हो जाता है।

नोटः—तृतीय अध्याय में कवि ने गोपियों को वियोग से विकल दिखला कर अन्त में उन्हें श्री कृष्ण की प्रीति तथा लीला में नितान्त विलीन ही कर दिया है, किन्तु ऐसी विकल नहीं जैसी वे प्रथम थीं। वे कृष्ण-प्रेम में पग कर कृष्णमय ही हो गई

थीं। वे उपालम्भ-रूप से अपने हृदयोद्गार निकालती हैं, और कृष्ण से दासी या प्रिया हो पुनर्मिलन की प्रार्थना करती हैं, यों वे कृष्ण में लीन सी हो गई हैं। ऐसी 'अवस्था में उनमें' प्राथमिक वियोग की व्याकुलता नहीं रह गई, वरन् क्रीड़ा-कौतुक तथा आमोद-प्रमोद की प्रसन्नता तथा कृष्ण में तन्मयता आ गई है। इसी से वे जीवित भी रह सकीं। नहीं तो कदाचित वे विरह-ताप से तप्त-संतप्त हो कर कुछ और हो गई होतीं, यह बस "प्रेम-सुधा" ही थी, जिसने उन्हें अमर सा कर स्वस्थ बना रक्खा है, हाँ उनमें प्रेमोन्माद की प्रमत्तता अवश्य आ गई है। अति प्रत्येक वस्तु की हानिकर है, किन्तु कृष्ण-प्रेम-सुधा की अति से हानि नहीं, वरन् लाभ होता है। वे कृष्ण-प्रेम तथा उनके शुचि-ध्यान में आत्मविस्मृति से विलीन हैं, उनका सारा ध्यान एकाग्र है, अतः वे अनर्गल बोलने लगीं, क्योंकि उनके अन्तर्जगत और वाह्य ज़गत् में साम्य-पूर्ण सामंजस्य नहीं, उनका शरीर तो कहीं है और मन कहीं, उनके सम्मुख कृष्ण-मूर्ति (चाहे प्रत्यक्ष - गत हो या ध्यान - गत) प्रगट है। यही है ध्यानैकाग्रता का रहस्य। अंतिम-पद का भाव भागवत का है, परन्तु विकसित रूप में है।

चित्तस्थैर्य, ध्यानैकाग्रता और विचार-प्राबल्य से अनुपस्थित पदार्थों की भी उपस्थिति हो जाती है, यह मनोविज्ञान का तथ्य है, इसी से सामाधि में ब्रह्मात्म के दर्शन का अनुभव होता है। किन्तु कवि ने यहाँ कृष्ण जी की नट-नागरता दिखाई है, वे कौतुकी नट के समान गोपियों की दृष्टि बाँध कर गुप्त हो प्रगट हुये हैं। इससे कृष्ण की योगीश्वरता भी व्यंजित है, साथ ही उनकी रहस्यात्मक लीला-प्रियता का भाव भी स्पष्ट है। चूँकि गोपियाँ कृष्ण को नटनागर मानती हैं, अतः वे उन्हें उसी रूप में लीला करते हुए मिलते हैं। उन्हें वे ज्ञानियों के समान

योगीश्वर के रूप में नहीं देखतीं। वे भक्ति-प्रेम पूरित हैं, उन्हें योग और ज्ञान से प्रयोजन नहीं।

नटवर शब्द में भाव-व्यंजक मुद्रालंकार हैं। कृष्ण स्वयंमेव नटवर या नटनागर हैं। गोपियाँ कृष्ण की प्रतीक्षा में थीं, उन्हें वे मिल भी गये—मिलें क्यों नहीं—"जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहिं मिलत न कछु संदेहू।" प्रतीक्षित ध्यान (Expectant attention) प्रबल हो प्रतीक्ष्य पदार्थ की कल्पना को चरितार्थ या साकार प्रत्यक्ष ही कर देता है—यही यहाँ व्यंजित है, कृष्ण की रास जैसी लीलायें इसी प्रतीक्षित ध्यान पर आधारित हैं, क्योंकि कृष्ण योगीश्वर हैं।

पीत-बसन बनमाल धरें मंजुल मुरली कर,
मन्द मधुर मुसिक्यान निपट मन्मथ मन्मथ कर।
पियहिं निरखि तियवृन्द उठीं सब एकबार यों,
फिरि घट आये प्रान बहुरि उझकत इन्द्री ज्यों ॥२॥

शब्दार्थ:—सरल और स्पष्ट हैं।

भावार्थ:—पीताम्बर, वनमाल, मुरली और मंद मीठी मुसकान के साथ कृष्ण प्रगट हुये, अतः उन्हें देख सारी गोपियाँ एक बारगी उठ खड़ी हुईं।

अर्थ:—पीताम्बर, वनमाल तथा हाथ में मुरली लिये हुये कंदर्प के दर्प को भी दलित करने वाले कृष्ण मन्द मधुर मुसकान के साथ प्रगट हुये। प्यारे कृष्ण को देखकर एक बारगी ही सब गोपियाँ इस प्रकार उठ खड़ी हो गईं जैसे इंद्रियाँ शरीर में प्राणी के पुनरागमन से सहसा ही साथ-साथ चैतन्य हो उठती हैं।

नोटः—गोपियाँ कृष्ण के इसी प्रिय मोहन रूप के प्रेम-पयोधि में मग्न थीं, अतः इसी रूप में वे प्रगट हुये ("ये यथा मां

(श्यामघन) से फिसल कर दूसरी विजली (गोरी गोपी) से जा मिली है। कृष्ण और गोपी दोनों की अन्तप्र कृतियों की विद्युत-लहरियाँ मिल गई हैं। विज्ञानानुसार पुरुष में धन (Positive) और स्त्री में ऋण (Negative) बिजलियाँ होती हैं, उनका मिलन ही प्रेम-मिलन है। घन-विद्युत भू-विद्युत से आ मिलती है, अर्थात, दिव्यात्म-शक्ति (हरि की) गोपी की पार्थिव शक्ति से मिल गई है, यह सुन्दरता से व्यंजित हैं। बादल की विजली चमक कर वायु-मंडल से होती हुई भू-विद्युत से मिल जाती है, इसी प्रकार यहाँ भी दो बिजलियाँ चमक के साथ पीताम्बर से होकर मिल गईं है, यही गोपी-कृष्ण सम्मिलन है। बस दोनों परस्पर लिपट कर मिल गये हैं।

यमुना-पुलिन, पर गोपिका-रूपी मीन दुखी थी, अब उसे रस-पानी (रस-रूप ब्रह्म) या कृष्ण मिल गया, बस वह फिर सुखी हो गई। धन्य है, सुन्दर व्यंजना-मयी उक्ति है।

कोउ पिय भुज सौं लटकि मटकि रहि नारि नवेली,
मनु सुन्दर सिंगार विटप लपटी छबि-बेली।
कोउ कोमल पद कमल कुचनि बिच राखि रही यौं,
परम निधन धन पाय हिये सौं लाय रहत ज्यौं ॥५॥

शब्दार्थ:—सरल स्पष्ट है, छवि-बेली—रूपक, सिगार-विटप-रूपक।

भावार्थ:—एक नवेली गोपी कृष्ण-भुज पर लटक-मटक रही है, दूसरी उनके पद-कमल अपने हृदय पर रख रही है।

अर्थ:—कोई नवेली गोपी प्यारे कृष्ण की भुजा में लटक कर मटक रही है, ऐसा जान पड़ता है मानो सुन्दर शृङ्गार के वृक्ष से छवि की लता लिपट रही हो। कोई कृष्ण के पद-कमल

अपने वक्षस्थल पर कुचों के बीच में यों रख रही है जैसे कोई निर्धनी धन पा उसे स्वहृदय से लगा रखता है।

नोटः—नवेली होने से गोपी अपने प्रेमी-नायक की भुजा पर लटक और मटक रही है। मटके क्यों न, एक तो वह नवेली है, उसमें नव-योवन का मदावेश है, दूसरे उसे उसका प्रेमी-नायक गलबाँही (आलिंगन) का भी सुख दे रहा है। गोपियों में कृष्ण को पाकर फिर माधुर्यमय प्रेम-भाव उमड़ उठा, दास्यभाव नहीं रहा, यह उनके नव-योवन का प्रभाव है, वे नवेली हैं, परन्तु जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं वे दास्यभाव से ही स्वमनस्तुष्टि करती हैं, इसी से एक गोपी पूर्व कथनानुसार—(तृतीय अ० पंक्ति ४८ वीं तथा ५१ वीं)—कृष्ण के पद-कमल अपने वक्षस्थल पर रख कर शान्ति पाती है। यह भाव है भागवत ही का, किन्तु इसके साथ प्रयुक्त उत्प्रेक्षा और उदाहरण मौलिक हैं।

कोऊ पिय कौ रूप नैन भरि उर धरि आवति,
मधुमाखी ज्यौं देखि दसौदिसि अनि छवि पावति।
कोउ दसननि दै अधर विंब गोविन्दहिं ताड़ति,
कोउ एक नैन-चकोर चारु मुख-चन्द निहारति ॥८॥

शब्दार्थः—मधुमाखी=शहद बनाने वाली मक्खी, संस्कृत मक्षिका—देखो यहाँ—मक्षिका (म+क्+ष+इ+का—"क हट गया, ष् भी गया, ष् के स्थान पर ख् हुआ और आदि स्वर की वृद्धि हुई, अतः माखी, मक्खी—माछी) छवि-प्रसन्नता विम्ब,= विम्बाफल, लाल वर्ण का एक फल, यह अधर का उपमान होता है, प्रतिविम्ब, छाया, मुख-प्रकाश—ताडति—ताड़ति, ताडित करती है।

भावार्थः—स्पष्ट एवं सरल है।

अर्थ :--कोई प्यारे कृष्ण के रूप को नेत्रों में भर अपने हृदय में यों रख लेती और यों प्रसन्न होकर देखती है, जैसे मधु की मक्खी अपने चारो ओर मधु को देखकर प्रसन्न होती है। कोई गोपी अपने दाँतों के नीचे अपने ओठों को दबा कर (लज्जा एवं आश्चर्य से) श्रीकृष्ण को देखती है और कोई अपने चकोर-रूपी एक टक नेत्रों से (या कोई एक अपने चकोर रूपी नेत्रों से) कृष्ण का सुन्दर चन्द्र-मुख देखती है।

नोटः—यह गोपी लजीली और मुग्धा जान पड़ती है, इसी से कृष्ण से आँखें नहीं मिलाती, वरन् उनके रूप-रस को नेत्रों में भर कर अपने हृदय में रख लेती है—और वहीं दर्शन-सुख प्राप्त करती है, उसमें प्रेम है, भक्ति है, वह ध्यानावस्थित है—यह भाव भागवत ही का है, हाँ उदाहरण अवश्यमेव मौलिक है, कृष्ण-रूप में मधुर मधु है, उसे वह गोपी मधु-मक्षिका के समान लेकर अपने उर-कोष में रखती हुई प्रसन्न होती है, इस प्रकार उसे सर्वतः मधु ही दिखाई देता है। लजार्ली गोपी कृष्ण-मूर्ति को हृदय में रखती है अथवा कृष्ण जब दूसरी गोपियों की ओर स्वमुख ले जाते हैं तब वह गोपी यह देर तक देख नहीं सकती, इसी से वह हरि-मूर्ति को स्वमन-मंदिर में रख लेती है—भाव-साम्य देखियेः—लोचन-मग रामहिं उर आनी" तुलसीदास—

कोई गोपी (जो कदाचित मुग्धा और लज्जाकुला है) दाँतो के तले अधर दबाती है, उसे कृष्ण के सहसा प्रकट हो जाने पर आश्चर्य सा हो रहा है, साथ ही लज्जा-वश भी हो नितान्त मौन रहने के लिये वह अधर को दाँतों के नीचे दबा रखती है, मौन हो हरि-विम्ब (छाया या प्रतिविम्ब अपने आभूपणों में या पृथ्वी पर) की ओर टकटकी बाँध देखती है—अथवा वह कृष्ण के पूर्वाचार पर (छिप जाने तथा उसे वियोग का दुःख देने पर) कुपित हो दाँतों के नीचे रोष से ओठ दबाती है और कृष्ण

के बिम्ब या मुख पर ताडती या तमाचे लगाती है—यह सरोपता के साथ ही प्रेम-वेश भी सूचित करता है।

कहुँ काजर, कहुँ कुमकुम, कहुँ कछु पीक लगी वर;
तहँ राजत व्रजराज कुँवर कन्दर्प-दर्प-हर।
बैठे पुनि तिहिं पुलिनहि परमानन्द भयौ है,
छबिलिनि अपनो छादन छवि सुबिछाय दयौ है॥७॥

शब्दार्थ:—सरल स्पष्ट है।

भावार्थ:—श्री कृष्ण के शरीर में कहीं पर काजल, कहीं पर कुमकुम और कहीं पर पीक (पान की) लगी हुई है। अथवा पीक/आदि के चिन्ह वस्त्रों या वालूं पर हैं। इन सब के साथ व्रजराज - कुमार मदन-मद-नाशक हो कर वहाँ शोभायमान हैं। कुछ कालोपरान्त श्री कृष्ण जी वहीं पुलिन पर जहाँ पर छबीली सुन्दरी गोपियों ने अपने छविमान वस्त्र विछा दिये हैं, बैठ गये, तब सब को इससे बड़ा आनन्द हो गया।

अर्थ:—कृष्ण के शरीर पर काजल, कुमकुम और पीक के चिन्ह हैं या वस्त्रों या पुलिन पर हैं। वे उस पुलिन पर गोपियों के विछाये हुये वस्त्रों के आसन पर बैठ गये।

नोट:—कृष्ण के शरीर (वस्त्रों या पुलिन) पर काजल, कुमकुम और पीक के चिन्ह उनकी रति-रस-लीला को सूचित करते हैं। कदाचित कृष्ण और राधा रति के पश्चात् ही प्रगट हुए थे। उन्हें राधा का त्याग तो खला था, गोपियों का नहीं। राधा अब गोपियों के साथ हैं, इसीसे कृष्ण को गोपियों पर भी दयालु होना पड़ा। गोपियों ने अपने वस्त्र विछा दिये और कृष्ण उनपर बैठ गये। दोनो पक्ष श्रम-शिथिल थे, गोपियाँ विचारी वन में कृष्ण को खोजते खोजते थक गई थीं, अब उन को पाकर वे बैठकर कुछ शान्ति-सुख

चाहती थीं, हरि भी उधर रति-श्रम-शिथिल थे, अतः विश्रामार्थ वे भी बैठ गये, गोपियों का सत्कार भी सार्थक हो गया। यह भाव भागवत का है, परन्तु व्यक्त करने का ढंग मौलिक है।

एक एक हरिदेव सबहि आसन पर बैसे,
किये मनोरथ पूरन जाके हैं मन जैसे।
जो अनेक जोगेस्वर हिय मैं ध्यान धरत हैं,
एकहिं बेर सुरूप एक सबक सुख बितरत हैं ॥८॥

शब्दार्थ:—सरल-स्पष्ट है।

भावार्थ:—प्रत्येक आसन पर एक कृष्ण विराजते थे, और इस प्रकार प्रत्येक गोपी को सुख देते थे।

अर्थ:—सब गोपियों के बिछाये हुये आसनों पर पृथक पृथक (एक एक पर एक एक) कृष्ण आ बैठे और जिस गोपी के जैसे मनोरथ थे, वैसे पूरे किये। यह सब उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अनेक योगीश्वर एक प्रभु का ध्यान स्वहृदयों में धरते हैं और एक ही समय सब को एक प्रभु पृथक पृथक मिलकर सुख देते हैं।

नोट:—इस स्थान पर कृष्ण की योगमायामयी लीला का कुछ प्रदर्शन किया गया है। कृष्ण एक होते हुये भी अनेक-रूप होकर प्रत्येक गोपी को अलग-अलग मिले, प्रत्येक के पृथक आसन पर एक ही समय में बैठे और सब के मनोरथ पृथक-पृथक पूरे किये, हरि "अनेक रूप रूपाय" हैं ही। इस स्थान पर हम मनोविज्ञान के उक्त सिद्धान्तों को चरितार्थ होते देखते हैं। एक ही ईश्वर एक ही समय में अनेक योगियों को पृथक-पृथक उनके भावानुसार प्राप्त होता है। यह एकेश्वर वाद के साथ तज्जन्य अनेकेश्वरवाद का सामंजस्य है, इसे प्रतिबिम्ब-सिद्धान्त का भी रूप देकर रक्खा

गया है। जैसे एक ही सूर्य प्रतिविम्ब-रूप से अनेक घटों में दीखता है, वैसे ही एक ईश्वर का भी प्रतिविम्ब संसार के अनेक पदार्थों में दीखता है। रामचन्द्र भी एक ही साथ अयोध्या-वासियों से अनेक रूप होकर पृथक-पृथक मिले थे। मनोविज्ञान इसे विचार-भावजन्य मानता है। विचार-प्रावल्य से मन स्वकल्पित रूप को प्रत्यक्ष रूप में पाता है। एकाग्र ध्यान से कल्पित अप्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष होता है। अनीश्वर वादी मनोविज्ञान के आधार पर योगी के ब्रह्म-दर्शन को स्वविचार-प्रावल्य-कृत मानते हैं, वास्तविक नहीं। इसे यहाँ भक्ति सिद्धान्तानुसार नन्ददास जी भागवत के आधार पर कृष्ण की लीला कहते हैं। प्रथम कृष्ण को रसिक तथा कंदर्प-दर्पहर कह रति-रंग-रंजित दिखा कर यहाँ उन्होंने उनका योगीश्वर-रूप दिखाया है और योग की महत्ता-सत्ता भी भक्ति-प्रेम के साथ सूचित की है।

जोगीजन वन जाय जतन करि कोटि जनम पचि,
अति निर्मल करि राखत हिय में आसन रचि रचि।
कछु छिन तहँ नहिं जात नवलनागर सुंदर हरि,
व्रज-जुवतिन के अम्बर पर बैठे अति रुचि करि ॥६॥

शब्दार्थः—आसन—बैठने का स्थान, योग में बैठने के ढंग—जैसे कमलासन, ताड़ासन, सिद्धासन, मयूरासनादि।

भावार्थः—जो कृष्ण भगवान योगियों के कठिन योग-साधन से शुद्ध हृदयासनों पर कठिनता से तनिक समय के लिये बैठते हैं, वे ही गोपियों के आसनों पर प्रसन्नता से विराजमान हैं।

अर्थः—योगी जन वन में जाकर करोड़ों जन्मों के यत्नों से अपने हृदयों को शुद्ध करते हैं, उनके ऐसे निर्मल हृदयों में भी भगवान कृष्ण कठिनाई से कभी कुछ प्रगट होते हैं, वे ही कृष्ण

चाहती थीं, हरि भी उधर रति-श्रम-शिथिल थे, अतः विश्रामार्थ वे भी बैठ गये, गोपियों का सत्कार भी सार्थक हो गया। यह भाव भागवत का है, परन्तु व्यक्त करने का ढंग मौलिक है।

एक एक हरिदेव सबहि आसन पर बैसे,
किये मनोरथ पूरन जाके हैं मन जैसे।
जो अनेक जोगेस्वर हिय मैं ध्यान धरत हैं,
एकहिं बेर सुरूप एक सबक सुख बितरत हैं॥८॥

शब्दार्थ:—सरल-स्पष्ट है।

भावार्थ:—प्रत्येक आसन पर एक कृष्ण विराजते थे, और इस प्रकार प्रत्येक गोपी को सुख देते थे।

अर्थ:—सब गोपियों के बिछाये हुये आसनों पर पृथक पृथक (एक एक पर एक एक) कृष्ण आ बैठे और जिस गोपी के जैसे मनोरथ थे, वैसे पूरे किये। यह सब उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अनेक योगीश्वर एक प्रभु का ध्यान स्वहृदयों में धरते हैं और एक ही समय सब को एक प्रभु पृथक पृथक मिलकर सुख देते हैं।

नोट:—इस स्थान पर कृष्ण की योगमायामयी लीला का कुछ प्रदर्शन किया गया है। कृष्ण एक होते हुये भी अनेक-रूप होकर प्रत्येक गोपी को अलग-अलग मिले, प्रत्येक के पृथक आसन पर एक ही समय में बैठे और सब के मनोरथ पृथक-पृथक पूरे किये, हरि "अनेक रूप रूपाय" हैं ही। इस स्थान पर हम मनोविज्ञान के उक्त सिद्धान्तों को चरितार्थ होते देखते हैं। एक ही ईश्वर एक ही समय में अनेक योगियों को पृथक-पृथक उनके भावानुसार प्राप्त होता है। यह एकेश्वर वाद के साथ तज्जन्य अनेकेश्वरवाद का सामंजस्य है, इसे प्रतिविम्ब-सिद्धान्त का भी रूप देकर रक्खा

गया है। जैसे एक ही सूर्य प्रतिविम्ब-रूप से अनेक घटों में दीखता है, वैसे ही एक ईश्वर का भी प्रतिविम्ब संसार के अनेक पदार्थों में दीखता है। रामचन्द्र भी एक ही साथ अयोध्या-वासियों से अनेक रूप होकर पृथक-पृथक मिले थे। मनोविज्ञान इसे विचार-भावजन्य मानता है। विचार-प्राबल्य से मन स्वकल्पित रूप को प्रत्यक्ष रूप में पाता है। एकाग्र ध्यान से कल्पित अप्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष होता है। अनीश्वर वादी मनोविज्ञान के आधार पर योगी के ब्रह्म-दर्शन को स्वविचार-प्राबल्य-कृत मानते हैं, वास्तविक नहीं। इसे यहाँ भक्ति सिद्धान्तानुसार नन्ददास जी भागवत के आधार पर कृष्ण की लीला कहते हैं। प्रथम कृष्ण को रसिक तथा कंदर्प-दर्पहर कह रति-रंग-रंजित दिखा कर यहाँ उन्होंने उनका योगीश्वर-रूप दिखाया है और योग की महत्ता-सत्ता भी भक्ति-प्रेम के साथ सूचित की है।

जोगीजन वन जाय जतन करि कोटि जनम पचि,
अति निर्मल करि राखत हिय मैं आसन रचि रचि।
कछु छिन तहँ नहिं जात नवलनागर सुंदर हरि,
ब्रज-जुवतिन के अम्बर पर बैठे अति रुचि करि ॥६॥

शब्दार्थः—आसन—बैठने का स्थान, योग में बैठने के ढंग—जैसे कमलासन, ताड़ासन, सिद्धासन, मयूरासनादि।

भावार्थः—जो कृष्ण भगवान योगियों के कठिन योग-साधन से शुद्ध हृदयासनों पर कठिनता से तनिक समय के लिये बैठते हैं, वे ही गोपियों के आसनों पर प्रसन्नता से विराजमान हैं।

अर्थः—योगी जन वन में जाकर करोड़ों जन्मों के यत्नों से अपने हृदयों को शुद्ध करते हैं, उनके ऐसे निर्मल हृदयों में भी भगवान कृष्ण कठिनाई से कभी कुछ प्रगट होते हैं, वे ही कृष्ण

यहाँ व्रज-वालाओं के वस्त्रासनों पर सुरुचि से विराजमान हैं।

नोटः—यहाँ नन्द जी ने योग को भक्ति-प्रेम से कुछ हलका कर दिया है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी "जतन करि कोटि जनम पचि···"से सूच्य है, योग से हरि की प्राप्ति तो होती है, किन्तु उनका सान्निध्य एवं सम्मिलन-सुख नहीं प्राप्त होता, और वह भी वहुत कष्ट से। ऐसा भक्ति-प्रेम के मार्ग में नहीं, इनसे हरि-सम्मिलन तथा सान्निध्य चिरकाल के लिये सुगमता से प्राप्त होता है। एक में ज्ञान और विराग का तथा दूसरे में भाव या भावना का महत्व है। "आसन" शब्द श्लिष्ट है। योग से शुद्ध मानस में हरि "कहुँ छिन तहँ नहिं जात", किन्तु भक्ति-प्रेम से विछाये "व्रज-जुवतिनकैं अम्वर पर वैठे अति रुचि करि"—अतः भक्ति-प्रेम का पद अवश्य ऊँचा है, यही भक्तवर नन्ददास का मर्म है।

कोटि-कोटि व्रह्मांड जदपि एकहि ठकुराई,
व्रज-देविनि की सभा साँवरे अति छवि पाई।
ज्यों नवदल-मण्डल मैं कमल-कर्निका भ्राजै,
त्यौं सव सुन्दरि सन्मुख सुन्दर स्याम विराजै ॥१०॥

शव्दार्थः—ठकुराई = प्रभुता, कर्निका = कमल-कोष।

भावार्थः—समस्त व्रह्मांड के एक छत्रपति प्रभु होकर भी हरि को गोपियों की ही सभा में शोभा प्राप्त हुई।

अर्थः—यद्यपि करोड़ों व्रह्माडों में कृष्ण की एक ही प्रभुता है तौ भी उन्हें शोभा व्रज-देवियों की सभा में ही प्राप्त होती है। जिस प्रकार नवीन पत्र-मंडल के वीच में कमल की कर्णिका (कोष) शोभित होती है उसी प्रकार कृष्ण सव सुन्दर गोपियों के मध्य में विराजमान हैं।

नोटः—यहाँ कृष्ण भगवान की विराट प्रभुता व्यंजित है,

साथ ही उनकी महत्ता-सत्ता केवल ब्रज-देवियों में ही प्रगट होती है। "कोटि-कोटि ब्रह्मांड से तो कृष्ण का प्रभुत्व एवं शौर्य स्पष्ट है, और दूसरी पंक्ति से उनका शील और सौंदर्य। इस विराट-विभु-रूप के वैभव में अद्भुत, भयानक, वीर तथा "ब्रजदेविनि की सभा साँवरे" के रूप में शृंगार एवं हास्य रस सूचित है। वस्तुतः महाराज की महारानी से, देव की देवी से तथा पुरुप की नारी से ही शोभा होती है। "तैसे हि नाथ पुरुप, विन नारी।" उदाहरण विशेप रोचक, नहीं है। आगे अब दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म किन्तु मार्मिक निष्कर्ष भावगम्यता से देखिये, जो मूलतः भागवत से है। मौलिकता शैली में ही है।

बूझन लागीं नवल वाल नँदलाल पियहिँ तव,
प्रीति-रीति की वात मनहिं मुसकात जात सव।
इक भजतें को भजें एक विन भजतेहिं भजहीं,
कहौ कान्ह ते कवन आहिं जे दोउन तजहीं ॥११॥

शब्दार्थः—बूझना = पूछना, भजते—ध्यान करने वाले, सेवा करने वाले, भागने वाले, दूर हटने या रहने वाले, भजैं—सेवते हैं, ध्यान करते हैं, ग्रहण करना, साथ में रमण करना भोग करना। आहिं—अहैं—हैं (अवधी-रूप)।

भावार्थः—गोपियाँ कृष्ण से प्रीति की रीति पूछती हैं कि कुछ लोग तो स्वार्थ-वश और कुछ निस्वार्थ हो प्रेम करते हैं, ऐसे कौन हैं जो दोनों रीतियों को त्यागते हैं।

अर्थः—तव नववालायें कृष्ण जी से मन में मुसकुराती हुई प्रीति-रीति की वातें पूछने लगीं। कुछ लोग उसका ध्यान करते हैं, जो उनका ध्यान करता है, और कुछ उसे भजते हैं जो उनका ध्यान नहीं करता, हे हरि! कहो तो वे कौन हैं, जो दोनों को छोड़ देते हैं।

यहाँ ब्रज-बालाओं के वस्त्रासनों पर सुरुचि से विराजमान हैं।

नोट:—यहाँ नन्द जी ने योग को भक्ति-प्रेम से कुछ हलका कर दिया है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी "जतन करि कोटि जनम पचि···"से सूच्य है, योग से हरि की प्राप्ति तो होती है, किन्तु उनका सान्निध्य एवं सम्मिलन-सुख नहीं प्राप्त होता, और वह भी बहुत कष्ट से। ऐसा भक्ति-प्रेम के मार्ग में नहीं, इनसे हरि-सम्मिलन तथा सान्निध्य चिरकाल के लिये सुगमता से प्राप्त होता है। एक में ज्ञान और विराग का तथा दूसरे में भाव या भावना का महत्व है। "आसन" शब्द श्लिष्ट है। योग से शुद्ध मानस में हरि "कहुँ छिन तहँ नहिं जात", किन्तु भक्ति-प्रेम से बिछाये "ब्रज-जुवतिनकैं अम्बर पर बैठे अति रुचि करि"—अतः भक्ति-प्रेम का पद अवश्य ऊँचा है, यही भक्तवर नन्ददास का मर्म है।

कोटि-कोटि ब्रह्मांड जदपि एकहि ठकुराई,
ब्रज-देविनि की सभा साँवरे अति छवि पाई।
ज्यौं नवदल-मण्डल मैं कमल-कर्निका भ्राजै,
त्यौं सब सुन्दरि सन्मुख सुन्दर स्याम विराजै ॥१०॥

शब्दार्थ:—ठकुराई = प्रभुता, कर्निका = कमल-कोष।

भावार्थ:—समस्त ब्रह्मांड के एक छत्रपति प्रभु होकर भी हरि को गोपियों की ही सभा में शोभा प्राप्त हुई।

अर्थ:—यद्यपि करोड़ों ब्रह्मांडों में कृष्ण की एक ही प्रभुता है तो भी उन्हें शोभा ब्रज-देवियों की सभा में ही प्राप्त होती है। जिस प्रकार नवीन पत्र-मंडल के बीच में कमल की कर्णिका (कोष) शोभित होती है उसी प्रकार कृष्ण सब सुन्दर गोपियों के मध्य में विराजमान हैं।

नोट:—यहाँ कृष्ण भगवान की विराट प्रभुता व्यंजित है,

साथ ही उनकी महत्ता-सत्ता केवल ब्रज-देवियों में ही प्रगट होती है। "कोटि-कोटि ब्रह्मांड से तो कृष्ण का प्रभुत्व एवं शौर्य स्पष्ट है, और दूसरी पंक्ति से उनका शील और सौंदर्य। इस विराट-विभु-रूप के वैभव में अद्भुत, भयानक, वीर तथा "ब्रजदेविनि की सभा साँवरे" के रूप में शृंगार एवं हास्य रस सूचित है। वस्तुतः महाराज की महारानी से, देव की देवी से तथा पुरुष की नारी से ही शोभा होती है। "तैसे हि नाथ पुरुप, बिन नारी।" उदाहरण विशेष रोचक, नहीं है। आगे अब दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म किन्तु मार्मिक निष्कर्ष भावगम्यता से देखिये, जो मूलतः भागवत से है। मौलिकता शैली में ही है।

बूझन लागीं नवल बाल नँदलाल पियहिँ तब,
प्रीति-रीति की बात मनहिं मुसकात जात सब।
इक भजतें कौ भजैं एक बिन भजतेहिं भजहीं,
कहौ कान्ह ते कवन आहिं जे दोउन तजहीं ॥११॥

शब्दार्थः—बूझना = पूछना, भजते—ध्यान करने वाले, सेवा करने वाले, भागने वाले, दूर हटने या रहने वाले, भजैं—सेवते हैं, ध्यान करते हैं, ग्रहण करना, साथ में रमण करना भोग करना। आहिं—अहैं—हैं (अवधी-रूप)।

भावार्थः—गोपियाँ कृष्ण से प्रीति की रीति पूछती हैं कि कुछ लोग तो स्वार्थ-वश और कुछ निस्वार्थ हो प्रेम करते हैं, ऐसे कौन हैं जो दोनों रीतियों को त्यागते हैं।

अर्थः—तब नवबालायें कृष्ण जी से मन में मुसकुराती हुई प्रीति-रीति की बातें पूछने लगीं। कुछ लोग उसका ध्यान करते हैं, जो उनका ध्यान करता है, और कुछ उसे भजते हैं जो उनका ध्यान नहीं करता, हे हरि! कहो तो वे कौन हैं, जो दोनों को छोड़ देते हैं।

यहाँ व्रज-वालाओं के वस्त्रासनों पर सुरुचि से विराजमान हैं।

नोटः—यहाँ नन्द जी ने योग को भक्ति-प्रेम से कुछ हलका कर दिया है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी "जतन करि कोटि जनम पचि…"से सूच्य है, योग से हरि की प्राप्ति तो होती है, किन्तु उनका सान्निध्य एवं सम्मिलन-सुख नहीं प्राप्त होता, और वह भी वहुत कष्ट से। ऐसा भक्ति-प्रेम के मार्ग में नहीं, इनसे हरि-सम्मिलन तथा सान्निध्य चिरकाल के लिये सुगमता से प्राप्त होता है। एक में ज्ञान और विराग का तथा दूसरे में भाव या भावना का महत्व है। "आसन" शब्द श्लिष्ट है। योग से शुद्ध मानस में हरि "कहुँ छिन तहँ नहिं जात", किन्तु भक्ति-प्रेम से विछाये "व्रज-जुवतिनकैं अम्वर पर वैठे अति रुचि करि"—अतः भक्ति-प्रेम का पद अवश्य ऊँचा है, यही भक्तवर नन्ददास का मर्म है।

कोटि-कोटि ब्रह्मांड जदपि एकहि ठकुराई,
व्रज-देविनि की सभा साँवरे अति छवि पाई।
ज्यौं नवदल-मण्डल मैं कमल-कर्निका भ्राजै,
त्यौं सव सुन्दरि सन्मुख सुन्दर स्याम विराजै ॥१०॥

शब्दार्थ:—ठकुराई = प्रभुता, कर्निका = कमल-कोप।

भावार्थः—समस्त ब्रह्मांड के एक छत्रपति प्रभु होकर भी हरि को गोपियों की ही सभा में शोभा प्राप्त हुई।

अर्थः—यद्यपि करोड़ों ब्रह्माडों में कृष्ण की एक ही प्रभुता है तौ भी उन्हें शोभा व्रज-देवियों की सभा में ही प्राप्त होती है। जिस प्रकार नवीन पत्र-मंडल के वीच में कमल की कर्णिका (कोप) शोभित होती है उसी प्रकार कृष्ण सव सुन्दर गोपियों के मध्य में विराजमान हैं।

नोटः—यहाँ कृष्ण भगवान की विराट प्रभुता व्यंजित है,

निराकार दोनों की उपासना है, "भजते कौ" अर्थात भजन या सेवा ("भज् सेवायाम्" सं० धातु है) करने के योग्य सगुण साकार ब्रह्म का तथा "बिन भजतेहिं" भजन या सेवा न करने योग्य (गुणाकार-हीन होने से) अर्थात् निर्गुण-निराकार ब्रह्म का सूचक है। भक्त या प्रेमी तो सगुणोपासक और ज्ञानी निर्गुणोपासक होते हैं, वे कौन हैं जो दोनों में से किसी को भी नहीं भजते या मानते (प्रकृतिवादी या अनीश्वरवादी)। चतुर गोपियों का यह प्रश्न बड़ा ही गूढ़ है। यही भाव भागवत में भी है।

जदपि जगत-गुरु नागर नग-धर नन्द-दुलारे,
तदपि गोपिकन प्रेम-विबस अपने मुख हारे।
जे भजते कौ भजैं आपने स्वारथ के हित,
जैसे पसू परस्पर चाटत सुख मानत चित ॥१२॥

शब्दार्थ:—सरल-स्पष्ट है।

भावार्थ:—जगद्गुरु होकर भी श्रीकृष्ण गोपियों के प्रेमवश हो अपने ही मुख से अपना पराजय स्वीकार करते हैं। स्वार्थ-मय प्रेम पशु-प्रेम के समान है।

अर्थ:—यद्यपि श्री गिरधर कृष्ण संसार के गुरु और चतुर हैं तथापि गोपियों के प्रेम के वश में हो अपने ही मुख से हार गये। जो अपने को भजने, चाहने या सेवने वाले को भजते या चाहते हैं, वे केवल स्वार्थ के लिये ही ऐसा करते हैं। उनका यह करना ऐसा ही है जैसे चित में सुख मानकर पशुओं का एक दूसरे को चाटना।

नोटः—स्वार्थमय-प्रेम पशु-प्रेम के समान है। प्रेम में दोनों पक्षों का स्वार्थ रहता है, यह पारस्परिक विनिमय है। स्वार्थ-पूर्ति पर प्रेम का अभाव हो सकता है, यह इसलिये चिरस्थायी

नोटः—इस स्थान से भागवत के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा भक्ति-प्रेम का मार्मिक विवेचन चलता है। इसे गोपियाँ श्रीकृष्ण से पूछती हैं। यद्यपि उनके प्रश्न में शृङ्गार का भाव है, परन्तु कृष्ण उसे नितान्त उड़ा ले जाते हैं और केवल प्रेम-पक्ष में ही उसे ढाल कर उत्तर देते हैं। गोपियाँ पूछती हैं कि वे कौन हैं, जो अपने ध्यान करने वाले प्रेमी के ध्यान में अनुरक्त रहते अर्थात् अपने प्रेमी को भजते या प्रेम करते हैं। वे स्वकीया-नायक हो अपने से दूर गत को भी भजते हैं, इनमें प्रेम सम रहता है। और जो अपने को न मानने या भजने वाले को भजते, (चाहते) हैं अथवा, न भागने (समीप रहने) वाले का ध्यान करते हैं, वे परकीया नायक हैं। वे कौन हैं जो इन दोनों में से किसी से अनुरक्त नहीं, दक्षिणानुकूल (स्वकीया) भी नहीं और परकीय भी नहीं। प्रेमी प्रेमिकाओं के यों दो भेद हैं १-दोनों पक्षों में समप्रेम युक्त २-एक पक्ष में निष्ठुरता, दूसरे में प्रेम। इन्हीं को स्वार्थ और परमार्थ कहते हैं। भजते को भजना स्वार्थ तथा न भजते को भजना परमार्थ है, दोनों को साधने वाले कौन हैं? अर्थात किनमें स्वार्थ और परार्थ दोनों है या जो निस्वार्थ हैं? इसमें कुछ उपालम्भ भी है, क्योंकि कृष्ण ने गोपियों और राधा (परकीया और स्वकीया) दोनों को त्याग दिया था, अतः गोपियाँ पूछती हैं कि तुम कौन नायक हो। साथ ही "भजते" अर्थात ऊढ़ा नायिका को और "बिन भजतेहिं" अर्थात अनूढ़ा को सूचित करते हैं। प्रायः नायक इनमें से किसी एक से ही प्रेम रखते और उसे ही भजते या भोगते हैं। वे कौन हैं जो दोनों को त्यागते हैं। कृष्ण ने दोनों प्रकार की नायिकाओं (ऊढ़ा गोपियों तथा अनूढ़ा राधा) को त्याग दिया था। चारु चातुर्य-पूर्ण पद-विन्यास है, इसी में दार्शनिक भाव (सगुण और निर्गुण-वाद) भी है। साकार और

निराकार दोनों की उपासना है, "भजते कौ" अर्थात भजन या सेवा ("भज् सेवायाम्" सं० धातु है) करने के योग्य सगुण साकार ब्रह्म का तथा "विन भजतेहिं" भजन या सेवा न करने योग्य (गुणाकार-हीन होने से) अर्थात् निर्गुण-निराकार ब्रह्म का सूचक है। भक्त या प्रेमी तो सगुणोपासक और ज्ञानी निर्गुणोपासक होते हैं, वे कौन हैं जो दोनों में से किसी को भी नहीं भजते या मानते (प्रकृतिवादी या अनीश्वरवादी)। चतुर गोपियों का यह प्रश्न बड़ा ही गूढ़ है। यही भाव भागवत में भी है।

जदपि जगत-गुरु नागर नग-धर नन्द-दुलारे,
तदपि गोपिकन प्रेम-विवस अपने मुख हारे।
जे भजते कौ भजैं आपने स्वारथ के हित,
जैसे पसू परस्पर चाटत सुख मानत चित ॥१२॥

शब्दार्थ:—सरल-स्पष्ट है।

भावार्थ:—जगद्गुरु होकर भी श्रीकृष्ण गोपियों के प्रेमवश हो अपने ही मुख से अपना पराजय स्वीकार करते हैं। स्वार्थ-मय प्रेम पशु-प्रेम के समान है।

अर्थ:—यद्यपि श्री गिरधर कृष्ण संसार के गुरु और चतुर हैं तथापि गोपियों के प्रेम के वश में हो अपने ही मुख से हार गये। जो अपने को भजने, चाहने या सेवने वाले को भजते या चाहते हैं, वे केवल स्वार्थ के लिये ही ऐसा करते हैं। उनका यह करना ऐसा ही है जैसे चित में सुख मानकर पशुओं का एक दूसरे को चाटना।

नोटः—स्वार्थमय-प्रेम पशु-प्रेम के समान है। प्रेम में दोनों पक्षों का स्वार्थ रहता है, यह पारस्परिक विनिमय है। स्वार्थ-पूर्ति पर प्रेम का अभाव हो सकता है, यह इसलिये चिरस्थायी

नहीं, वरन् क्षणिक है, इसमें इसी से प्रतीति या विश्वास की मात्रा वहुत न्यून रहती है। इसकी उत्पत्ति उच्च मनोवृतियों या भावनाओं से नहीं। किन्तु यह प्रेम भी ईश्वर के साथ में उच्च हो जाता है। ऐसा प्रेमी भक्त अर्थार्थी है, उसकी भक्ति अर्थ-सिद्धि के लिये है। स्वार्थ विशदार्थ में व्यापक है, देवों और ईश्वर की स्वभक्त के प्रति जो कृपा है वह उसकी सेवा-भक्ति का मूल्य सा है; भक्त तो भगवान की कृपा का इच्छुक हो स्वार्थी है ही। कहा भी गया है:—"सर्व स्वार्थम् समीहते", इस स्वार्थ में व्यापक उच्च-भाव है। किंतु भक्ति सिद्धान्त ने निष्काम या निस्वार्थ भक्ति-प्रेम को ही उच्च माना है। किन्तु एक प्रकार से निस्वार्थ भक्ति में भी स्वार्थ है। निष्कर्ष यही है कि स्वार्थ-युक्त प्रेम उत्तम नहीं। यह प्रेम-व्यवहार विनिमय सा है।

जे अनभजतेहिं भजैं वहै धर्म्मी सुखकारी,
जैसे मात पिता जु करैं सुतकी रखवारी।
जे दोउन कौ तजैं तिनहिं ज्ञानी जानौ तिय,
आप्त-काम अथवा गुरु-द्रोही अरुकृतघ्न-हिय ॥१३॥

शब्दार्थ:—धर्मी—धर्मार्थी, धर्मिष्ट, सुखकारी—सुखार्थी सुखकारक, आप्तकाम—जिनकी सब कामनायें पूर्ण हो गई हों।

भावार्थ:—जो स्वार्थ के विना प्रेम करते हैं वे या तो सुखार्थी हैं, या धर्मार्थी हैं, जैसे माता-पिता। स्वार्थ एवं धर्मार्थ के भावों को छोड़ कर जो प्रेम करते हैं, और निस्वार्थ रहते हैं वे या तो आप्तकाम हैं या अकृतज्ञ गुरु-द्रोही हैं।

अर्थ:—जो अपने को न भजने वाले (अपना ध्यान एवं अपनी सेवा न करने वाले) को भजते (ध्यान करते, चाहते या सेवते) हैं, वे सुखकारी, धर्मी हैं (व सुखार्थी-धर्मार्थी हैं) जैसे माता-पिता, इसी प्रकार का प्रेम रख स्वसंतति की

देख-रेख करते हैं। हे गोपियो! जो लोग इन दोनों प्रकार के प्रेमों को छोड़ देते हैं (तथा स्वार्थ-सुख और धर्मार्थ के विचार को त्याग कर प्रेम करते हैं) वे ज्ञानी हैं, उन्हें या तो आप्तकाम (सब प्रकार पूर्ण-काम) या अकृतज्ञ हृदयी गुरुद्रोही जानो।

नोटः—यहाँ पर प्रेमियों का विभाजन किया गया है। प्रथम स्वार्थी प्रेमियों को बता चुके हैं, अब उन प्रेमियों को दिखाते हैं, जो स्वार्थ नहीं चाहते और निस्वार्थ हो प्रेम करते हैं, वे दो प्रकार के हैं—प्रथम वे हैं जो अपनी आत्मा के आनन्द के लिये निस्वार्थ प्रेम करते हैं अर्थात वे प्रेम करते हैं निस्वार्थ प्रेम से प्राप्त आनन्द के लिये, यही उनका स्वार्थ है। दूसरे वे प्रेमी हैं जो स्वकर्तव्य मान प्रेम करते हैं, वे कर्तव्यारुढ़ प्रेमी हैं। जो निष्काम प्रेम करते हैं उनमें से प्रथम वे हैं, जो आप्तकाम हैं (जिन्हे कोई कामना ही नहीं), दूसरे वे हैं जो अकृतज्ञ हैं, तीसरे हैं गुरुद्रोही और चौथे आत्मानंदेच्छु हैं।

तब बोले ब्रजराज कुंवर होहैं ऋणी तुम्हारे,
अपने मनतैं दूरि करौ किनि दोष हमारे।
कोटि कल्प लगि तुम प्रति प्रति-उपकार करहुँ जौ,
हे मनहरनी तरुनी उरिनी नाहिं होंउ तौ॥१४॥

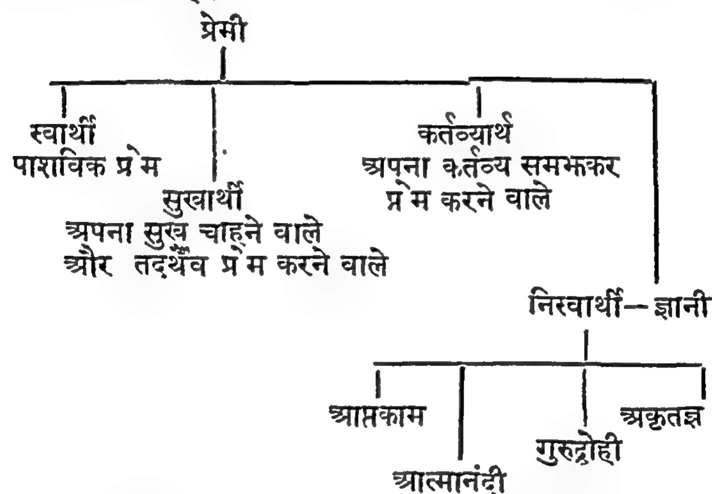
शब्दार्थ:—किन—क्यों न, प्रति—साथ, बदला; उरिनी ऋण-मुक्त।

भावार्थ:—कृष्ण ने कहा कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ तुम्हारे ऋण से मुझे कोटि कल्प तक प्रत्युकार करने पर भी मुक्ति नहीं मिल सकती।

अर्थ:—तब श्रीकृष्ण जी ने कहा कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, तुम अपने मनों से मेरे दोष क्यों न दूर कर दो। यदि मैं करोड़ों कल्प तक तुम्हारे साथ प्रत्युपकार करूँ तो भी हे मन को हरने

वाली नव-योवनाओं में तुमसे उऋण नहीं हो सकता, अर्थात् तुम्हारे ऋण से तो भी मैं मुक्त नहीं हो सकता।

नोटः—यह भाव भी भागवत का है, कृष्ण अपने दोपों को मान नम्रभाव से गोपियों से उन्हें भूल जाने के लिये प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार भक्त का पद भगवान से भी स्वीकृत हो ऊँचे उठ जाता है।



सकल विस्व अपवस करि मो माया सोहति,
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मो मन मोहति।
तुम जु करी सो कोउ न करै सुनु नवलकिसोरी,
लोक - वेदकी सुदृढ़ सृंखला तृन सम तोरी ॥१५॥

शब्दार्थः—मो=मेरी, जु=जो, शेप सरल-स्पष्ट है।

भावार्थः- मेरी माया सारे संसार को अपने वश में किये हुये है, किन्तु तुम्हारी प्रेममयी माया मेरे मन को अपने वश में और सर्वथा मोहित कर रही है।

अर्थ :—मेरी माया सभी संसार को अपने वश में करके शोभित होती है, किन्तु तुम्हारी प्रेममयी माया उसे और मुझे मोहित किये हुये है। हे नवल-किशोरी ! सुनो, तुमने जो किया वह कोई भी नहीं कर सकता, तुमने मेरे लिये लोक और वेद की दृढ़ जंजीर को भी तृण के समान तोड़ डाला है।

नोट:—कृष्ण ने यह स्पष्ट कह दिया है कि गोपियों (भक्त आत्माओं) ने अपनी प्रेम-पूर्ण माया से (यहाँ शुद्ध माया से तात्पर्य है) मुझे, जिसकी माया सारे संसार को वशीभूत किये है, अपने वश में कर लिया है, क्योंकि गोपियों ने अप्रतिम कार्य किया है। लोक और वेद के बंधनों को तृण सा तोड़ उनसे अपने को परे कर लिया है। इसी से वे हरि को स्ववस में कर सकीं, क्योंकि कृष्ण भी लोक-वेद से परे हैं, अतः दोनों का सम्मिलन स्वभाव-सिद्ध है। भक्त को अपने को लोक-वेद के मार्ग से परे हो, ऊँचे उठना चाहिये, तभी वह हरि-सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि भक्ति-प्रेम का मार्ग लोक और वेद दोनों से परे हैं, वह कर्म और ज्ञान के मार्गों में नहीं, वह उपासना-मार्ग है और भावना-क्षेत्र पर चलता है।

रासपंचाध्यायी

पञ्चमोऽध्यायः

प्राक्कथन

यह अध्याय भागवत के ३३ वें अध्याय पर ही आधारित है, परन्तु दोनों की वर्णन-शैली में अन्तर है, हाँ दोनों में वर्णन-विषय अर्थात् रास-लीला एक ही है। कह सकते हैं कि कथा का सूत्र लेकर नन्ददास जी ने अपनी व्याख्या के साथ मौलिकता की चातुरी-माधुरी रखते हुये इसे लिखा है, अतः भागवत की रासलीला तथा इस रास-लीला में कुछ बहुत साम्य नहीं, मूल बातें अवश्य मिलती हैं। साथ ही कुछ बातों में अन्तर भी विशेष है। हम दोनों की समानतायें तथा अन्तर डालने वाली विशेषतायें इस स्थान पर छोड़ रहे हैं। यहाँ केवल यही कहना पर्याप्त है कि इस अध्याय में मौलिकता की छाप विशेष रूप से लगी हुई हैं। कथाओं तथा लीलाओं का क्रम तो यहाँ वैसा ही है जैसा भगवत में है।

श्री मद्भागवत में रासलीला शरद पूर्णिमा की रात्रि में हुई थी, (इसीसे शरद-पूर्णिमा की निशा में हमारे यहाँ कदाचित्त उत्सव अब भी मनाया जाता है) यहाँ यह तो स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया, हाँ यह अवश्य कहा गया है कि शरद ऋतु थी (दो०— "यह जो सरद की ज्योति...... आदि) और "रीझि सरद की राति . आदि, चाँदनी रात थी, चन्द्रमा विराजमान था ("पवन थक्यौ, ससि थक्यौं...... आदि).। रात भर रास-लीला होती रही और ब्राह्म-मुहूर्त में अवसान हुआ। रासलीला

केवल एक रात ही हुई थी और वह सब माया के बल से हुई थी। गोपों को कुछ भी पता न था, जो गोपियों को कृष्ण के समीप जाने से रोकते थे और जिनकी आज्ञा गोपियाँ न मान सकती अथवा न मानती थीं। वे कृष्ण के पास आईं और रास में रहीं परन्तु गोपों को माया के कारण कुछ भी न ज्ञात हो सका।

कुछ का मत है कि रासलीला प्रतिदिन होती थी, यह बात कुछ यहाँ भी झलकती सी है, यद्यपि बहुत स्पष्ट रूप से नहीं, (जैसे— "नित्यरास-रस......नित्य नव तन अति दुर्लभ"), परन्तु इससे यह भी झलकता है कि रास का रस नित्य दुर्लभ है।

भागवत में रास के पश्चात् जल-क्रीड़ा विलास या जल-विहार होता है, यहाँ भी वही लीला है, परंतु भागवत में तो उसका वर्णन बहुत सूक्ष्म है, यहाँ कुछ विस्तृत है। भागवत में सब के सब प्रातःकाल के पवन का सेवन करने जाते हैं, यहाँ यह बात नहीं दिखाई गई, क्योंकि जल-विहार को जाते समय प्राभा तक पवन-सेवन हो चुका होगा।

जिस प्रकार राधिका भागवत में नहीं रक्खी गई, उसी प्रकार यहाँ भी नहीं है, कहीं कहीं कुछ ऐसा संकेत है जो राधा का सूचक जान पड़ता है (यह केवल वहाँ पर जहाँ पर एक वचनान्त शब्द आये हैं—(जैसे—"जो ब्रजदेवी निर्तति....., पीवग्रीव भुज......आदि) परन्तु कुछ विशेष स्पष्ट रूप से राधा की उपस्थिति और उसका नाम आदि नहीं दिये गये। कहीं तो "कमलकर्निका-मध्य जु स्यामास्याम वनी छवि" भी कहा गया है और कहीं फिर साथ ही "द्वै द्वै गोपिन वीच जु मोहन लाल रहे फवि" भी कहा गया है, अतः निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि राधा कृष्ण के साथ थीं। मुरली की गान-तान अन्यान्य वाद्ययंत्रों की ध्वनि के साथ वनों में गूँज रही है। नृत्य, गीत,

विलास और रमण दोनों ही रासलीला के मुख्यांग हैं।

हरिवंश पुराण में रासलीला (जिसे 'हल्लीस-क्रीडन कहा गया है—हल्लीस एक प्रकार का उपरूपक भी है और १८ प्रकार के उपरूपकों के अन्तर्गत माना गया है—इसमें एक अंक, एक नट या पुरुष-पात्र और ७, ८, या १० नटियाँ या स्त्री-पात्र या नायिकायें होती हैं, संगीत और नृत्य इसके मुख्यांग हैं, हल्लीस एक घेरे में होने वाले नृत्य को भी कहते हैं—इसे वृत-वंध नृत्य भी कह सकते हैं, प्रथम कदाचित यह ग्रामीण नृत्य था, फिर यह नाटक के रंगमंच पर भी लाया गया और नागरिक हो गया), केवल एक ही अध्याय में दी गई है। अतः वहाँ रासपंचाध्यायी नहीं वरन् रासैकाध्यायी है (देखो—हरिवंशपु० विष्णुपर्व २० अध्याय) इस लीला का वर्णन केवल ३५ श्लोकों में ही है और यह गोवर्धन-लीला के पश्चात् होती है। कृष्ण इसके श्री गणेश-कर्ता हैं—युवा कृष्ण नागर रसिक-राज नायक हो गोपियों के साथ यह नृत्य शरद की निशा में रचते हैं, उनके पास मुरली नहीं है, राधा भी नहीं है, नृत्य-गीत-विलास और रमण सब कुछ होता तो है, परन्तु इनका वर्णन बहुत सूक्ष्म रूप में किया गया है।

सूर-सागर में भी रासलीला बहुत सूक्ष्म है, बस कुछ ही पद दिये गये हैं, हाँ जल-क्रीड़ा या जल-विहार का वर्णन विस्तृत रूप में हैं (देखो अध्याय २९वां दशम० सूर-सागर)। सूरदास ने लीलाओं का क्रम ठीक भागवत के क्रम के अनुसार नहीं रक्खा, गोपियों के प्रथम मिलन के समय, कृष्ण के छिप रहने से पूर्व ही यह लीला सूरदास जी गाते हैं, परन्तु भागवत में ऐसा नहीं। सूरदास जी ने गोपों को ऐसी गाढ़ी नींद में सुला दिया है कि बेचारे रास की निशा में बेहोश हो सो गये हैं। इसी से उन्हें रासादि का कुछ भी पता न लगा था। सूरदास ने इसी लीला

की पुनरुक्ति भी की और दूसरे प्रकार के छंदों या पदों में इसका वर्णन किया है। दूसरी वार सूर ने रास-महिमा और गोपी-पद-रज-माहात्म्य दिया है। सब से बड़ी विशेषता सूरसागर में यह है कि उसकी रासलीला में राधा-कृष्ण की विशेष प्रेमिका के रूप में आ जाती है और दूसरी गोपियों का प्रभाव मंद पड़ जाता है, दूसरी गोपियाँ राधा के प्रसन्न करने में लग जाती हैं। इस नये पात्र का विकास भागवत एवं हरि-वंश के पश्चात् हुआ और इतना हुआ कि इसके सामने और सब का पद दब गया। राधा कृष्ण की परम प्यारी प्रेमिका होकर निदान उनकी सह-धर्मिणी ही सी हो गई। रासलीला से ही राधा-कृष्ण में प्रेम का जन्म होता है—सूर ने इस लीला को राधा-कृष्ण का गंधर्व-विवाह सा दिखाया है और कहा है कि यह असली विवाह का पूर्व रूप या नक़ल तथा भूमिका का ही रूप है।

यह प्रेम उत्तरोत्तर प्रतिदिन विवर्धित होता चलता है, जिसका बहुत ही अच्छा सजीव स्वाभाविक और सफल वर्णन चोखी चातुरी-माधुरी और सरसता के साथ सूर ने कर के अमरत्व प्राप्त कर लिया है। शृंगार-सूर्य होने में बस यही वर्णन सूर का सहायक होता है। इसके वर्णन में सूर ने अपना समस्त कवित्व-कौशल कर दिखाया है, और प्रेमी हृदय की सारी दशायें, अन्त-र्दशायें, अवस्थायें, भावनायें और वृत्तियाँ स्पष्ट करके बड़ी बारीकी के साथ रख दी हैं। मानसिक वृत्तियों की बड़ी कोमल और मधुर तंत्रियों को समनुनादित कर दिया है। किन्तु ऐसा करने में उन्हें कुछ अश्लीलता को भी स्थान देना पड़ा है। नायिकाभेद, रति, और रति-रहस्य की गोपनीय बातें भी कह देनी या सूचित कर देनी पड़ी हैं, जिससे वर्णन की पवित्रता में कुछ अमनोनीत विकार सा आ गया है। रासलीला एक प्रकार की काम-लीला सी हो गई हैं। राधा-कृष्ण-प्रेम जो पूर्णतः पवित्र

और निर्मल था, यहाँ कुछ वैषयिक और काम-कुतूहलता और विलासिता आदि के छींटों से कुछ विवर्ण सा हो गया है। हाँ कला और स्वाभाविकता इसमें सराहनीय अवश्य है। यह विचार सर्वथोचित नहीं।

वृन्दावन के निवासी गौड़ वैष्णवों के (बंगाल के श्री चैतन्य स्वामी के शिष्य-रूप सनातन के अनुयायी भक्त जो शक्ति के स्थान पर राधा को कृष्ण के साथ रखकर पूजते थे,) सम्पर्क से कदाचित सूर ने यह पथ-ग्रहण किया था। बंगाल के कृष्ण-भक्तों को यह प्रभाव बड़ी ही प्रगाढ़ता से यहाँ के भक्तों पर पड़ा। बंगाल के ही सुप्रसिद्ध कवि-कुल-कमल श्री जयदेव जी के "गीत-गोविन्द" का यह प्रभाव है कि कृष्ण-काव्य में गाढ़ा शृंगार-रस आ विराजा, तथा नायिका-भेद और आलंकारिक काम-क्रीड़ामय शृङ्गार का प्रसार भाषा में भी हुआ और संगीत का काव्य के साथ प्रगाढ़ सम्पर्क हो गया। इनका प्रभाव मैथिल-कोकिल श्री विद्यापति पर खूब पड़ा और उनके कारण कदाचित इधर पश्चिमीय प्रान्त की ओर भी यह प्रभाव बढ़ चढ़ आया। श्री सूरदासजी ने कृष्ण-काव्य को संगीत-मय सालंकारिक तथा कलापूर्ण कर प्रगाढ़ शृंगार का सागर सा बना दिया, जिसका अनुकरण बड़े वेग से बढ़ा और अब तक चला जाता है। रीति-ग्रन्थों में भी वह आ गया और राधा-माधव शृंगार तथा अलंकार-काव्य के आधार से हो गये, इन्हीं के ऊपर ऊँचे ऊँचे शृङ्गार-रस के महल बड़े कला-कौतुक तथा साज-सामान के साथ विरच डाले गये, अस्तु।



इस पंचम अध्याय में गोपियाँ अपना सब रोष-दोष छोड़कर कृष्ण के साथ क्रीड़ा-कला करने लगती हैं। एक सुन्दर सरस वृक्ष के नीचे वे उनके साथ रास-लीला (जो बढ़ कर निदान

रति-लीला के रूप में परिणित हो जाती है) आरम्भ कर देती हैं। दो दो गोपियों के बीच में कृष्ण विराजमान हैं। नृत्य-गान बड़ी सज-धज से मुरली-मृदंगादि के कल रव के साथ हो रहा है। नृत्य के साथ ही साथ आलिंगन, चुम्बन और केलि भी होती जाती है। बस इसी भूमिका के पश्चात् रति-विलास का प्रसंग आ जाता है, इसे नन्ददास जी ने बहुत सुन्दरता, भाव-गम्यता तथा सूक्ष्मता के साथ व्यंजित किया है। इस प्रसंग में अश्लीलता का दोष बहुत सफल चतुरता से बचाया गया है। इसके उपरान्त सारा समाज यमुना में जल-विहार करने लगता है, वहाँ भी विविध प्रकार से हास-विलास और क्रीड़ा-कौतुक होता है। अब निशावसान होता है और सब के सब अपने अपने घर ब्रह्म-मुहूर्त में चले जाते हैं। गोपियाँ अपने-अपने गोपों के पास पहुँच जाती हैं और यह रहस्य किसी को भी ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार इसे कृष्ण की माया का खेल सूचित कर दिया गया है। इसके साथ ही लीला की इति श्री होती है। अन्त में रास-रस-महिमा तथा इसके पढ़ने, गाने तथा सुनने का फल इस प्रार्थना के साथ कि यह लीला नन्ददास के कंठ में रमी-विरमी रहे, दिखाकर ओ३म् शान्तिः किया गया है।

सुनि पिय कैं रस-वचन क्रोध सब छाँड़ि दयौ है,
बिहँसत अपने कंठनि लाल लगाय लयौ है।
सकल जूथ ब्रज-जुवति-मनोरथ पूरन कीनौ,
एक एक हिरदय माधुरि मूरति रंगभींनी ॥१॥

शब्दार्थ :—पिय—प्रिय (सं०)—देखो यहाँ र का हट जाना, पूरन और मूरति में शब्द-विज्ञान के नियम के द्वारा संयोग दूर कर अ जोड़ा गया है। रँग-भीनी—रंग से या रस या योवन-विकास से भीगी हुई या संसिक्त।

भावार्थ :—गोपी-गण ने कृष्ण की रसीली बातों से अपना रोष त्याग दिया और कृष्ण की मधुर मूर्ति को अपने हृदय से लगा लिया।

अर्थ :—प्यारे श्रीकृष्ण के रसीले वचन सुनकर सब गोपियों ने क्रोध छोड़ दिया और उन्हें हँसते हुये अपने कंठों से लगा लिया, व्रज-युवतियों के समस्त समूह के मनोरथों को कृष्ण ने पूर्ण किया। प्रत्येक गोपी के हृदय में हरि की रँगीली मधुर मूर्ति थी।

नोट :—चतुर्थ अध्याय के अन्त में कोई भी ऐसी बात नहीं दिखाई गई, जिससे गोपियों में क्रोध के होने की शंका हो सके। कृष्ण उनके प्रेम-नेम की श्लाघा करते हैं, और गोपियाँ मुग्ध होती हैं, इसके प्रथम भी गोपियों में रोष का रौद्र भाव नहीं दिखाया गया—हाँ उनमें वियोग के कारण तथा कृष्ण के निष्ठुर व्यवहार और उनके ढूँढने में हुए कष्ट के कारण गोपियों में कुछ खिन्नता एवं विमनता अवश्य हो सकती है, क्रोध नहीं हो सकता, तथापि कवि ने यहाँ क्रोध शब्द का प्रयोग किया है, जो उस समय तक शुद्ध नहीं, जब तक कि क्रोध का अर्थ कुछ कम न लिया जावे और उसे खिन्नता, विमनता, आदि का बोधक न मान लिया जावे। कवि अपने अलंकारों, विशेषतः शब्दालंकारों के लिये अवश्य प्रसंशनीय एवं अनुकरणीय है। यहाँ भी श्रीकृष्ण की योगमाया खेलती हुई प्रतीत होती है, एक होकर भी कृष्ण समस्त गोपियों के हृदयों में रम रहे हैं, सब के मनोरथ सिद्ध कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नन्ददास भक्ति-सम्प्रदाय के होते हुये भी योग की महत्ता-सत्ता अवश्य मानते, जानते, एवं चाहते हैं, यद्यपि बहुत स्पष्ट रूप से नहीं।

कल्प वृक्ष जड़ सुनिय सबन चिन्तित फलदायक,
ये व्रजराज-कुमार सबहिं सुखदायक लायक।
कोटि कल्प-तरु बसत लसत पद-पंकज छाँहीं,
कामधेनु पुनि कोटि कोटि वुलुठित रज माँही ॥२॥

शब्दार्थ :—माँही = में (— मध्ये, प्रा० मज्झ, आदि)

भावार्थ :—कल्प वृक्ष तथा कोटियों कामधेनु गायें जिनके पद-पद्मों की छाया में रहती हैं। जब वे कल्प - वृक्ष सबको मनोऽभीष्ट फल देते हैं तब फिर कृष्ण क्यों न देंगे।

अर्थ :—सुनते हैं कि कल्प वृक्ष, जो जड़ है, सबको अभीष्ट फल देता है, यह व्रज-राज-कुमार सबको सब प्रकार के सुख देने वाले सब योग्य हैं, जिनके चरण-कमलों की छाया में करोड़ों कल्प-वृक्ष रहते और विकसते हैं तथा जिनकी पद-रज में करोड़ों काम-धेनु गायें लोटा करती हैं।

नोट :—कल्पवृक्ष जड़ होता हुआ जब फलप्रद है अर्थात् वृक्ष-रूप हो फल देने वाला है, और साथ ही अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों कामनाओं की पूर्ति करने वाला है, तब योग्य (ज्ञानी, समर्थ) कृष्ण अवश्य ही समस्त सुखों के देने वाले हैं, वे चैतन्य हैं। कल्पवृक्ष और सब फल तो दे सकता है परन्तु सुखदायक केवल कृष्ण ही हैं, क्योंकि वे "सत्यं ज्ञानमानंतम् ब्रह्म" के अवतार या रूप हैं, सच्चिदानंद है, अर्थात सुख-सागर हैं, और नागर हैं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष और सुख तथा सत्य ब्रह्मानंद में बहुत बड़ा अन्तर है—सम्भव हो सकता है कि कल्पवृक्ष किसी को चिन्तित फल दुख के रूप में दे दे, परन्तु कृष्ण सुखदायक फल के ही देने वाले हैं।

सो पिय मे अनकूल तूल कोउ नाहिं भयौ अव;
सब विधि सुखकौ सूल-मूल उनमूल कियौ सब ।
तब वा रातहिं तेहि सुरतरु-तर सुन्दर गिरधर,
आरंभित अदभुत सुरास वहि कमल-चक्र पर ॥३॥

शब्दार्थः—तूल—तुल्य—समान, तूल—रूई, सूल, (शूल)—वज्र, दुख, पीड़ा, छेदने वाला, उनमूल—उन्मूल (उत्+मूल—उन्मूल) उखाड़ना, जड़ से अलग करना, रातहिं—रात को या रात में (अधिकरण और कर्म दोनों में प्रयोग होता है) कमल-चक्र—जो मणि से बना हुआ कमल वहाँ था, या इस शरीर में भी कमल-चक्र दस चक्रों में से एक चक्र माना गया है ।

भावार्थ :—सानुकूल या प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण जी ने उसी रात को उस वृक्ष के नीचे कमल-चक्र पर अद्भुत रास गोपियों के साथ प्रारम्भ कर दिया (करी क्रिया का लोप है) ।

अर्थ :—वही प्रिय (पति) कृष्ण अब (हमारे) अनुकूल हो गये हैं, इसलिये हमारे बराबर अब कोई नहीं है, अब हमारे सुख के शूल-मूल का सब प्रकार श्रीकृष्ण ने उन्मूलन कर दिया। तब उस रात में उस सुन्दर कल्पवृक्ष के नीचे श्री गिरधर जी ने उसी कमल-चक्र पर सुन्दर और अद्भुत रास-लीला प्रारम्भ कर दी ।

नोट :—कृष्ण जब सानुकुल हो गये, तब गोपियों का पद अप्रतिम हो गया, होना ही चाहे या यों कहिये कि वे तूल के (रूई के) समान तुच्छ और हलकी अब न रहीं, वरन उनमें गुरुता और गंभीरता आ गई। उनके सुख के मार्ग में जो शूल या दुखद छेदने वाली बाधायें थीं, वे नाश हो गई । सब प्रकार आनन्द और शान्ति की प्राप्ति हो गई। तब श्री हरि ने अद्भुत

रास उसी रात को कमल-चक्र पर, जो उस कल्पवृक्ष के समान वृक्ष के नीचे था, रच दिया। सुख और शान्ति के समय ही लीला भी मनोहारिणी होती है, इसी लिये प्रथम श्री हरि ने सानुकूल हो गोपियों के सुख-पथ से सब शूल नाश कर दिये और अब सुन्दर रास-लीला उठाई, जिससे गोपियों का प्रसन्न मन उसमें पूर्णतया लीन-विलीन हो आनन्दानुभव कर सके। लीला न केवल बाह्य जगत में स्थित उस कमल-चक्रपर ही की, जो मणि से बना था, वरन् गोपियों के शरीरान्तर्गत पद्म-चक्र के ऊपर भी रास-लीला का न्यारा नर्तन किया, जिससे सब प्रकार बाहर-भीतर ऐंद्रिक और मानसिक दोनों प्रकार के सत्यानंद का सुन्दर सामंजस्य प्राप्त हो। धन्य है भगवान योगीश्वर श्री कृष्ण! इधर तो गोपियों का बाह्य शरीर बाह्य लीला में लगा था और उधर उनके मानसों में स्थित आन्तरिक पद्म-चक्र में भी रास-नर्तन की लीला में उनकी अन्तरात्मा भी मग्न थी। प्रथम ही से गोपियों के मानस में श्री हरि जी की मधुर रँगीली मूर्ति विद्यमान थी (छंद नं० २. पं० ४) वही मूर्ति अब कमल-चक्र पर रास-लीला करने लगी।

एक काल ब्रज-बाल लाल तहँ चढ़े जोरि कर,
तिनसन इत उत होत सबै निर्तत विचित्र वर।
मनि-दर्पन सम अवनि रमनि तापर छवि देहीं,
विलुलित कुंडल, अलक-तिलक झुकि झाईं लेहीं ॥४॥

शब्दार्थ :—ब्रज-बाल = राधा, लाल = हरि, कर = हाथ, जोरि = जोड़ या पकड़ कर, तिन सन — तिन के साथ, इत उत, इतः उतः = इधर-उधर, वर = दूलह, श्रेष्ट, रमनि = रमणी, विलुलित = चलते हुये, तिलक = टीके, एक आभूषण जो स्त्रियाँ माथे पर बाँधती हैं—या श्री कृष्ण के मस्तक पर तिलक, झाईं = प्रतिविम्ब, परछाहीं।

भावार्थ :—श्री कृष्ण राधा नाम की एक ब्रज-बाला के साथ कमल पर नाचने लगे और मणि-रचित दर्पण के समान भूमि पर और सब गोपियाँ क्रीड़ा करने लगीं तथा अपने अपने चलते हुये कुंडलों, अलकों और तिलकों की परछाँहियों पर दृष्टि डालने लगीं।

अर्थ :—एक समय उस कमल पर एक ब्रज-बाला (राधा) श्री हरि (लाल) के साथ हाथ पकड़ कर चढ़ गई, उसके साथ इधर उधर विचित्र वर कृष्ण सब प्रकार नाचते थे। मणि-रचित दर्पण सी पृथ्वी पर रमणियाँ शोभा दे रही हैं और चंचल कुंडल, अलकावली और तिलक की परछाँहियों को झुक झुक कर देखती हैं।

नोट :—श्री कृष्ण और राधा तो कमल के ऊपर हाथ पकड़ कर नाच रहे हैं और सब गोपियाँ इधर-उधर नाच रही हैं—उनकी परछाँहियाँ मणि-भूमि पर पड़ती हैं।

गोपियों को श्री कृष्ण के हाथ पकड़ कर नाचने का सौभाग्य कदाचित न प्राप्त हो सका, यह सौभाग्य राधा ही को मिला, अतः वे उनके प्रतिबिम्ब की ही ओर अपनी दृष्टि जमाकर मग्न हो नाचने लगीं—प्रतिबिम्ब भी नाचते हुये हरि के साथ नाच रहे थे। उनके ही साथ गोपियाँ भी नाच रही थीं। यह भी सूचित है कि गोपियाँ-रूपी अन्य साधारण भक्त-आत्मायें प्रभु-प्रतिबिम्ब में ही मुग्ध होकर नाचती हैं, पृथ्वी पर प्रभु का प्रतिबिम्ब ही रहता है। भक्त-भावना उसी को सत्यवत लेकर रमण करती है। यह माया-ब्रह्म का नृत्य-कौतुक है। रास-नृत्य-वृत्त के केन्द्र में हैं सशक्ति भगवान, और चारो ओर आत्मा-रूपी गोपिकाओं का वृन्द है। प्रतिबिम्बवाद का भी सुन्दर आभास है। "हौं देख्यौं निरधार, यह जग काँचौ **काँच सौ**। **एकै** रूप अपार प्रतिबिंबित, लखियत **जहाँ**"—**बिहारी**।

कमल-कनिंका मध्य जु स्यामा-स्याम वनी छवि,
द्वै द्वै गोपिन वीच जु मोहन लाल रहे फवि।
मूरति एक अनेक देखि अदभुत सोभा अस,
मंजु-मुकुर-मंडल मधि वहु प्रतिविम्व वधू जस ॥५॥

शब्दार्थ :-स्यामा—(श्यामा-सं०)—षोडशवर्षीया, राधा, मोहन—मोहने वाले (विशेषण के रूप में)। जस—जैसे, यश।

भावार्थ :—कमल-केन्द्र में राधा-माधव शोभित हैं, चतुर्दिक दो दो गोपियों के मध्य में कृष्ण हैं। एक ही मूर्ति अनेक होकर मुकुर-गत-प्रतिविम्वों की सी अद्भुत शोभा देती है।

अर्थ :—कमल की कर्णिका के मध्य में मुग्धा राधिका और कृष्ण सुशोभित है, फिर चारो ओर दो दो गोपियों के वीच में मोहन लाल सज रहें हैं। एक मूर्ति की अनोकता की शोभा ऐसी अद्भुत दीखती है, जैसे सुन्दर दर्पण में व्रज-वधुओं के अनेक प्रतिविम्व हों।

नोट :—रास-नृत्य का चित्र देखिये। केन्द्र में राधा-माधव हैं, और चारो ओर दो दो गोपियों के मध्य में हरि-मूर्ति है, अर्थात, गोपी-कृष्ण, गोपी-कृष्ण के क्रम से परिधि पर व्यवस्था है। कृष्ण इस प्रकार प्रत्येक गोपी के साथ हैं। यह उनकी योग-माया है। इस संसार-चक्र के केन्द्र में सशक्ति ब्रह्म या ईश्वर है अथवा विश्व-केन्द्र में माया-ब्रह्म है। चारो ओर संसार है, जिसमें ब्रह्म सर्वत्र रम रहा है। भक्तात्माओं के प्रभु-सान्निध्य-सुख की भी व्यंजना है। साथ ही एक में अनेक और अनेक में एक का दार्शनिक भाव भी ध्वनित है।

सकल तियनकैं मध्य साँवरी पिय शोभित अस,
रतनावलि मधि नीलमनी अदभुत झलकै जस।
नव-मरकत-मनि स्याम कनक-मनगिन व्रजवाला,
वृन्दावन कौ रीझि मनौ पहिराई माला ॥६॥

शब्दार्थ :—साँवरो—श्यामल, आनील, मरकत—पन्ना, नीलम।

भावार्थः—गौर गोपिकाओं के मध्य में श्री कृष्ण रत्न-मालिका-गत नील मणि से हैं, तथा पुष्परागों में मरकत रख मानो वृन्दा-वन को हार पहिनाया गया हो।

अर्थ :—गौर-गोपिकाओं के बीच में साँवले प्रिय यों शोभित हैं, जैसे रत्नावली के मध्य में अद्भुत नील मणि झलकती हो, अथवा कनक-मणि (स्वर्ण-रचित मणियाँ—सुवर्ण सी पीत मणि अर्थात् पुष्पराग, पुखराज) सी व्रज-बालायें हैं और नवीन मरकत मणि से कृष्ण हैं। इनके वृन्द से निर्मित रास-चक्र-रूपी माला मानो रीझ कर वृन्दावन को पहिनाई गई हो।

विशेष—रास-चक्र-गत गोपियों और कृष्ण की शोभा को यहाँ दो मुख्य अलंकारों (उदाहरण और उत्प्रेक्षा) के द्वारा स्पष्ट किया गया है, प्रथम कृष्ण नीलमणि, फिर मरकत मणि से कहे गये हैं, और गोपियाँ प्रथम रत्न, फिर पुखराज या स्वर्ण-मणियाँ बनाई गई हैं। कृष्ण का वर्ण वस्तुतः नीलम सा ही है, अतः रास-चक्र के मध्य में एकाकी रह वे प्रथम नीलम से, और गोपियों के बीच-बीच में मरकत से लगते हैं—क्योंकि गोपियों के गौर वर्ण के प्रतिबिम्ब से उनका आनील वर्ण हलका हो पन्ने के वर्ण सा रह जाता है:—यही भाव बिहारी ने भी दिया है—"जा तन की झाईं परैं, स्याम हरित दुति होय"—। साथ ही वृन्दावन का महत्व भी ध्वनित है क्यों कि उसे गोपी-कृष्ण-माला पहिनाई गई है। द्वितीय भाव भागवत का है।

नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल, मंजुल मुरली,
ताल, मृदंग, उपंग चंग एकै सुर जु रली।
मृदुल मधुर टंकार, ताल, झंकार मिली धुनि,
मधुर जन्त्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि ॥७॥

शब्दार्थः—मधुर जंत्र=वीणा, करतल—हथेली, करताल वाजा। चंग—उपंग—एक प्रकार के वाजे।

भावार्थः—नूपुर, मुरली, चंग, वीणादि वाजों का मिश्रित स्वर ताल-स्वर से मधुर रव प्रगट करता है, साथ ही इनकी गुंजार भी है।

अर्थ—नूपुर, कंकण, किंकिणी, करताल, मुरली, मृदंगो,-पंग, चंग, ताल, टंकार, वीणादि के तारों के झंकार की ध्वनियाँ एक साथ मिल कर उठ रही हैं, और प्रति ध्वनित होकर गुंजार पैदा करती हैं।

तैसिय मृदुपद पटकनि चटकनि करतारनि की,
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुंडल हारनि की।
साँवर पिय कैं संग नृतति यों ब्रज की वाला,
जनु घन-मंडल-मंजुल खेलति दामिनि - माला ॥८॥

नोट—आभूषणों का रव वाद्ययंत्रों की ध्वनियों के साथ मिल कर और भी मंजुलता उत्पन्न करता है।

शब्दार्थः—नृतति—(नृत्यति—सं०) नाचती है—नचति, पाठ भी है।

भावार्थः—वाजों के साथ कोमल पद-चालन, करतालों का चटकना और कुंडल-हारादि का हिलना, भी हो रहा है, कृष्ण के साथ ब्रज-वालाओं का नर्तन घन-मंडल में चपला-माला सा शोभित है।

अर्थः—साथ ही मृदु पद-चालन, करतारों का शब्द, तथा सुन्दर कुंडलों और हारों के हिलने के शब्द भी हो रहे हैं। श्याम प्रिय के साथ ब्रज-वालायें यों नाचती हैं, मानों घन-मंडल में मंजु तडिन्माला खेल रही हो।

विशेष—सुन्दर उत्प्रेक्षा है, घन-मंडल से कृष्णावलि और ब्रज-वाला-पंक्ति विद्युन्माला से उपमित है।

छबिलि तियनि कैं पाछैं आछैं बिलुलित बेनी,
चंचल रूप लसत सँग डोलति जुनु अलि-सेनी।
मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की
सदा बसौ मन मेरे फहरनि पियरे पट की ॥९॥

शब्दार्थ—छबिलि = छबीली, सुन्दर, आछे—अच्छी, सेनी-सेना, पंक्ति, पियरे—पीले।

भावार्थः—सुन्दर गोपियों के पीछे केश-कलाप की चोटियाँ मधुपावलियों सी चपल हो चल रही हैं। कृष्ण की मुसकान, मोर-मुकुट की छबि और पीताम्बर का उड़ना मेरे मन में सदा रहे।

अर्थः—छबीली गोपियों के पीछे केशों की अच्छी चोटी या बेणी यों हिल रही है, मानों चंचलीभूत मधुप-माला साथ-साथ डोल रही हो। इनके साथ श्री कृष्ण भी हैं, उनका मुसकुराना, उनके मयूर-मुकुट का हिलना तथा उनके पीताम्बर का पवन से फहराना सदा मेरे मन में बसा रहे।

नोटः—यहाँ कवि ने अवसर देखकर किस सुन्दरता से कहा है कि कृष्ण का मुसकुराना, मयूर-मुकुट, और पीताम्बर का प्रकंपन मेरे मन में बसा रहे। यही कथन किसी गोपी की ओर से भी हो सकता है। यह स्वरूप नंददास को प्रिय है।

वदन कमल पर अलक छुटी कछु स्रम की झलकनि,
सदा रहौ मन मेरे मोर-मुकुट की ढलकनि।
कोऊ सखी कर पकरति निरतति यौं छबि लै हिय,
मानौ करतल फिरत देखि नट लट्टू होत पिय ॥१०॥

शब्दार्थः—छुटी = छूटी हुई, लट्टू होना - लट्टू या मोहित, मुग्ध होना। निरतत-(नृत्यति - सं०) नाचती है।

भावार्थ:—मुखांबुज पर पड़ी हुई अलक और श्रम की बूँदे, मुकुट-छवि के साथ सदा मेरे मन में रमी रहें। आगे फिर वर्णन चलता है। कोई सखी किसी छबीली गोपी का हाथ पकड़ कर नाचती है, मानों करतलों को फिरते देख नटनागर प्रिय लट्टू हो रहे हों।

अर्थ:—मुखांबुजोपरि छूट कर गिरी हुई अलकें और श्रम-सीकरों के साथ मुकुट की झलमलाहट सदा मेरे मन में रमी रहे। आगे फिर और वर्णन चलता है। कोई सखी किसी छ-बीली गोपी का कर पकड़ नाचती है, उसे देख प्रिय ऐसे लट्टू हो जाते हैं, मानों नट के करतल के कंदुक या घूमते हुए लट्टू हों।

विशेषार्थ—अंतिम पंक्ति में उत्प्रेक्षा कुछ क्लिष्ट कल्पना के साथ है, सर्वथा स्पष्ट नहीं और श्लिष्ट पद के साथ भी है। लट्ट को लट्टू होने या मुग्ध होने या नचाने वाले भौंरे या कंदुक के अर्थ में लेकर कहा गया है कि जब एक सखी दूसरी का कर पकड़ नाचती है तो उसे कृष्ण देखकर नट-कर-तल के लट्टू से नाचते हुए मुग्ध हो (लट्टू हो) जाते हैं।

कोउ नायक कैं भेद - भाव लावन्य - रूप-वस,
अभिनय कर दिखरावति अरु गावति पिय कै जस।
नवनागर नँदलाल चाह चित चकित भये यौं,
निज प्रतिबिम्ब-विलास निरखि सिसु भूलि-रहत ज्यौं॥११॥

शब्दार्थ—अभिनय=नाट्य, नक़ल, अनुकरण, फूल रहना=प्रसन्न होना।

भावार्थ:—कोई गोपी कृष्ण-कीर्ति का कीर्तन करती हुई उनका अभिनय करती है, जिसे देख हरि चाहते-सराहते हैं।

अर्थ:—कोई गोपी नायक या कृष्ण के भाव-भंगिमा, रूप,-लावण्य के वश हो उनका यशोगान करती हुई · करती

है। इसे देख नागर नंद-नंदन चित-चाह से चकित होते हुए ऐसे लगते हैं जैसे कोई शिशु अपने प्रतिबिम्ब-विलास को देख प्रसन्नता से अपने को भूल जाता है।

नोट—पूर्वार्ध छंद के कई अर्थ हो सकते हैं। कोई गोपी नायक के भेद (दक्षिण, अनुकूल, शठ आदि) और उन उन भेदों के भावों का रूपाकारादि बना कर अभिनय करके कृष्ण-कीर्ति-कीर्तन के साथ दिखलाती है। अथवा, कोई गोपी नायक हरि के भाव-भेद (परिवर्तित होने वाले हृद्गत भावों) तथा रूपादि का अभिनय करती है, (यदि पाठ में भाव-भेद हो—समास विपर्यय से भी) अथवा गोपियों के पृथक-पृथक रूप-लावण्य के वश नायक हरि में जो भेद-भाव है, उसका अभिनय करती है। इसे देख कृष्ण प्रसन्न हो यों चकित या आत्म-विस्मृत हो जाते हैं, जैसे शिशु अपने प्रतिबिम्ब-विलास से अपने को भूल जाता है। यह भाव भागवत का ही है। भगवान आप ही अपने प्रतिबिम्ब के साथ आत्म-विस्मृति से खेलता है, संसार के माया-मुकुर में उसका प्रतिबिम्ब पड़ा करता है, उसी में भूला हुआ वह खेलता है। प्रतिबिम्बवाद का सुन्दर सालंकारिक सरस प्रतिबिम्ब दिखाया गया है।

रीझि परस्पर वारतिं अम्बर अभरन अँग कैं,
अम्बर तिहि छिन बनत तहाँ अदभुत रँग-रँग कैं।
कोउ मुरली रसवली रँगीली रसहिं बढ़ावति,
कोउ मुरली कौ छेंकि छबीली अदभुत गावति ॥१२॥

शब्दार्थ—वारति = निछावर करना, अंबर = आकाश, वस्त्र, रस-वाली—रस से समर्थ, छेंकि—अन्यथा कर, बाधित कर, अतिक्रमण कर।

भावार्थः—गोपियाँ उक्त अभिनय को देख वस्त्राभरण

परस्पर निछावर करती हैं। कोई रसीली मुरली-स्वर को अन्यथा कर अद्भुत गान गाती है।

अर्थः—गोपियाँ उस अभिनय को देख रीझ कर परस्पर अंग-प्रत्यंगों के वस्त्राभूषण निछावर करती हैं, रंग-विरंग के वस्त्र वहाँ तत्काल बनते जाते हैं। कोई गोपी सरस मुरली की सरसता को अपने स्वर से और अधिक करती है, और कोई उसे अन्यथा कर (उससे भी तीव्रतर स्वर कर) अद्भुत रूप में गाती है।

नोटः—कृष्ण का अभिनय सब को रिझाता है, सम्भवतः इसी सुख की प्राप्ति के लिये कृष्ण-लीला, रास-लीलादि का अभिनय चढ़ा। रीझ कर गोपियाँ परस्पर वस्त्राभरण निछावर करती हैं, क्यों कि वहाँ निछावर लेने वाली स्त्रियाँ और दूसरी हैं ही नहीं। 'अंग-अंग के' इस पद से सूचित है, कि गोपियों को अपनी रुचि के अनुसार अभिनय में अभिनेत्री के पृथक-पृथक अंगों का विलास प्रिय है, जिसे जिस अंग का भाव-विलास प्रिय हुआ, वह अपने उसी अंग का वस्त्राभरण वारती है। गोपियाँ विविध रंगों के वस्त्र पहिने हैं, वे सब अद्भुत हैं, अथवा वस्त्रों के वार देने पर तत्काल उन्हीं रंगों के वस्त्र बन जाते हैं—यह अद्भुत बात है, या जो वस्त्र नये रूप से (प्रभु-माया से) बनते हैं, वे अद्भुत हैं क्योंकि अद्भुत ललित लीलाकारक प्रभु की इच्छा से वे बने हैं। अथवा विविध रंगों के वस्त्र यों बनते हैं, जैसे विविध वर्णों का नभ बना करता है। आगे गोपियों का कंठ-स्वर और गान-कौशल दिखाया गया है। कोई गोपी मुरली की सरसता को अपने सरस-स्वर से और भी अधिक कर देती है, क्योंकि वे सब रस-स्वरुप ईश्वर के प्रेम-रस से परिपूर्ण हैं। कोई मुरली-स्वर से भी तीव्रतर स्वर से अद्भुत गान गाती है। नाद-ब्रह्म मुरली में है और गोपियों में नाद-ब्रह्म

सगुण साकारता और सरसता की विशेषता के साथ है।

ताहि साँवरो कुँवर रीझि हँसि लेत भुजन भरि,
चुंबन करि मुख-सदन बदन ते देत मोल ढरि।
जग में जो संगीत-रीत सुर-नर रीझत जिहिं,
सो व्रज-तिय कौ सहज, निगमन-आगम गावत तिहिं॥१३॥

शब्दार्थ—भुज भर लेना=भेंटना, आलिंगित करना, ढरना = अनुकूल या प्रसन्न होना, निगम आगम = वेद-शास्त्र।

भावार्थ—उस गोपी को श्याम आलिंगित कर हँसते हुए उसका चुम्बन कर प्रसन्नता से उसका मूल्य देते हैं। सुर-नरादि को रिझाने वाली लौकिक संगीत-रीति, जिसे वेदादि गाते हैं, गोपियों को स्वभावतः प्राप्त है।

अर्थ—उस गोपी (जो मुरली से अधिक स्वर में अद्भुत गाती है) को श्री कृष्ण जी ने रीझ कर हँसते हुए आलिंगित किया, और उसके मुख का चुम्बन कर अनुकूल हो कर उसका मूल्य दिया (सराहना कर अधर-रस देकर)। अब कवि कहता है कि सुर-नर को रिझाने वाली लौकिक संगीत-रीति, जिससे वेदादि गान करते हैं, स्वभावतः व्रज-बालाओं में उपस्थित है।

नोटः—कृष्ण ने उस गोपी को, जिसने मुरली से भी अच्छे स्वर में गाया था, मूल्य भी दिया, गुण-ग्राहकता इससे स्पष्ट है, मूल्य भी बड़ा रसीला या रँगीला है। साथ ही गोपियाँ स्वभावतः सारी संगीत-रीति जानती हैं। यह संगीत-रीति वेद-गेय है, दिव्य है।

जो व्रजदेवी निरतति मंडल-रास महा छवि,
सो रस कैसे वरनि सकै ऐसो है को कवि।
राग-रागिनी-सम जिनकी बोलिबौ सुहायौ,
सो कैसैं कहिं आवै जो व्रज-देविनि गायौ॥१४॥

शब्दार्थ—स्पष्ट है।

भावार्थ—जो रस सुन्दर रास-मंडल में व्रज-देवियों के नृत्य में है, उसे कोई कवि कह नहीं सकता, उन व्रज-देवियों के गायन को, जिनका साधारण बोलना ही राग-रागिनी सा है, कैसे कह सकते हैं।

अर्थ—छविमान रास-मंडल में व्रज-देवियों ने जो सरस नृत्य किया, उसके रसानंद का कथन कौन कवि कर सकता है। जिन के सामान्य रूप से बोलने में ही राग-रागिनी है, उनके संगीत का कथन कैसे किया जा सकता है।

नोट—व्रज-बालाओं को यहाँ देवी कह पूज्य तथा मनुष्येतर कहा गया है, अतएव उनको नृत्य-संगीत भी अनिर्वचनीय और दिव्य है, लौकिक संगीत तो उनके साधारण बोलने में ही है। यहाँ लौकिकता को दूर कर अलौकिकता को स्पष्टतया सूचित किया गया है।

पीव ग्रीव भुज मेलि केलि कमनीय बढ़ी अति,
लटकि लटकि मुरि निरतति कापै कहि आवत गति।
छवि सौं निरतनि,लटकनि, मटकनि मंडल डोलनि,
कोटि सुधा-सम मुसकनि मंजुल ताथेइ बोलनि ॥१५॥

शब्दार्थ—ग्रीव = गरदन, गला, मुरि = मुड़ कर, ताथेई = नृत्य-गीत में लय-सूचनार्थ ध्वनि विशेष।

भावार्थ—गलबाँहीं डाल कर केलि के साथ विविध रूपों में व्रज-बालायें नाचती तथा ताल-स्वर से ताथेई आदि कहती हैं। वह दृश्य अकथनीय है।

अर्थ—प्रिय के गले में भुज डाल केलि-रस बढ़ाते हुए लटक और मुड़ कर यों नाचती हैं, कि वह अकथनीय है, वृताकर मंडल में मटकते घूमते, और छवि से नाचते हुए ताथेई आदि बोलते हुए वे मुस्कुराती हैं, जिसमें सुधा-रस है।

कोउ उत तैं अति गावति सुर-लय लेति तान नइ,
सब संगीत जु छेंके, सुन्दरि गान करत भइ।
अपनि अपनि गति भेद सबै निरतन लागीं तब,
गंध्रव मोहे ता छिन सुन्दरि गान करत जब ॥१६॥

शब्दार्थ—नई = झुक कर, छेंके = रोक कर, सुर-लय = स्वर-ताल, देवों का मग्न होना, गंध्रव = गंधर्व (सं०।।

भावार्थ—कोई उधर से स्वर-ताल से और कोई इधर से गाती है, अपनी-अपनी गति से सब नाचती हैं, उसे देख उस समय गंधर्व भी मुग्ध हो गये।

अर्थ—कोई उधर से झुककर स्वर-ताल के साथ आलाप लेती हुई गाती है, कोई इधर से सब संगीत को रोक गान करती है। सब निज-निज गति-भेद से नाचने लगीं। जब यों वे गाती हैं तब गंधर्व भी मोहित हो जाते हैं।

नोट—सुर-लय श्लिष्ट पद है, इसका दूसरा भाव यह है कि जब एक इधर से गाती है तब देवता लय या मुग्ध होकर तान लेते हैं—आलाप लेते हैं। सब रस-मग्न हो निज-निज गति से नाचती हैं। अपूर्व नृत्य-गान है। यह संगीत-नृत्य देख देव-गंधर्व भी मुग्ध हैं। यह है भी तो भगवान-प्रेरित।

भुज-दंडन सौं मिलति ललित मंडल निरतत छबि,
कुंडल कच सौं उरझे उरझै जहाँ बड़े कबि।
मोर-मुकुटि की लटकनि, मटकनि मुरली-रव अस,
कुहुकि कुहुकि मनु नाचत मंजुल मोर भरे रस ॥१७॥

शब्दार्थ—बड़े कवि = भगवान ('कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू") अथवा श्रेष्ठ कवि, शुक्राचार्य, रव—शब्द।

भावार्थ—भुजाओं से परस्पर मिलती हुई वृत्ताकर नाचने में कुंडल केशों में उलझ गये। कृष्ण की भाव-भंगी और मुरली-रव से मुखरित मयूरों का सा नृत्य-गान होता है।

अर्थ :—भुजायें मिला लालित्य से मंडलाकार सुन्दर नृत्य करते हुए उनके कुंडल उन केशों से उलझ गये, जिनमें भगवान या बड़े कवि भी उलझ जाते हैं। हरि के मुकुट का लटकना और मटकना तथा मुरली का शब्द यों हो रहा है मानों मयूर रस-पूर्ण हो कुहकते हुए नाचते हैं।

नोटः—बड़े कवि पद को श्लिष्ट कर भगवान, शुक्र और बड़े बड़े कवियों का अर्थ लिया गया है। तीनों ही अर्थ यहाँ चरितार्थ होते हैं। कुंचित केशों में मनों के उलझने पर कितने ही कवियों और शायरों ने भी लिखा है। केशों का कुंचित होना भी व्यंजित है। उत्प्रेक्षा का सार्थक प्रयोग सराहनीय है। कृष्ण का मुकुट मयूर-पक्षों का है, कृष्ण भी श्याम वर्ण के हैं, मुरली हरित बाँस की, और पीताम्बर पीत है, इस प्रकार यहाँ मयूर के सभी वर्ण हैं।

सिर तैं सुमन सुदेस जु बरसत अति अनन्द भरि,
मनु पदगति पै रीझि अलक पूजति फूलनि करि।
स्रम-जल सुन्दर-बिन्दु रंग भरि अतिछबि बरसत,
प्रेम-भक्ति-बिरवा जिनकैं तिनकैं हिय सरसत ॥१८॥

शब्दार्थः—करि-से (विभक्ति के लिये क्रिया का प्रयोग), बिरवा—छोटे पौधे, सुदेस—सुन्दर, शरीर।

भावार्थ :—सिर से पुष्प शरीर पर बरसते हैं, वे पद-गति पर रीझे हुए केशों के मानों अर्चना-पुष्प हैं। श्रम-जल-कण भी गिर रहे हैं और प्रेम-भक्ति के पौधों को सरस करते हैं।

अर्थ :—सिर से शरीर पर आनन्द-भरे पुष्प बरसते हैं मानो पदों की गति पर रीझकर केश पुष्पों से पदों की पूजा करते हैं। श्रम-जल-बिन्दु रंग-रंजित हो सुन्दरता से बरसते हैं, और जिनके हृदयों में प्रेम-भक्ति के पौधे हैं उनके हृदयों को सरस कर देते हैं।

नोट :—पदार्चना के लिये सुन्दर हेतूत्प्रेक्षा है। फिर श्रम-विन्दुओं में विविध वर्णों के प्रतिविम्बों से विविध रंग दिखाई देते हैं, तथा उन कणा में भी राग है, यह रंग-भरि पद से व्यंजित है।

वृन्दावन को त्रिविधि पवन विजना जु विलोलै,
जहँ जहँ श्रमित विलोकत तहँ तहँ रस भरि डोलै।
वड़े अरुन पट-वासन-मण्डल मंडित ऐसे,
मनहुँ सघन अनुराग घटाघन-घुमड़नि जैसे ॥१६॥

शब्दार्थ :—विलोलै—चंचल करता है, चलाता, डुलाता है, रस-भरि—सरसता से, घन – घना, वादल। त्रिविधि—शीतल मंद, सुगंध, को—का, सम्बन्ध—कारक की विभक्ति।

भावार्थ :—वृन्दावन का शीतल-मंद-सुगन्ध समीर पंखे सा चल रहा है, और जहाँ जहाँ श्रम-जल देखता है वहीं सरसता से डोलता है। अरुण पट संचलित ऐसे हैं जैसे घन।

अर्थ :—वृन्दावन का शीतल, मंद, सुगन्ध समीर पंखा सा चलाता है, और जहाँ जहाँ देह को श्रमित (श्रम-जल-युक्त) देखता है वहीं सरसता से लगता है, अर्थात् शीतलता देता है। सुवास-मंडित वड़े अरुण वस्त्र यों संचलित हैं जैसे घने अनुराग के घन घुमड़ रहे हों।

नोट :—प्रकृति के पदार्थ—पवन आदि-प्रभु-सेवा में सर्वथा लगे हैं, पवन शीतल, मंद, सुगन्ध हो, श्रमित प्रभु-शरीर को शीतल करता है। उससे संचलित वस्त्र (अरुण वर्ण के) घन से घुमड़ रहे हैं—रास के पश्चात अब समय प्रभात का आ रहा है, अतः वर्ण अरुण ही लिया गया है। उत्प्रेक्षा का विशेष-रूप देखिये, उदाहरण-गर्भित उत्प्रेक्षा है।

ताकी धूँधर मध्य मत्त अलि भरमत ऐसे,
प्रेम-जाल कै गोलक कछु छवि उपजत जैसे।
कुसुम-धूरि धूमरी कुंज मधुकरिनि पुंज जहँ,
ऐसेहु रस आवेस लटकि कीन्ह्यों प्रवेस तहँ ॥२०॥

शब्दार्थ :—धूंधरि—धुंधली (रज-राशि), गोलक—पुतली, गोले, कुसुम-धूर—पराग, धूमरी—धुंध-राशि।

भावार्थ :—राग-रज-राशि में अलि भ्रमण कर रहे हैं, मानो रसावेश से उन्होंने उसमें प्रवेश किया हो।

अर्थ :—उसकी राशि के मध्य में प्रमत्त मधुप अथवा हरि यों भ्रमण कर रहे हैं जैसे प्रेम-जाल की पुतली का गोलक शोभा उपजा रहा हो। मधुकरी-पुंज पराग-पूरित कुंजों में यों प्रविष्ट हुआ है मानो रसावेश से बाध्य होकर आया हो। उदाहरण अलङ्कार है।

नोट :—वन का वर्णन हो रहा है—सुन्दर उत्प्रेक्षादि अलंकारों से सरस भावों को व्यंजित किया गया है। पराग-रज-पूरित वन में अलि या हरि-मधुप विहर रहा है, मानो प्रेम-जाल-गोलक हो। कुसुम-रज की धुंध में मधुकरियों (गोपियों-भौंरियों) ने रसावेश से प्रवेश किया।

नवपल्लव की सेनी अति सुखदेनी सरसै,
सुन्दर सुमन-ससि निरखत अति आनंद हिय बरसै।
पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उड़-मंडल सगरौ,
पाछैं रवि-रथ थक्यौ, चल्यौ नहिं आगैं डगरौ ॥२१॥

शब्दार्थ :—सेनी—सेना, श्रेणी, सगरौ-समस्त, सारा। डगरौ—डगर, पंथ, मार्ग, (डगरना-चलना-चला), एक डग भी।

भावार्थ :—सरस-सुखद नव पल्लव-पुंज और सुमन-समूह

को देख आनन्द होता है। यह विहार इतने दीर्घ समय तक होता रहा, कि पवन, चन्द्र, और नक्षत्र-मंडल सब थकित हो गया, फिर रवि-रथ भी थककर आगे न बढ़ सका।

अर्थ :—नवीन पत्रावली सुखद होकर सरस रही है और सुन्दर सुमन-समूह को देख कर हृदय में आनन्द बरसता है। इस वन-विहार की विलंबता के कारण, पवन, नक्षत्रगण और नक्षत्रेश सब थकित हो गये, तथा रवि-रथ भी रुका हुआ है और मार्ग में आगे नहीं चलता।

नोट :—यहाँ सारी प्रकृति का श्री कृष्ण की इच्छानुवर्तिनी होना प्रकट किया गया है। यद्यपि प्रकृति के पदार्थ चन्द्र-नक्षत्र-सूर्य-पवन सब गतिवान होकर भी गति-रुद्ध हैं, क्योंकि भगवान की यही इच्छा है। वे सब चकित हैं, क्योंकि बहुत समय से उन्हें स्थिर हो खड़ा रहना पड़ा है अथवा भगवान का वन-विहार देखते देखते वे थक गये हैं, उन्हें अपलक देखना पड़ा है। साथ ही प्रकृति सब प्रकार सुखद होती हुई सरसता उत्पन्न कर रही है। प्रकृति-चित्रण क्या ही चारु-चातुर्यमय और साभिप्राय है। पूर्ण उद्दीपन कार्य कर रहा है, प्रकृति इस विहार-विलास में सहायक भी है और उसका आनन्द भी ले रही है।

विहरति रति अविरुद्ध बुद्ध जु सुरत-रस-सागर,
उज्जल प्रेम-उजागर नागर सब गुन आगर।
हार हार में उरझि उरझि बहियाँ में बहियाँ,
नील-पीत पट उरझि उरझि बेसर-नथ महियाँ ॥२२॥

शब्दार्थ :—उजागर—उजाला करने वाला, अविरुद्ध—विरोध-रहित, सानुकूल, बुद्ध—चैतन्य, बहियाँ—बाँह, बेसर—बड़ी नथ।

भावार्थ :—कृष्ण में रति या प्रीति विहर रही है, हार हार

में और बाँहें बाँहों में उलझ रही हैं, इसी प्रकार नील और पीत वस्त्र बेसर तथा नथ में उलझ रहे हैं।

अर्थ :—सानुकूलता से चैतन्य-रूप रस-सागर उज्वल प्रेम-प्रकाशक, नेह-नागर, और गुणागर हरि में रति या प्रीति विहर रही है, हार हार में, बाँहें बाँहों में और नील-पीत पट उलझ कर बेसर और नथ में उलझे हैं। चेतनाचेतन सब में रति-भाव उमड़ रहा है।

नोट :—आनुप्रास की छटा सराहनीय है, स्वाभाविक और सार्थक अनुप्रास है। पदार्थावृत्ति दीपक का चातुर्यमय प्रयोग सुन्दर है।

स्रम-भरि सुन्दर अंग अंग अति मिलत ललित गति,
अंगनि पै भुज दिये लटक सोभा सोभित अति।
टूटी मुक्तनि-माल छूटि रहि साँवर उरपर,
गिरितैं जिमि सुरसरी गिरी द्वैधार धारिधर ॥२३॥

शब्दार्थ :—गति—रीति, मुक्तन—मोतियों, सुरसरी—गंगा जी। द्वैधार—दो धारायें।

भावार्थ :—श्रमित सुन्दर-सरस अंग ललित गति से परस्पर मिलते हैं, अंगों पर भुजायें रख लटकने की शोभा शोभित है। भग्न मुक्ता-माल साँवले के हृदय पर यों छूट पड़ी है मानो पर्वत से दो धारायें होकर गंगा जी धरा पर गिर रही हों।

अर्थ :—(राधा-कृष्ण के) सुन्दर, सरस, श्रमित अंग ललित रीति से परस्पर मिलते हैं। हरि के शरीर पर राधा निज भुज देकर बड़ी शोभा से लटक रही हैं। टूटी हुई मोतियों की माला हरि के साँवले हृदय पर यों पड़ी हुई है, जैसे हिम-पर्वत से गंगा जी की दो धारायें धरा पर गिर आई हैं।

विशेष :—"स्रमभरि" और "टूटी मुक्तनि-माल" दोनों ही पद रति-व्यंजक हैं। अंतिम पंक्ति में सुन्दर उदाहरण है। श्वेत

मुक्तामाल के दो भाग जाह्नवी की दो धाराओं से हैं। इस उदाहरण से श्रृंगार-रति की पुनीतता व्यंजित होती है।

अदभुत रस रह्यो रास-गीत धुनि सुनि मोहे मुनि,
सिला सलिल ह्वै चलौ सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।
रीझि सरदकी राति न जानैं कितइक बाढ़ी,
बिलसत सजनी श्याम यथारुचि अति रति गाढ़ी ॥२४॥

शब्दार्थ :—कितइक—कितनी एक, बहुत (कितनी+एक=इक) ह्वै—होकर (पूर्वका० क्रिया), न जानै—प्रयोग-साधारण ज्ञात नहीं रह्यो में ह्यो का लघुसा पाठ है।

भावार्थ :—अद्भुत रसवाले रास-गीत को सुन मुनि भी मोह गये, शिला तो जल और जल शिला हो गया, मुग्ध शारदी निशा बहुत बड़ी हो गई, राधा-कृष्ण गाढ़ी रति से यथेष्ट रूप में विलास-रस ले रहे हैं।

अर्थ :—इस क्रीड़ा में अद्भुत रस व्याप्त हो रहा है, रास-गीत को सुनकर मुनि भी मोहित हो गये। और आगे इसका प्रभाव यह हुआ कि शिला-खण्ड तो द्रवित हो जल के रूप में बहने लगे और जल स्थिर हो शिला के रूप में हो गया। शरद की रात्रि मुग्ध होकर न जाने कितनी बढ़ गई, इसी से बहुत समय तक श्यामा-श्याम गाढ़ी रति के साथ इच्छानुकूल रस-विलास करते रहे।

विशेष :—देखिये प्रसंग तो है श्रृंगार रस का, किन्तु कवि कहता है कि इसमें है अद्भुत रस, क्योंकि यह श्रृंगार लौकिक न होकर अलौकिक है, अतएव अद्भुत है, संसार से विचित्र है, क्योंकि यह अद्भुत लीला-व्यासजी से सम्बन्ध रखता है। आगे इसे पुष्ट करते हैं कि विषय-त्यागी विरागी मुनि भी इसे देख मोह गये और जड़ पदार्थ भी प्रभावित हो गये, शिला-खण्ड द्रवित हो रस-रूप से बह चले और जल शिला सा स्थिर हो गया।

शरद-यामिनी भी रीझ गई, तथा कृष्ण-केलि-कौतुक के लिये न जाने कितनी बढ़ गई। सारी प्रकृति विलासमयी है। सुन्दर भाव-योजना है। आगे जल-विहार या जल-क्रीड़ा है।

इहिं बिधि बिबिध बिलास हास-सुख कुंज-सदन कै,
चले जमुन - जल - क्रीडन, ब्रीडन - कोटि मदनकै।
उरसि मरगजी माल चाल मदगज-गति मलकत,
राजत रस - भरि नैन गंडथल स्रमकन झलकत ॥२५॥

शब्दार्थ :—क्रीड़न—क्रीड़ा करने (क्रीड़ा से क्रिया अथवा, क्रीड़ा का बहुवचन) ब्रीडन—लज्जित करना, मरगजी—दलित, मलकत—लज्जित करना, गंडथल—कपोल-तट - भाग, उरसि—उरमें (शुद्ध सं० तत्समरूप-सप्तमी का एक व०)।

भावार्थ :—कुंज-सदन में यों विविध विलास-हास कर यमुना में जल-क्रीड़ा करने के लिये कोटि मदनों को तिरस्कृत करने वाले श्याम गये। उनके उर पर दलीमली माला है और उनकी मदभरी चाल गज-गति को लज्जित करती है, नेत्र सरस और श्रम-कण युक्त कपोल हैं।

अर्थ :—इस प्रकार विविध विलास-हास-सुख कुंज-निकेत में कर कोटि-काम-विनिंदक श्याम यमुना में जल-क्रीड़ा के लिये गये। उनके उर पर दलीमली माला है और उनकी मतवाली चाल गज-गति को भी लज्जित करती है, उनके नेत्र सजल हैं और कपोलों पर श्रम-कण झलक रहे हैं।

नोट :—"ब्रीडन कोटि मदन के"—यही भाव तुलसीदास देते हैं:—"कोटि मनोज लजावनहारे"—रति-श्रम-कृत स्वेद-कण रस-व्यंजक हैं—इसी प्रकार "उरसि मरगजी माल" भी रति-व्यंजक है। अब आगे जल-क्रीड़ा का वर्णन आ रहा है। ध्यान रहे कि यहाँ श्रम-शैथिल्य नहीं दिखलाया गया, क्योंकि भगवान

में शिथिलता कैसी, वह तो विश्व-रमण हैं। मदन भी रति-विलास की विविध विधियाँ देख लज्जित है। उसे भी इतनी विधियाँ विलास की कहाँ ज्ञात हैं। इतने विलास पर भी अभी रति-रस-मद बना हुआ है जो चाल से व्यक्त होता है।

धाय जमुन-जल धँसे लसे छबि परति न बरनी,
    बिहरत मनु गज-राज संग लिये तरुनी करिनी।
तिय-गन-तन झलमलत वदन तहँ अति छबिछाये,
    फूलि रहु जनु जमुन कनकके मकल सुहाये ॥२६॥

शब्दार्थः—धाय—दौड़कर (आतुरता-सूचक है) करिनी—हस्तिनी। 'लिये' पद में ये का पाठ लघु है।

भावार्थः—दौड़कर यमुना-जल में राधा-कृष्ण प्रविष्ट हो गये। गोपियों के शरीर-मुख जल में कंचन-कमलों से प्रतीत होते हैं।

अर्थः—दौड़कर कृष्ण (राधा और गोपियों के साथ) यमुना-जल में प्रविष्ट हो गये, वहां वे ऐसे शोभित हैं कि उस शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता, ऐसा प्रतीत होता है मानों तरुणी हस्तिनी-गण को साथ लिये हुये गजराज विहरता हो। जल में स्त्रियों (गोपियों) के तन और छबीले मुख यों प्रतिबिंबित होते हैं मानो यमुना में कंचन - कमल विकसित हो शोभित हों।

नोटः—प्रथम भाव भागवत का है, राधिका (तथा गोपियों) और कृष्ण को करी-करिनी कह कर मद-मत्तता सूचित की गई है। फिर जल में झलमलाते हुए शरीर और मुख ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कनक-कमल हों। सुन्दर उत्प्रेक्षायें हैं।

मुख-अरविन्दनि आगें जल-अरविन्द लगें अस,
    भोर भये भवनकें दीपक मन्द परत जस।
मंजुल अंजुल भरि भरि पियकों तिय जल मेलति,
    मनु अलि सी अरविन्द - वृन्द मकरन्दनि खेलत ॥२७॥

शब्दार्थः—भोर—प्रभात, जस—जैसे, मेलति—फेंकती हैं, अंजुल—अंजलि (अनुप्रासार्थ प्रयोग)।

भावार्थः—मुख-कंजों के सामने कमल फीके लगते हैं, गोपियाँ अंजलियों से हरि पर जल फेंकती हैं। दोनों दृश्य बड़े ही मनोरम हैं।

अर्थः—गोपियों के मुख-कमलों के समक्ष जल-जलज यों प्रतीत होते हैं जैसे प्रभात के होने पर सदन के प्रदीप मंद पड़ जाते हैं। मंजुल अंजलियों में जल भर-भर कर गोपियाँ हरि की ओर फेंकती हैं मानों कमल-वृंद मकरंद से मधुप के साथ खेल रहा हो।

विशेषः—प्रथम में सुन्दर उदाहरण है, कहाँ प्रकृति-जन्य कमल और कहाँ गोपियों के मुख-कमल—एक में लौकिक आभा है और दूसरे में दिव्याभा। दूसरे में रुचिर उत्प्रेक्षा है। मधुप का कृष्ण से पूरा साम्य है, वैसे ही गोपियों का अरविन्दों से (मुख-पद - नेत्रादि के विचार से) सादृश्य है। वारम्बार के भाव के सूचनार्थ वीप्सा (भरिभरि) है।

छिरकत छैली छैल जमुन-जल अंजलि भरि भरि,
अरुन-कमल-मंडली फाग खेलति रस-रँग करि।
चलत दृगुज्ज्वल अंचल अंचल में झलकत अस,
सरस कनक कैं कंजन खंजन जाल परत जस ॥२८॥

शब्दार्थः—छैल—छबीले युवक, छैलि - छैली, छबीली युवती। दृगुज्ज्वलः—दृग् + उज्ज्वल—दीप्तिमान नेत्र, अस—ऐसे।

भावार्थः—कृष्ण और छबीलियाँ अंजलियों में यमुना-नीर भर-भर कर परस्पर छिड़कते हैं मानो रक्ताम्बुजों की मंडली रस-रंग से फाग खेलती हो, अंचल से नेत्र झलकते हुए खंजन से प्रतीत होते हैं।

अर्थ :—कृष्ण और छबीलियाँ अंजलियों में यमुना-नीर भर-भर कर परस्पर छिड़कते हैं, मानो रक्त कमलों का वृंद रस-रंग से फाग खेल रहा हो। चलते हुए चंचल उज्ज्वल नेत्र अंचल से ऐसे झलकते हैं जैसे सरस कंचन-कमलों में के खंजन जाल में पड़े हों।

नोट :—प्रथम में गुप्रोत्प्रेक्षा सुन्दर रूप में है, अंजलियाँ मानो अरुण कमल-मंडली हैं और प्रतिबिम्ब-वशात् लाल दीखने से जल रंग सा प्रतीत होता है, उसी से फाग खेला जा रहा है। फिर उदाहरण देकर अंचल से (जो मुख और नेत्रों-को जल-बिंदुओं से बचाने को मुख पर डाला गया है) नेत्र झलकते हैं जैसे जाल में कंचन-कमलों के खंजन पड़ गये हों। अंचल तो जाल सा, मुख कंचनाब्ज सा, और नेत्र खंजन से प्रतीव होते हैं। सुन्दर चित्रण है।

जमुना-जल मैं दुरि मुरि कामिनि करत कलोलैं,
मानौं नव घन मध्य दामिनी दमकति डोलैं।
कमलनि तजि तजि अलिगन मुख-कमलनि आवत जब,
छवि सौं छबिली बाल छपति जलमें दबकति तब ॥२६॥

शब्दार्थ :—मुरि—मुड़कर, कलोलैं—कल्लोल, छबिली—छबीली, शोभामयी, छपति—छिपती है या छप-छप करती हुई, दबकति—दबक जाती है।

भावार्थ :—यमुना-जल में कामिनियाँ कलोलें करती हैं, मधुकर-वृंद प्राकृतिक कमलों को छोड़ उनके मुख-कमलों पर आते हैं, तब वे जल में उनसे बचने को दबक जाती हैं।

अर्थ :—कामिनियाँ (गोपियाँ) यमुना-नीर में छिपती और मुड़ती हुई (कृष्ण-कर से फेंके हुए जल से मुख-नेत्रों को बचाने के लिये) कलोलें करती हैं, मानो नवीन जलद में बिजलियाँ

चमकती चलती हों। स्वाभाविक कमलों को छोड़ मधुपवृंद उनके मुख-कमलों पर जब आते हैं तब छबीली बालायें जल में छुपक कर दबक जाती हैं।

नोट :—प्रथम उत्प्रेक्षा सुन्दर है, यमुना-नीर नील हो कर नवघन सा है और गोपियाँ उसमें दामिनियों सी दमक रही हैं। फिर मधुपों के उनके मुखारविन्दों पर प्राकृतिक कमलों को छोड़कर आने से व्यंजित हैं कि वे पद्मिनी नायिकायें हैं। साथ ही यहाँ भ्रमालंकार का भी सुन्दर प्रयोग है।

कबहुँक मिलि सब बाल लाल छिरकत जल, छवि अस,
मनसिज पाये राज आज अभिषेक होत जस।
तिनकी सुन्दर काँति भाँति मन-मोहन भावै,
बाल वैस की छवि कवि पै कछु कहत न आवै ॥२०॥

शब्दार्थ :—काँति—कांति, भाँति—प्रकार; ढंग,

भावार्थ :—कभी सब गोपियाँ मिलकर हरि पर जल छिड़कती हैं। उनकी कांति और उनकी रीति उन्हें रुचिकर प्रतीत होती है, बालावस्था की छवि कवि के लिये अकथनीय है।

अर्थ :—कभी सब बालायें मिलकर हरि पर छवि से यों जल छिड़कती हैं जैसे राज्य के पाने पर मदन देव का अभिषेक हो रहा हो। उस समय उनकी सुन्दर कांति ऐसे ढङ्ग की है कि हरि को अति रोचक लगती है। बाल्यावस्था की सुन्दरता कवि से कही नहीं जाती।

नोट :—प्रथम उदाहरणालंकार से सुन्दर व्यंजना दी गई है। हरि मनोज से कहीं अधिक हैं, उन्हें गोपिकाओं के मनों पर पूरा अधिकार और राज्य मिल चुका है; अब अभिषेक हो रहा है, जो उन पर गोपियों के द्वारा जल छिड़का जा रहा है। अंत में कवि उनकी अल्पावस्था बतलाता है। यहाँ बाल शब्द निपट बाल्यावस्था का द्योतक न होकर युवाकाल का

अधिक न हो चले। सुन्दर भाव-व्यंजक पदावली है।

अपनी अपनी रुचि के पहिरे वसन वनी छव,
जगत-मोहिनी जे तिनकी ब्रज-तिय मोहनि सब ॥३३॥

× × × ×

शब्दार्थ :—छव—छवि, मोहिनी—मोहनेवाली।

भावार्थ :—सब ने स्वरुचि के वस्त्र पहिने और शोभा प्राप्त की, ब्रज-बालायें जग-मोहिनी को भी मोहित करती हैं।

अर्थ :—सब गोपियों ने अपनी अपनी रुचि के वस्त्र पहिने, अब उनमें ऐसी छवि आ गई है कि उसे देख कर विश्व-मोहिनी भी मोहित हो गई।

नोट :—क्यों न विश्व-मोहिनी मोहित हो, गोपियों ने अब कृष्ण-प्रदत्त वस्त्राभूषण पहिने हैं, जो दिव्य और अलौकिक हैं, शोभा को भी शोभा देने वाले हैं। यहाँ विश्व-माया की मोहिनी शक्ति को भगवान ने दिव्य मोहिनी शक्ति से विमोहित कराया है, यही हरि की मोहिनी शक्ति है। कोई भी जग-जीव लौकिक शरीर पर दिव्याम्बराभूषण नहीं धारण कर सकता, दिव्य देह ही उनके लिये है, इस प्रकार ये गोपियाँ भी दिव्यांगनायें प्रतीत होती हैं। यहाँ 'अपनी अपनी' में पृथकत्व के साथ अनेकता-सूचक वीप्सा है।

दो०—यह जु सरद की जोति इक, परम मनोहर राति,
खेलत रास जु रसिक पिय, प्रतिछिन नई नई भाँति ॥३४॥

शब्दार्थ :—स्पष्ट है।

भावार्थ :—शरद की ज्योति सी परम मनोरम रात्रि में प्रति-क्षण रसिक हरि नये नये ढङ्ग से रास खेलते हैं।

अर्थ :—शरद ऋतु की ज्योति सी (परम प्रकाशयुता) यह एक ही परम मनोरम रात्रि है, जिसमें रसिक-राज हरि प्रतिक्षण नये रङ्ग-ढङ्ग से रास का खेल करते हैं।

नोटः—रात्रि को परम मनोहर कहा गया है, क्योंकि परम आत्मा का रास-विलास उसमें हो रहा है, वह एक ज्योति भी है क्योंकि ज्योति-स्वरूप ब्रह्म हरि-रूप से उस समय विद्यमान हैं। नई-नई में प्रकारता, वारम्बारता, और अनेक वारता-सूचक वीप्सा है। यह दोहा कुछ अनावश्यक सा लगता है। संभवतः नंद दास ने इसके द्वारा उस रजिनी का महत्व सूचित किया है, रात्रि भी धन्या हो गई, साथ ही फिर रास का उल्लेख कर उसकी आनन्दानु भूति को एक वार फिर नया करने के लिये यह दोहा दिया गया है। भागवत में शरद-पूर्णिमा ही यह रात्रि थी। भागवत में यहीं यह रास-प्रसंग समाप्त हो जाता है। हाँ सूर ने फिर आगे भी रास-लीला और गोपी-पद-रज की महिमा लिखी है। एक विचार यह है कि रास-लीला बस एक ही रात्रि में हुई थी, दूसरा यह विचार है कि यह लीला प्रति पूर्णिमा को हरि किया करते थे।

ब्रह्म-महूरत कुँवर कान्ह वर घर आये जब,
गोपन अपनो गोपी अपने ढिग जानी तब।
नित्य रास-रस-मत्त नित्य गोपी-जन-वल्लभ,
नित्य निगम जो कहत नित्य नव तन अति दुर्लभ ॥२५॥

शब्दार्थः—*ब्रह्म-महूरत*—उषा के पूर्व का समय, यह परम शुभ महूर्त माना गया है। इस समय ब्रह्म-ध्यान, हरि-कीर्तनादि करना चाहिये, *नित्य*—प्रति दिन, शाश्वत, अनश्वर।

भावार्थः—उषा-वेला में जब कृष्ण अपने घर आ गये, तब गोपों ने निज निज गोपियों को अपने पास पाया, हरि का यह

रास-रस-विलास, जिसे वेद नित्य कहता है, नये शरीरों से नित्य होता है।'

अर्थः—जब हरि ब्रह्म-वेला में अपने श्रेष्ठवर में आ गये, तब गोपों ने अपनी गोपियों को अपने ही समीप पाया। नित्य गोपियाँ हैं, और हरि का रास-रस भी नित्य, है, अथवा गोपी-वल्लभ नित्य ही रास-रस में मस्त रहते हैं, नित्य ही उनकी अति दुर्लभ अभिनव देह रहती है, वेद इसी रास तथा रास-रसिक को नित्य कहता है।

विशेषः—संकेत-द्वारा यहाँ रास-रस को शाश्वत तथा नव कहा गया है, यह रास-नृत्य विश्व में सदैव होता रहता है, क्योंकि इसके कर्ता शाश्वत हरि हैं, जिनका शरीर अति दुर्लभ और नित्य नव है। कृष्ण का सुन्दर दिव्य शरीर नित्य नवीन ही रहता है, वैसा ही गोपियों का भी, यह यहाँ व्यंजित है। भागवत और सूर ने भी यही कहा है।

यह अद्भुत रसरास महाछवि कहत न आवै,
शेष सहस मुख गावत तौहू अन्त न पावै।
सिव मनहीं मन ध्यावै काहू नाहिं जनावै,
सनक - सनन्दन नारद, सारद अति मन भावै ॥२६॥

शब्दार्थः—सरल है

भावार्थः—छवि-पूर्ण रास-रस अद्भुत और अकथनीय है, इसका वर्णन शेष, शारद, नारद आदि भी नहीं कर सकते, शिव इसे जानते तो हैं, किन्तु बताते नहीं।

अर्थः—महाछविवान यह अद्भुत रास-रस अकथनीय है, सहस्र मुखों से भी इसे कहते हुए शेष इसका अन्त नहीं पाते, शिव इसका मन में ध्यान करते हैं और किसी को भी नहीं जनाते, सनकादि नारद और शारद को यह अति रुचिकर है।

नोटः—ध्यान रहे कि यह रास-रस अद्भुत है, भगवान की लीला सदा अद्भुत सरस और सुन्दर है—"लीला दुर्लन्ति‌ता ऽद्भुद् व्यसनिने देवाय तस्मै नमः"। यह लीला अकथनीय है, अनन्त है, कहते नहीं बनती, अनुभव करने के ही योग्य है, मन में ध्यान करने के योग्य है, जैसा शिव जी करते हैं, साथ ही यह प्रकाशनीय नहीं, वरन गोपनीय है, यह नारद, शारद और सनकादिका को अति रुचिकर है।

जद्यपि यह पद-कमल जु कमला सेवति निसि-दिन,
तद्यपि यह रज सपने कबहूँ नहिं पायौ तिन।
अज अजहुं रज वांछित सुन्दर वृन्दावन की,
सोऊ तनक न पावत सूल मिटति नहिं तन की ॥३७॥

शब्दार्थः—तद्यपि (दे०) तदपि, तथापि, अज-अजन्मा तनक—तनिक, रंच।

भावार्थः—कमला-सेवित हरि-पद-रज दुर्लभ है, ब्रह्मा जी वृन्दावन की रज चाहते हैं किन्तु रंच भी नहीं पाते।

अर्थः—यद्यपि कमला हरि-पद-पंकजों की रात-दिन सेवा करती हैं, किंतु वे भी यह रज (रस) स्वप्न में भी नहीं पा सकीं। सुन्दर वृन्दावन की इसी रज को ब्रह्मा जी भी चाहते हैं किन्तु वे भी इसे रंच मात्र नहीं पाते, कि उनके शरीर की पीड़ा दूर हो जाती।

नोटः—यहाँ वृन्दावन की रज का महत्व दिखाया गया है। यह रज प्रभु-पद-सेविका रमा को भी स्वप्न में नहीं मिलती, (यदि रस पाठ लें तो) यह रास-रस रमा को भी स्वप्न में अप्राप्त है। वृन्दावन की रज तन-ताप-नाशक है और इसी से इसे अज भी चाहते हैं, किन्तु पाते नहीं, ऐसी यह दुर्लभ है। सूर ने भी यही बात गोपी-पद-रज के लिये कही है, उसी रज को शिव और देव-गण भी चाहते हैं। रज का महत्व राम-

काव्य में भी है। तुलसीदास ने दो रजों का वर्णन मानस में किया है,एक तो "गुरुपद-रज" है और दूसरी "प्रभु-पद-रज है"।

निपट निकट घट मै जो अन्तर-जामी आही,
विषै-विदूपित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही।
जो यह लीला हित सौं गावै सुनै, सुनावै,
प्रेम-भक्ति सोई पावै अरु सब कैं जिय भावै॥३८॥

शब्दार्थः—घट—संसार, घड़ा, देह, विदूषिता-दोपयुक्त, आही—अहै (अवधी) है।

भावार्थः—इस घट (विश्व, शरीर)के अति निकट अन्तर्यामी (ब्रह्म-ईश्वर) है, किन्तु विपयों से सदोप की गई इंद्रियाँ उसे नहीं पा सकतीं। जो यह लीला गाता, सुनता और सुनाता है, वह सर्व-प्रिय होता और प्रेमा भक्ति पाता है।

अर्थः—देह-निकट अन्तर्यामी प्रभु हैं, किन्तु विषयों-से सदोप हुई इंद्रियाँ उसे पकड़ नहीं सकतीं। जो यह रास-लीला गाता, सुनता और सुनाता है, वह सर्व-प्रिय होता तथा प्रेमा-भक्ति पाता है।

नोटः—अन्तर्यामी होकर भी भगवान देह के निकट हैं, देह में नहीं, क्योंकि वह चैतन्य आत्म-तत्व है, अतः आत्मा में ही रहता है। इंद्रियाँ विपय-विकार-युक्त होकर उसे नहीं पा सकतीं, चाहे इंद्रियां सूक्ष्म हों या स्थूल। आगे लीला-महिमा कही गई है। इस लीला के गान-श्रमणादि से सर्व-प्रियता और प्रेमा-भक्ति मिलती है।

प्रेम-प्रीति सौं जो कोउ गावै, सुनै धरै हित,
प्रेम भक्ति तेहि देत दया करि नवनागर पिय।
हीन-श्रद्ध निन्दक, अधर्म्म हरि-धर्म-वहिर्मुख,
तिनसौं कबहुँ न कहै कहै तो नाहिं लहै सुख॥३९॥

शब्दार्थः—हीनश्रद्ध—श्रद्धाहीन, (समास - विपर्यय देखो) हरि - धर्म - वैष्णव-धर्म, वहिर्मुख—विमुख, ।

भावार्थः—जो इसे गाता, सुनता और हृदयंगम करता है उसे कृष्ण दया कर प्रेमा भक्ति देते हैं। इसे, श्रद्धाहीन, अवैष्णव, अधर्मी, और निंदक से न कहना चाहिये, अन्यथा सुख न मिलेगा।

अर्थः—जो इस लीला को प्रेम-और प्रीति से गाते, सुनते और हृदय में रखते हैं, उन्हें हरि दया करके प्रेमा-भक्ति देते हैं। जो श्रद्धा-हीन, निंदक, अवैष्णव, और अधर्मी हैं उनसे इसे न कहना चाहिये, नहीं तो सुख नहीं मिलता (वक्ता, और श्रोता दोनों ही को)।

नोटः—इसे प्रेम और प्रीति दोने से गाना चाहिये, प्रेम अलौकिक आत्म-संबंधी वस्तु है, (ईश्वर-रूप है) और प्रीति लौकिक हृदय या मन-सम्बन्धी है। इससे आत्मा और मन दोनों का इसमें योग होना चाहिये। प्रेम शुद्ध सात्विक और सतोगुण-प्रधान होता है, प्रीति में रजोगुण भी रहता है, प्रेम से तो निर्गुण ब्रह्म का और प्रीति से सगुण ईश्वर का सम्बन्ध है। इस लीला को गाना, सुनना और हृदय में रखना चाहिये (ध्यान में इसे सोचना, समझना, विचारना और चित्रित करना या देखना चाहिये)। श्रद्धा के विना विश्वास नहीं, विना विश्वास के इसमें रुचि और प्रीति नहीं, इसी प्रकार निंदा करने वाले, धर्म-हीन और अवैष्णव (शैव, शाक्तादि) से इसे न कहना चाहिये। ये सब इस पर ध्यान ही न देंगे, तब किसी को सुख भी न मिलेगा और कथन करना ही व्यर्थ होगा।

नैन-हीन जो नायक ताकौ नवनागरि-जस,
मंद हसनि, सुकटाच्छ लसनि कह वह जानै रस।

भक्त-जनन सौं कहै जिन्हैं भागवत-धर्म्म-बल,
जो जमुना के मीन लीन नित रहत जमुन-जल ॥४०॥

शब्दार्थः—*सुकटाच्छ* – सुन्दरवक्रदृष्टि, कह,—कहा, क्या, ।

भावार्थः—स्पष्ट है।

अर्थः—नेत्र-विहीन नायक के लिये जिस प्रकार नवनागरी (नायिका) का मंद-हास; कटाक्ष-विलासादि व्यर्थ हैं, वह उनके रस को नहीं जान सकता, वैसे ही अधर्मी आदि के लिये यह लीला-रस भी व्यर्थ है। इसे उन भक्तों से कहना चाहिये जिन में भागवत धर्म का बल (प्रभाव) है. जो मीन से हो यमुना-जल में नित्य लीन रहते हैं।

नोटः – नैन-हीन पद व्यंजक हैं, नेत्र ज्ञान और भावना दोनों से संबन्ध रखते हैं, वे दोनों के सूचक भी हैं,अतएव इसके रसास्वाद के लिये ज्ञानी होना तथा भावुकता का रखना दोनों ही आवश्यक है. क्यों कि इस लीला का सम्बन्ध ज्ञान और भाव (भावना) दोनों से है। इसमें बोधवृत्ति और भावना-वृत्ति दोनों के लगाने की आवश्यकता है। इसमें केवल रस ही नहीं वरन् गूढ़ ज्ञान भी है, क्योंकि यह उस प्रभु की लीला का सार है जो ज्ञान-स्वरूप होता हुआ रस-रूप है ("सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "रसो वै सः—") देखिये समानान्तर भाव—"अंधों यथा वार-वधू विलासा—" लोलम्बराज—। यह भी स्पष्ट है कि बिना ज्ञान के भावना में भी रसास्वाद का सुख नहीं मिल सकता। भागवत (श्रीमद्भागवत और भगवान-सम्बन्धी) और बल— (सामर्थ्य. प्रभाव) दोनों शब्द श्लिष्ट हैं। वैष्णव धर्म से प्रभावित भक्तों से ही यह लीला कथनीय है, जिनके मन मीन से यमुना-जल में लीन हों। यहाँ यमुना-जल की भी महिमा दिखाई गई है, क्योंकि यमुना के ही तट पर रास हुआ था, और यमुना कृष्ण को अति प्रिय भी हैं।

शब्दार्थः—पोई—पिरोई, गुथी,—गुँधी हुई।

भावार्थः—अति यत्न-कृत यह उज्वल रस-मालिका तोड़ने के योग्य नहीं, वरन् सावधानी से धारण करने के योग्य है। इसमें श्रवण, कीर्तनादि का सार लेकर गूँधा गया है।

अर्थः—यह उज्वल रस-मालिका करोड़ों यत्नों से पिरोई गई है। अतः इसे सावधानी से पहिनो, इसे तोड़ो मत। इसमें, श्रवण, कीर्तन, ध्यान, स्मरण, ज्ञान, और श्रुति के सार लेकर गुंफित किये गये हैं।

नोटः—यह हरि-रस-मालिका है, क्यों न करोड़ों यत्नों से बने, रस और उसकी माला, अति यत्न साध्य होना ही चाहे। इसे सावधानी से पहिनना चाहिये, सतर्कता से रखना चाहिये। इसे तोड़ना, (भंग करना) ठीक नहीं। इसमें सात वस्तुओं के सार-तत्व गुंफित हैं:—अर्थात्, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ध्यान, ज्ञान, श्रुति और हरि-प्रेम-भक्ति। इस प्रकार इसमें भक्ति, ज्ञान, और योग तीनों के साथ वेद का सार-तत्व है। वेद में ज्ञान, उपासना और कर्म तीन का उपदेश है। इसमें अध्यात्मज्ञान, भक्ति-प्रेम और योग का सुन्दर समन्वय हुआ है। इससे स्पष्ट है कि रास-लीला में वास्तव में उक्त सिद्धान्तों की समिष्टि है।

दो०—अघहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम बितरनी,
नन्ददास के कंठ बसौ नित-मंगल करनी ॥४३॥

शब्दार्थ:—अघ—पाप, वितरनी—बाँटने या फैलानेवाली।

भावार्थ:—स्पष्ट है।

अर्थ:—यह लीला मन को हरने वाली, पाप-विनाशिनी और प्रेम को फैला देनेवाली है (प्रेम का वितरण करने वाली है) नित्य ही यह मंगल करनेवाली हरि-लीला नन्ददास के कंठ में रमी रहे।

नोट :—काव्यारम्भ में जैसे मंगलाचरण रहता है, वैसे ही अंत में शुभकामना भी रक्खी जाती है। अंतिम पंक्ति में वही यहाँ रक्खी गई है। यह लीला पापनाशिनी है। सरस होकर मनों को हरनेवाली और सुन्दर प्रेम को बाँटने वाली और मंगल करने वाली भी है। भगवान की लीला सदैव मंगलकारिणी कही गई है:—"मंगलकरनि, कलिमल-हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।"

विशेष :—भागवत में गोपियाँ दिन और रात्रि दोनों में रास के लिये जाती हैं और रास-रस का वर्णन लगभग वहाँ भी इसी प्रकार हुआ है। जैसा गोपियों का विरह-वर्णन और कृष्ण के लोप होने का कथन यहाँ हुआ है वैसा ही हरि-वंश पुराण में नहीं हुआ, भागवत में यह वर्णन रक्खे गये हैं सम्भवतः बाद को।

रास के समान एक नृत्य हल्लीश नामक भी प्रथम होता था, फिर इसे रंगमंच पर लाया गया और उप-रूपकों में स्थान दे दिया गया, इसमें १ अंक, और ८ या १० स्त्री-पात्रों के साथ एक पुरुष-पात्र होता है, केवल नृत्य-गान ही इसमें रहता है। ब्रज में यही नृत्य प्रथम वृत्ताकार होता था और ग्राम्यनृत्य था।

नन्ददास ने वर्णन की समाप्ति बड़ी सुन्दरता से की है, इसी प्रकार सूर ने भी इसे समाप्त किया है किन्तु फिर आगे इसे और भी बढ़ाया है। इसी के फल-रूप में राधा और कृष्ण का प्रेम-सम्बन्ध दृढ़ होता हुआ दिखलाया है। "श्यामा-श्याम के उर बसी"—यह पारस्परिक प्रेम और बढ़ता जाता है, इसकी वृद्धि का वर्णन सूरदास ने बहुत भावपूर्ण और सुन्दर किया है, ऐसा ही कुछ वर्णन गीत-गोविन्द में भी किया गया है, इसमें यह प्रेम कुछ अधिक लौकिक रूप में है, और साधारण नायक-नायिका-सम्बन्धी प्रेम के रूप में है।

हरिवंश पुराण में ३५ श्लोकों में 'हल्लीश-क्रीडन' के नाम से रास का चित्रण हुआ है, और गोवर्धन-लीला के अनन्तर विष्णुपर्व के नाम से बीसवें अध्याय में यही रासवर्णन है।

उसमें भी यह शरद ऋतु की एक ही निशा में हुआ है, किन्तु बिना वेणु-वादन के (मुरली-वादन का उल्लेख वहाँ स्पष्ट नहीं) भागवत और सूर-सागर में मुरली-वादन का वर्णन है। गोपियों को कृष्ण के पास जाने से वहाँ उनके पतियों और माताओं आदि से मना कराया गया है, किन्तु वे रुकती नहीं; आज्ञोल्लंघन करती हैं। भागवत में यह सब माया-जन्य लीला के रूप में होकर तद्वत ही कही गई है। लीलाहाव (गोपियों का कृष्ण के रूप में कार्य करना) हरिवंश और भागवत दोनों में है,तो किन्तु स्पष्ट नहीं। यह लीला हाव राधा के विनोदार्थ किया गया है, ऐसा भागवत और सूरसागर में कहा गया है। नृत्य-गीत, विलास, और रमण का वर्णन हरिवंश पुराण में भी है किन्तु विस्तार से नहीं। भागवत और हरिवंश दोनों ही में राधा उपस्थित नहीं, सूरदास ने रास में ही राधा को उपस्थित किया है। नंददास ने विशेष रूप से भागवत का ही अनुसरण किया है। प्रारम्भ और समाप्ति दोनों ही बड़ी कुशलता के साथ रक्खे गये है।

इति पंचमोध्यायः

—:*:—

ससि, निधि, बसु, श्रुति विक्रमी, सुभ-बैसाख सुमास।
टीका लिखी 'रसाल' कवि, भरि निज-हिये-हुलास॥
"नंददास रचना सफल, सब कौ करति निहाल।
रीझि, रास - रस सीझि तत्र, प्रगटित्त करी "रसाल"॥
चख, नभ, व्योम, रतीस-सर, संवत फागुन मास।
सुदी पंचमी वार बुध, करी "रसाल" प्रकास।

—:*:—

भ्रमर-गीत

प्राग्वचन

कृष्ण-भक्ति-काव्य में भ्रमर-गीत का एक विशेष स्थान और महत्व है। यह प्रसंग भागवत और सूरसागर में कुछ पूर्व-कथाओं के साथ है। यहाँ नन्ददास ने इसे यों ही आकस्मिक रूप में प्रारम्भ कर दिया है। सूरदास ने अपने भ्रमर-गीत में राधिका को भी उद्धव के समक्ष गोपियों के साथ उपस्थित रक्खा है। किन्तु यहाँ नन्ददास ने भागवत के समान राधिका का उल्लेख ही नहीं किया। सूर ने उद्धव के द्वारा एक पत्र भी दिलाया है, और मौखिक सन्देश को उससे पृथक दिखलाया है। एक पत्र तो कुब्जा की ओर से गोपियों के लिये भी था, और एक पत्र वसुदेव और देवकी की ओर से नन्द और यशोदा के लिये उन्हें कृष्ण के पालन-पोषण के लिये धन्यवाद देते हुए, और इनके साथ मौखिक संदेश भी रक्खा गया है। यहाँ भागवत के समान कोई भी उल्लेख पत्र या पात्रों का नहीं है। मौखिक संदेश के अतिरिक्त उद्धव का उपदेश और उसके उत्तर में गोपियों का लम्बा कथन है।

सूरदास ने उद्धव के ज्ञानाभिमान पर कृष्ण के द्वारा एक चाल चलाई है, वे उन्हें गोपियों को इस ज्ञान का उपदेश देने के लिये कहते और भेजते हैं। उद्धव अपने ज्ञान-मदावेश से उसे स्वीकार कर लेते हैं और ब्रज में आकर वही करते हैं, परिणाम विपरीत होता है, गोपियों पर उनका तो नहीं, वरन् उनपर गोपियों

का प्रभाव पड़ता है और उद्धव में कृष्ण-भक्ति-प्रेम आ जाता है। कृष्ण उन्हें और पहिले भेजना चाहते थे, किन्तु उद्धव ने प्रथम इस ओर ध्यान ही न दिया था। कृष्ण ने उन्हें धन्यवाद भी दिया, यदि वे गोपियों को ज्ञानोपदेश करने जायें।

भागवत के आधार पर गोपियाँ अंत में ब्रह्म-ज्ञान को सराहती हुई स्वीकार कर लेती हैं, किन्तु सूरदास और नन्ददास ने संप्रदाय-प्रभाव से इस प्रकार नहीं लिखा। नन्ददास ने गोपियों को ज्ञानोपदेश स्वीकार नहीं कराया, वे प्रेम-भक्ति को ही स्वीकार करती हैं।

भ्रमर-गीत का नाम-करण सम्भवतः इसी प्रकार हुआ कि उद्धव और गोपियों के वार्तालाप - काल में एक भ्रमर कहीं से आ गया, उसे देख गोपियों की कृष्ण-स्मृति और तीव्र हो गई। तब वे उसी भ्रमर पर अन्योक्तियों के रूपों में अपनी व्यंजक पदावली को आधारित कर कृष्ण और उद्धव को बहुत-कुछ कहने लगीं। हिन्दी में सूर और नन्ददास ने इसे बड़ी चारुता और चतुरता से लिखा है, है इसका आधार भागवत ही। भागवतानुसार सूरदास ने भ्रमर का प्रवेश कुछ पहिले कराया है, वहाँ उद्धव और गोपियों के वार्तालाप के प्रारम्भ होते ही भ्रमर को लाया गया है किन्तु यहाँ वह बहुत देर में आया है।

इस भ्रमर-गीत की एक परम्परा चल पड़ी, और कितने ही कवियों ने भ्रमर-गीत लिखे। इस आधुनिक काल में स्व० पं० सत्यनारायण ने इसे राष्ट्रीय राग-रंग से रंजित कर लिखने का अच्छा प्रयास किया। उद्धव और गोपियों के सम्वाद को लेकर घनाक्षरी छंदों में स्व० रत्नाकर ने उद्धव-शतक नामक एक सुन्दर पुस्तक लिखी और इसमें एक नवीन मौलिकता का समावेश किया।

नन्ददास ने इस भ्रमर-गीत में गोपियों और उद्धव का प्रथम सम्वाद सा चलाया है, फिर भ्रमर-प्रवेश पर केवल गोपियों की ही वचनावली व्यंजकता के साथ चलाई है। आगे गोपियों से प्रभावित उद्धव की दशा का वर्णन कर उनके मन में गोपियों और उनकी हरि-भक्ति के सम्बन्ध में उठने वाले भावों का कथन किया गया है। फिर उद्धव मार्ग में सोचते-विचारते हुए लौट आये और कृष्ण के पास गये। तब उन्होंने कृष्ण को कुछ अन्यथा कह उन्हें ब्रज में लौट चलने को कहा है और अपने में भक्ति-प्रेम का प्रवेश दिखलाया है।

नंददास ने इसके लिखने में छंद-मिश्रण से कार्य किया है प्रारम्भ में तिलोकी छंद रक्खा है, जो एक मिश्रित छंद है और चांद्रायण और लवंगम से बनता है। चांद्रायण में ११ और १० मात्रायें होती हैं और आदि में गुरु और अंत में रगण अर्थात् गुरु-लघु-गुरु तथा यगण अर्थात् लघु-गुरु-गुरु वर्ण रहता है। तिलोकी छंद में भी ११ पर यति देकर १० मात्रायें होती हैं तथा आदि और अंत में गुरु वर्ण रहता है, लवंगम में ८ और १३ मात्राओं पर यति तथा आदि का वर्ण गुरु और अंत में जगण अर्थात् लघु-गुरु-लघु और अंतिम वर्ण गुरु रहता है। इस प्रकार तिलोकी छंद मात्राओं और यति के विचार से तो चांद्रायण का और गणों के विचार से लवंगम् का अनुसरण करता है। इसके पश्चात दोहा छंद रखकर अंत में १० मात्राओं की एक टेक सी जोड़ दी है। द्वितीय छंद में रोले और दोहे के संयोग के पश्चात् टेक रक्खी गई। रोला छंद में १३ और ११ मात्राओं पर यति रहती है। दोहे में भी १३ और ११ ही मात्राओं पर यति रहती है। दोनों छंद मात्राओं की संख्या में तो समान हैं, किन्तु लय या गति में पृथक है।

रोला छंद प्रायः वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य के लिये अच्छा होता है। यहाँ संवाद चल रहा है, अतएव इसके साथ दोहा दिया गया है, दोहे में मुख्य बात, जिसे अंत में रखना है, रखकर उसे बल या सहायता देने के लिये एक टेक लगा दी गई है। यहाँ छंद-मिश्रण तिल-तंदुल-न्याय के रूप में किया गया है और इस मिश्रित छंद को कुछ संगीतात्मक लय देने तथा सम्बोधन अथवा भाव-पोषण के लिये एक टेक लगाई गई है। चार पंक्तियों में दो छंद मिलाये गये हैं।

प्रथम छंद में कवि ने वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण रक्खा है और यह सूचित किया है, कि आगे उद्धव का उपदेश होगा। साथ ही साभिप्राय विशेषणों से गोपिकाओं का धार्मिक परिचय भी दिया है और यह भी ध्वनित किया है कि वे सगुण-साकार ब्रह्म-रूप कृष्णकी उपासिका हैं। उद्धव को देख कर गोपियाँ प्रथम मौन रहती हैं, जब वे हरि का नाम लेते हैं और उनके भेजे हुए संदेश की सूचना देते हैं, तब वे प्रथम प्रेम-पूरित हो आत्मविस्मृति और कंठावरोध से मौन ही रह जाती हैं। तत्पश्चात् उद्धव को आसन दे सम्मानार्थ उनकी परिक्रमा कर सेवा करती हैं, और कृष्ण की कुशलता पूछती हैं, उद्धव की नहीं, क्योंकि वे ज्ञानी और योगी हैं, अतएव वे आनन्दमय ही हैं, साथ ही वे प्रत्यक्ष सानंद खड़े भी हैं, जिससे उनकी कुशलना विदित ही हो जाती है। कृष्ण की कुशलतादि कह कर उद्धव हरि-सन्देश कहते हैं, उस पर तो गोपियों का ध्यान वैसा नहीं जाता, वरन् ध्यान जाता है हरि की ओर, फलतः प्रेमातिरेक से वे मूर्छित हो जाती हैं, तब उद्धव उन्हें सचेत करते हैं, और आगे का प्रसंग चलता है।

ऊधव कौ उपदेस सुनौ ब्रजनागरी,
रूप-सील लावन्य सबै गुनआगरी।

दो०-प्रेम-धुजा रसरूपिनी, उपजावनि सुख-पुंज,
सुन्दरस्याम विलासिनी, नव वृन्दावन-कुंज।
सुनौ ब्रज-नागरी! १

शब्दार्थ :—धुजा—ध्वजा (सं०), पताका, कुंज के पश्चात में विभक्ति का लोप।

भावार्थ :—रूप-शील-गुणयुक्त प्रेम-रसापूरिता गोपियों से उद्धव के उपदेश के सुनने को कहा गया है।

अर्थ :—रूपशील - गुणालंकृता लावण्ययुक्ता, प्रेम-पताका और रस - रूपिणी, सुख - कारिणी तथा नव वृन्दावन-कुंज में सुन्दर-श्याम की सेवा सविलास करने वाली गोपियो उद्धव का उपदेश सुनो।

नोट :—इस छंद में गोपियों के प्रायः सभी विशेषण साभिप्राय और सहेतुक हैं, अतः परिकरालंकार के द्वारा भाव-व्यंजकता का विधान किया गया है। गोपियाँ नागरी हैं, नगर-निवासिनी तो नहीं, वरन् चतुर हैं, प्रेम की वे पताकायें हैं, साथ ही साथ रस (आनन्द और शृंगार) ही उनका रूप है, अर्थात् वे आनन्दमयी हैं। यहाँ नव पद सूचित करता है कि वृन्दावन इस समय कुछ नया हो गया है, जब कृष्ण वहाँ गोपियों के साथ विलास करते हैं तभी उसकी छवि-छटा नई हो जाती है।

कहन स्याम सन्देस, एक मैं तुमपै आयौ,
कहन समै, सङ्केत कहूँ अवसर नहिं पायौ।
दो०-सोचत ही मन में रह्यौ कब पाऊं इक ठाउँ,
कहि सँदेस नँद-लाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाँउ।
सुनौ ब्रजनागरी। २

शब्दार्थ :—संकेत—एकान्त स्थान, तुमपै—तुम्हारे पास (पै,) अधिकरण—विभक्ति का समीपतार्थ में) अवसर—मौका। कहन—कहने को।

भावार्थ :—उद्धव कहते हैं कि मैं श्याम-सन्देश लाया, किन्तु अब तक स्थान और अवसर न पा सका, सोचता ही रहा कि कब उसे कहकर मथुरा को लौटूँ।

अर्थ :—मैं तुमसे कृष्ण का एक सन्देश कहने आया, किन्तु उपयुक्त समय, एकान्त स्थान और अवसर न पा सका, मन में सोचता ही रहा कि कब एकान्त स्थान पाऊँ, और हरि-सन्देश कह कर मथुरा को लौट जाऊँ।

नोट :—'एक' पद यहाँ देहली-दीपक-न्याय से आया है, सन्देश के साथ यह एक केवल और अद्वितीय का अर्थ देता है। सन्देश अद्वितीय है क्योंकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी हरि का है। या हरि का यही एक सन्देश है और दूसरा कोई सन्देश नहीं, न अब आगे कोई दूसरा सन्देश आयेगा ही क्योंकि इसमें ऐसा ज्ञान है कि उसे जान लेने पर संसार से तुम पार हो जाओगी,तब सन्देश की आगे आवश्यकता ही न रहेगी। अथवा आगे हरि ही स्वयमेव यहाँ आजावेंगे। यह सन्देश हरि का है, और अकेला एक ही है, इससे यह व्यंजित है कि जिन हरि को तुम प्रेम-रस-रूप मानती हो वे ज्ञान-स्वरूप हैं, तभी उन्होंने ज्ञान-सन्देश भेजा है, ज्ञान ही उन्हें प्रिय है, प्रेम नहीं। यह तुम्हारे लिये सर्वथा मान्य भी है, क्योंकि तुम्हारे ही प्रिय और सर्वस्व जीवन-धन का सन्देश है, मेरा नहीं, इसलिये इसे तुम्हें ज्यों का त्यों ही मान लेना चाहिये, यदि मेरा संदेश होता तो तुम चाहे न भी मानतीं। एक पद में कितनी चारु-चातुर्य-चढ़ी व्यंजना है। यदि इसी एक पद को मैं के साथ रक्खा जाये तब भाव होगा कि मैं ही वह अकेला व्यक्ति हूँ जो हरि-सन्देश लाया हूँ, और कोई दूसरा व्यक्ति नहीं लाया, और न लाया था तथा न लावेगा। साथ ही इससे उद्धव अपनी कृष्ण के साथ मैत्री की अनन्यता भी व्यंजित करते हैं।

आगे फिर यहाँ कहा गया है कि यह संदेश नंद - लाल का है, और अपने पूर्व कथन पर वल दिया गया है, पुनरुक्ति नहीं की गई। उद्धव को संदेश कहने और लौट जाने की आतुरा है, क्योंकि उन्हें कृष्ण की वियोग-व्यथा का ध्यान है, साथ ही हरि से पृथक रहना उन्हें भी अभीष्ट नहीं और वे ज्ञानी और योगी होकर समय को व्यर्थ भी नहीं खोना चाहते। यह भी व्यंजित है कि यह ज्ञानोपदेश-युक्त, हरि-संदेश, एकान्त स्थान और उपयुक्त अवसर पर कहने के योग्य है, यह गोपनीय, है, सर्वत्र प्रकाश्य नहीं।

सुनत स्याम को नाम-ग्राम-गृह की सुधि भूलीं,
भरि आनँद - रस हृदय, प्रेम-वेली-द्रुम फूलीं।
पुलकि रोम सब अंग मे, भरिआये जल नैन,
कंठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन।
व्यवस्था प्रेम की। ३

शब्दार्थः— *व्यवस्था*—विधान, दशा, अवस्था।

भावार्थः—श्याम का नाम सुन गोपियाँ सब कुछ भूल कर प्रेमानंद से पूरित हो गईं, पुलकितांग, सजल नेत्र और वाष्पाकुलित कंठ हो वे कुछ बोल न सकीं।

अर्थः—श्याम का नाम सुनते ही गोपियाँ ग्राम-घर की सुधि भूल हृदय में आनंद से रस-भर प्रेम - वेलि सी प्रफुल्लित हो गईं। शरीर पुलकित हो गया, नेत्र सजल हो आये, कंठ रुद्ध और वाणी गद-गद हो गई, यह प्रेम-व्यवस्था है, अब उनसे बोला नहीं जाता।'

नोटः—श्याम-नाम के श्रवण से जग-विस्मृति हुई, और आनंद-रस और प्रेम का विकास हुआ, यही प्रेमानंद-रस ब्रह्म के गुण हैं, साथ ही इनका विकास हृदय में हुआ, आत्मा में नहीं, क्यों कि श्याम सगुण हैं, निर्गुण ब्रह्म के रूप में, नहीं,

अतएव उनके स्मरण से हृदय में ही सगुणात्मक प्रेमानंद रस का संचार हुआ। अब आगे, अनुभावों का कथन है। चार अनुभाव हैं, पुलकावली, अश्रु, कंठावरोध, गिरा-गद्-गदता। अभी प्रेम का उदय ही हुआ है; पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ, अतएव कंपादि नहीं हुए। साथ ही हरि-स्मरण के आनंद-रस में लीन होने से अतिवचनीयता आ जाती है। सुन्दर वर्णन है।

अर्घासन बैठारि, बहुरि परिकरमा दीन्हीं,
स्याम-सखा-निज जानि, बहुरि सेवा बहु कीन्हीं।
बूझति सुधि नँदलाल की, बिहँसति मुख ब्रज-बाल,
नीके हैं बलबीरजू, बोलति बचन रसाल।
सखा सुन स्याम के। ४

शब्दार्थः—अर्घ-जल + आसन, अर्घासन (अर्घ + आसन) परिकरमा—परिक्रमा, प्रदक्षिणा, रसाल—रस-युक्त, आम।

भावार्थः—उद्धव को अर्घपाद्यासन दे परिक्रमा कर हरि-सख जान उन्होंने उनकी बहुत सेवा की, फिर हँस कर सरस गिरा से उन्होंने हरि-कुशल पूछी।

अर्थः—अर्घ देकर, आसन पर बैठाला फिर प्रदक्षिणा की और श्याम-सखा उद्धव को अपना समझ हित से सेवा की। और फिर हँसते हुए सरस गिरा से पूछा कि हे श्याम-सखे सुनो कृष्ण की सुधि (समाचार) कहो, बलवीर जी अच्छे तो हैं।

नोटः—उद्धव का आत्मीय भाव से गोपियों ने हरि-सखा समझ स्वागत किया। उन्हें अर्घ दिया या अर्ध आसन (अपने आसन में आधा) दिया और उनकी परिक्रमा कर बहुत सेवा की। उनकी कुशल नहीं पूछी क्योंकि उन्हें तो वे प्रत्यक्ष सकुशल देख ही रही हैं। हरि की कुशल पूछी है। कृष्ण को नंदलाल और बलवीर कहा है, अपना प्रिय नहीं, क्योंकि अब वे उन्हें छोड़

उनके रहे ही नहीं, अब तो कुब्जा के हो गये हैं, इसलिये अब आत्मीयता क्यों, अतः उन्हें अन्य पुरुष के ही रूप में लेकर नंदलाल और बलवीर कहा है, अथवा बलराम के लिये कहा है। फिर भी कुशल के पूछने से उनके हृदय का प्रेम-भाव (हरि के प्रति) व्यक्त ही होता है। फिर वे पूछती हैं हँस कर और सरस गिरा से, दोनों ही बातें प्रणय-सूचक हैं।

कुसल स्याम अरु राम, कुसल संगी सब उनकैं,
जदु-कुल सिगरे कुसल, परम आनंद सबनि कैं।
बूझन ब्रज-कुसलात कौ, आयौ तुम्हरैं तीर,
मिलिहैं थोरे दिवस मैं, जनि जिय होहु अधीर।
सुनौ ब्रज-नागरी। ५

शब्दार्थ:—तीर—तट, किनारा, बाण, समीप।

भावार्थ:—श्याम, बलराम और उनके मित्र सारे यदु-कुल के साथ सकुशल और सानंद हैं, उद्धव ने कहा कि हे ब्रजबालाओ! सुनो, मैं ब्रज की कुशलता पूछने को यहाँ आया हूँ, कृष्ण थोड़े दिनों में आवेंगे, तुम अधीर न होवो।

अर्थ:—श्याम-बलराम सकुशल हैं, उद्धव ने उत्तर दिया, उनके सब साथी और यदु-कुल के सभी लोग भी सकुशल और सानंद हैं। मैं तुम्हारे पास ब्रज की कुशलता के पूछने को आया हूँ। तुम अधीर न होओ, अब थोड़े ही दिनों में श्याम यहाँ आ जावेंगे।

नोट:—उद्धव सब की कुशल कहकर कहते हैं कि ब्रज की कुशल के पूछने को मैं तुम्हारे पास आया हूँ। इससे यह व्यंजित है कि मैं तुम्हारी तथा सारे ब्रज की कुशल जानना चाहता हूँ। बस तत्काल उन्हें आश्वासन देने को वे कहते हैं कि शीघ्र ही हरि यहाँ आवेंगे। उद्धव ने गोपियों की प्रेमातुरता तथा

व्याकुलता देख यह सान्त्वना-वाक्य शीघ्र ही कह दिया। यह सब भाव भागवत से लिये गये हैं।

सुनि मोहन-संदेस रूप-सुमिरन ह्वै आयौ,
पुलकित आनन-कमल, अंग आवेश जनायौ।
बिह्वल ह्वै धरनी परीं, ब्रज-वनिता मुरझाय,
दै जल-छींट प्रबोधहीं, ऊधव बात सुनाय।
सुनौ ब्रज-नागरी। ६

शब्दार्थः—जल-छींट—पानी के छींटे, प्रबोधना—समझाना, चैतन्य करना, सुमिरन—स्मरण।

भावार्थः—कृष्ण-संदेश (कि शीघ्र ही थोड़े दिनों में मिलूँगा) सुन गोपियों को हरि-स्मरण आ गया, अतएव उनमें प्रीति का भावउद्दीप्त हुआ, बस वे गोपियाँ व्याकुलता से मूर्छित होकर धरा पर गिर पड़ीं। उद्धव उन्हें समझाते और जल-सिंचन से चैतन्य करते हैं।

अर्थः—मोहन का संदेश सुन गोपियों को हरि-रूप का स्मरण हो आया, उनके मुखाम्बुज पुलकित हो गये और शरीरों में प्रेमावेश हुआ, तदनन्तर वे व्याकुल और मूर्छित होकर धरा पर गिर पड़ीं, तब उद्धव ने जल-सिंचन कर उन्हें चैतन्य कर यह कहा कि हे व्रजबालाओ! सुनो।

नोटः—मोहन शब्द में श्लेष है, मोहने वाला संदेश (क्योंकि उसमें मिलने के लिये कहा गया है) और हरि-संदेश, दोनों का भाव है। बस गोपियों को हरि-रूप-स्मरण हुआ और पूर्व रति या प्रीति उद्दीप्त हो उठी, फलतः वे व्याकुल हो (वियोग-व्यथा से) मूर्छित हो गईं। प्रीति के अनुभाव शीघ्रता-पूर्वक स्वाभाविकता से रक्खे गये हैं, मध्य की कतिपय दशायें छोड़ दी गई हैं, इससे गोपियों की भावना-तीव्रता प्रगट होती है।

प्रबोधहीं पद भी श्लिष्ट है,। यहीं से उद्धव का ज्ञान-योगोपदेश अब प्रारम्भ होता है।

वै तुमतैं नहिं दूरि, ज्ञानकी आँखिनि देखौ,
अखिल विस्व भरि पूरि, ब्रह्म सब रूप विसेखौ।
लोह, दारु, पाषाण मैं, जल-थल-महि-आकास,
सचर, अचर बरतत सबै ज्योतिहि रूप प्रकास।
सुनौ ब्रजनागरी। ७

शब्दार्थः—दारु—काष्ट, बरतत—प्रवर्तित या उपस्थित होना।

भावार्थः—ज्ञानदृष्टि से देखो तो अखिल विश्व में बस एक ब्रह्म ही ज्योति-रूप हो प्रकाश करता है, वह विभु होकर सब में व्यापक भी है।

अर्थः—कृष्ण तुम से दूर नहीं, तुम ज्ञान-दृष्टि से देखो तो ज्ञात होगा कि सारे विश्व में विशेष रूप से ब्रह्म ही भरा हुआ है। लोह, काष्ट, पाषाण, स्थल, जल, धरा, व्योम, चर और अचर सब में वही ज्योति-स्वरूप ब्रह्म प्रकाशित हो व्यापक है।

नोटः—इसमें "सर्वं खल्विदम् ब्रह्म" का सिद्धान्त रखा गया है। वह ब्रह्म, ज्योति-स्वरूप हो प्रकाशमान, चराचर में व्यापक, और विश्व-रूप है। द्वितीय पंक्ति से व्यंजित है, कि ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—एक तो सूक्ष्म प्रकाश-स्वरूप और दूसरा स्थूल विश्वरूप। वह जड़ और चेतन सब में समान रूप से व्याप्त है। यहाँ यह जान पड़ता है कि उद्धव व्याप्य-व्यापक भाव मानकर द्वैतवादी से हैं, वे संसार (जड़-चेतन, चराचरमय) और ब्रह्म दो को मानते हैं, संसार में सर्वत्र ब्रह्म व्यापक है, और यह केवल ज्ञान से ही देखा जा सकता है। दूर पद श्लिष्ट है, पृथक और अनिकट का **अर्थ देता** है। इससे ब्रह्म

और गोपियों का एक होना भी व्यंजित है, इसी प्रकार हरि भी ब्रह्म-रूप, हैं यह भी सूचित किया गया है। ब्रह्म की परिभाषा तो यहाँ नहीं दी गई किन्तु उसकी विशेपता कही गई है, चर्म-चक्षुओं से ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह ज्ञानगम्य ही है। उसका प्रकाश-रूप और ज्योति-रूप होना गो० तुलसी दास ने भी-दर्शन शास्त्र के आधार पर कहा है:—

"जोगिन परम तत्वमय भासा। सहज-सुद्ध सत एक प्रकासा।" उद्धव का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की दृष्टि से यदि देखो तो तुम और हरि तथा सारा-विश्व ब्रह्म-रूप ही है, तब वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका उत्तर गोपियाँ यों देती हैं

कौन ब्रह्म की जोति, ज्ञान कासौं कहौ ऊधौ,
हमरैं सुन्दर स्याम, प्रेम कौ मारग सूधौ।
नैन, वैन, स्रुति, नासिका, मोहन रूप लखाय,
सुधि-बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगौरी लाय।
सखा सुन स्यामकै। ८

शब्दार्थः—स्रुति—कान, वेद, ठगौरी—प्रवंचना।

भावार्थः—ज्ञान और ब्रह्म को हम नहीं जानतीं, जानतीं हैं प्रेम का सीधा रास्ता। हरि ने अपने रूप-सौंदार्य और अपनी मुरली से हमें ठग लिया है। कहौ में हौ का पाठ लघु सा है।

अर्थः—गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं कि ब्रह्म-ज्योति क्या है, और ज्ञान तुम किसे कहते हो। हम इन्हें नहीं जानतीं, हमारे यहाँ तो प्रेम का ही सीधा मार्ग है और सुन्दर कृष्ण हैं। तुम कहते हो कि सर्वत्र ब्रह्म हैं, और हरि भी ब्रह्म हो व्यापक हैं, यह हम कैसे मानें, कृष्ण ने अपने नेत्रों, वचनों, नासिका और कानों से युक्त विमोहक रूप दिखा और मुरली बजा कर हमारी सुधि और बुद्धि सब हर ली, यह प्रवंचना थी।

नोटः—उद्धव ने ब्रह्म और ज्ञान की परिभाषायें न दी थीं, बस उसका ज्योति-रूप से प्रकाशमान होते हुए व्यापक होना ही कहा था, बस गोपियों ने ब्रह्म और ज्ञान की परिभाषायें पूछ दीं, और अपना पक्ष भी बता दिया कि हमारा पंथ तो सीधा और प्रेम का है। इससे ज्ञान-पंथ का टेढ़ा होना व्यंजित है। प्रेम-पंथ को सीधा ही कहा गया है।—

"अति सूधो सनेह को मारग है बना०......"—। हाँ कहीं-कहीं कभी-कभी इसे टेढ़ा और कठिन तथा खड्गधार सा पैना भी कहा गया है। "प्रेम को पंथ करार है री तरवार की धार पै धावनो है"—। आगे वे कहती हैं कि ब्रह्म तो अंग-रहित है (यद्यपि उद्धव ने यह कहा नहीं, किन्तु ब्रह्म के ज्योति-स्वरूप हो सर्व-व्यापक होने से यह प्रगट ही हो जाता है) किन्तु हरि साकार सौंदार्य हैं और मोहिनी मुरली से हमें छल चुके हैं, तब वे कैसे ब्रह्म होकर विलग नहीं। यह भी गोपियाँ कहे देती हैं कि अब उनके पास बुद्धि नहीं, वह मुरली से हरी जा चुकी हैं, तब कैसे ज्ञान-दृष्टि से वे देखें और उद्धव का ब्रह्म-ज्ञान समझें। कितनी व्यंजक पदावली है। इसमें पाँचों ज्ञानेंद्रियों का उल्लेख किया गया है। मोहन पद में मुद्रालंकार है—और कृष्ण और मोहनेवाला दोनों भाव हैं। अब उद्धव कहते हैं।

यह सब सगुन उपाधि, रूप निरगुन है उन कौ।
निरविकार, निरलेप लगत नहिं तीनौं गुन कौ।
हाथ न पाँय न नासिका, नैन, बैन नहिं कान,
अच्युत ज्योति-प्रकास ही, सकल विस्व कौ प्रान।
सुनौ ब्रज-नागरी। ६।

शब्दार्थः—उपाधि—पदवी, एक प्रतिबंध—दोष (तर्क में), अच्युत—अ—नहीं+च्युत—गिरना—अक्षय।

भावार्थः—उद्धव कहते हैं कि उनका निर्गुण-रूप है; वे निर्विकार, निरीह, गुण-हीन, देहांग-रहित, अक्षय ज्योति—प्रकाश-रूप हो विश्व के सार प्राण या विश्वात्मा हैं।

अर्थः—उनका (ब्रह्म और हरि का) रूप निर्गुण है, सगुणता तो केवल उपाधि है, वे निर्विकार और निर्लेप होकर गुण-प्रभाव-रहित हैं। वे नेत्र, नासिक, कान, गिरा-कर, पदादि इंद्रियों अथवा अंगों से रहित अक्षय ज्योति - स्वरूप और विश्वात्मा होकर प्रकाश करते हैं।

नोटः—इसमें उद्धव ने ब्रह्म की नास्त्यात्मक (Negative) परिभाषा दी है और कहा है कि सगुण होना तो ब्रह्म के निर्गुणत्व के तर्क में उपाधि दोष है। वह निर्विकार और गुण-प्रभाव-हीन, निरंग, निरिंद्रिय होता हुआ अक्षय ज्ञान ज्योति और प्राण या विस्व-सार है। परिभाषा फिर भी पूर्ण सफल नहीं। उपाधि पद श्लिष्ट है—और पदवी तथा एक तर्क-दोष और उपद्रव या विकार का अर्थ देता है। ब्रह्म को यहाँ बश्व-प्राण कहा गया है। प्राण पद भी श्लिष्ट है और प्राण वायु, सारतत्व, जीवन तथा आत्मा का भाव प्रकट करता है। गोपियाँ इसका उत्तर देती हैं।

जौ मुख नाहिन हुतौ कहौ किन माखन खायौ,
पायन बिन गो-संग कहौ बन बन को धायौ।
आँखिनि में अंजन दयौ, गोवर्द्धन लियौ हाथ,
नंद-जसोदा-पूत है, कुँवर कान्ह ब्रज-नाथ।
सखा सुन स्यामके। १०

शब्दार्थ :—हुतौ (हुतो)=था, दयो (दीन्ह्यौ, दीनौं,दियो) दिया आदि रूप देखिये। लियौ में यौ का पाठ लघु है—लिया।

भावार्थः—बिना मुख के मक्खन कैसे खाया, बिना पैरों के गायों

के साथ वन में कौन दौड़ा। अतः यह असत्य है, हरि ने आंखों में अंजन लगाया और गोवर्धन गिरि उठाया था, वे ब्रजनाथ कुँवर कृष्ण नंद-यशोदा-सुत हैं।

अर्थ:—यदि मुख न था तो कहो मक्खन किसने खाया, बिना पैरों के गायों के साथ वन में कौन दौड़ा। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण निरंग नहीं, वरन् सांग हैं। उन्होंने आँखों में अंजन लगाया और हाथ में गोवर्धन लिया, वे ब्रजनाथ कुंवर कृष्ण नंद-यशोदा के पुत्र हैं।

नोटः—उद्धव ने हरि को ब्रह्म-रूप कह निर्गुण और निरंग कहा था, गोपियों ने उत्तर में उन्हें सांग सिद्ध किया और प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, क्योंकि यही प्रमाण मुख्य और मान्य है। ब्रह्म ज्योति-प्रकाश-मय कहा गया और ज्ञान-दृष्टि से दृष्ट बताया गया था, अतएव गोपियाँ कहती हैं कि अंजन लगाकर आँखों की दृष्टि बढ़ाई गई है। कृष्ण हैं महान और हमारे रक्षक, क्योंकि गोवर्धन उठा कर उन्होंने ब्रज को बचाया था, इसी से हम उन्हें चाहती हैं, वे ब्रज के नाथ या स्वामी भी हैं, अतः हमारे सेव्य हैं।

जाहि कहत तुम कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता,
अखिल अंड ब्रह्मंड, विस्व उनहीं तें जाता।
लीला-गुन अवतार ह्वै, धारि आये तन स्याम,
जोग-जुगति ही पाइये, परब्रह्म पुरधाम।
सुनो ब्रजनागरी। ११

शब्दार्थ:—ताहि—ताके—उसके (सम्बन्ध के रूप में) जाता—उत्पन्न, जाना क्रिया का रूप (खड़ी बोली)। जुगति—युक्ति, जाग+गति—योग से प्राप्त दशा।

भावार्थ:—कृष्ण पिता-माता-हीन, विश्व के लय-स्थान, हैं,

लीलार्थ सगुण अवतार ले श्याम-रूप से शरीरी हो आ गये हैं, वे योग-युक्ति से प्राप्त पर-ब्रह्म हैं।

अर्थ:—जिसे तुम कृष्ण कहती हो, उसके कोई माता-पिता नहीं, यह अखिल ब्रह्मांड और विश्व उसी से उत्पन्न हो उसी में लय होता है। वही लीला के लिये सगुण अवतार ले श्याम शरीर धारण कर आया है। वह योग से ही प्राप्त होता है, और परब्रह्म और पुरधाम (धाम—कांति, तेज+पुर—पूर्ण) या प्रकाशपूर्ण है।

नोट:—गोपियों के नंद-नंदन कहने पर उद्धव कहते हैं कि कृष्ण ब्रह्म होकर बिना माता-पिता के हैं, विश्व के वे उत्पत्ति और लय के स्थान हैं, उनका यह सदेहावतार लीलार्थ ही है, वे प्रत्यत्त-प्राप्त नहीं वरन् योग-युक्ति से ही प्राप्त हैं। वह पर ब्रह्म परम प्रकाश-स्वरूप हैं। इसमें कृष्ण को ब्रह्मरूप कह विश्व का आदि कारण और लय-स्थान कहा है। सगुण अवतार लीलार्थ ही है—यह कारण भक्ति-पंथ में मान्य ही है। अन्यथा—"परित्राणाय साधूनाम् । वनाशायच दुष्कृतामादि" अवतार का कारण कहा गया है। ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय योग ("योगः कर्मसु-कौशलम्") ही है। योगोपाय के द्वारा कर्म-योग की व्यंजना दी गई है। ब्रह्म श्याम शरीर रख ले आये हैं, उत्पन्न नहीं हुए—वे इच्छा-निर्मित देही हैं। साथही यह भी व्यंजित है कि प्रथम तुम चित्त-वृत्तियों का पूर्णतया निरोध करो तब ब्रह्म रूप कृष्ण को पाओगी, और सब इच्छायें छोड़ दो। गोपियाँ इस पर कहती हैं।

ताहि बतावौ जोग, जोग ऊधौ जेहि पावौ,
प्रेम-सहित हम-निकट स्यामसुन्दर-गुन गावौ।
नैन, बैन, मन, प्रान में, मोहन-गुन भरपूर,
प्रेम-पियूषै छोड़ि कै, कौन समेटै धूर।
सखा सुन स्याम के। १२

शब्दार्थ:—सहित—साथ, युक्त, हित के साथ (श्लिष्ट है) धूर—धरा—संसार, गोपियों की विभूति। हम—हमारे (सम्बन्ध कारक का प्रयोग विशेष देखो)।

भावार्थः—योग के योग्य को योग सिखाओ, हमारे पास कृष्ण के गुण गाओ, हमारे सभी अंगों में मोहन-गुण भरे हैं, हम प्रेम-पीयूष को छोड़ क्यों धूल समेटें, क्यों योगी बनें।

अर्थः—जिसे योग के योग्य आप पावें उसे ही योग सिखावें। हे उद्धव ! आप हमारे समीप तो कृष्ण-गुण-गान करें, और प्रेम तथा हित के साथ। हमारे नेत्रों, वचनों, मनों और प्राणों में मोहन (कृष्ण और मोहने वाले) के गुण रमे हैं, तब प्रेमामृत को छोड़ कौन यहाँ विभूति रमावे।

नोटः—सुपात्र को ही वस्तु देना ठीक है, हम योग के लिये सुपात्र नहीं, स्त्रियों के लिये योग है ही नहीं। हमारे पास तो आप श्याम के सुन्दर गुण या सुन्दर श्याम के गुण प्रेम और हित से अथवा प्रेम के साथ गावें। हमारे नेत्रों, रसना, मन और प्राणों में मोहन (मोहने वाले, मोहों कृष्ण) के गुण भर गये हैं; हम तब कैसे निर्गुण का ध्यान करें, निर्मोही कैसे बनें, कैसे-मोह छोड़ें। प्रेमामृत को छोड़ कौन भला धूल (संसार—कर्म-रज, रजोगुण) समेटेगा, प्रेम,सात्विक आनंदामृत (अमर) या अक्षय रस है, उसे छोड़ रजोगुण कैसे धारण करें, संसार में कैसे पड़ें, कर्म-धूल क्यों समेटें अथवा योगी की विभूति कैसे रमावें। कितनी सुन्दर व्यंजक पदावली है। प्रथम पंक्ति में यमक,सहित और मोहन में श्लेष,मोहन में मुद्रा तथा पीयूष और धूर में श्लेष है। सुन्दर पद देहली-दीपक के साथ है। कितना सार्थक और सफल अलंकार-प्रयोग है। अब उद्धव कहते हैं।

धूरि बुरी जो होय ईस क्यौं सीस चढ़ावै,
धूरि-छेत्र मैं आय कर्म करि हरि-पद पावै।
धूरहि तैं यह तन भयौ, धूरहितैं ब्रह्मण्ड,
लोक-चतुर्दस धूरि तैं, सप्तदीप नवखण्ड।
सुनौ ब्रजनागरी ॥१३॥

शब्दार्थ:—ईस—महादेव, धूरि-छेत्र—धूलि-क्षेत्र – पृथ्वी, संसार, पद-चरण-स्थान। चढ़ावै—सभक्ति माथे में लगावें

भावार्थ:—ईश-शीश पर चढ़ने वाली धूल बुरी नहीं, धूल के क्षेत्र में आकर कर्म करने से ही हरि-पद प्राप्त होता है, धूल ही से ब्रह्मांड विरचित हुआ है।

अर्थ:—यदि धूल (रज) बुरी होती तो महादेव जी क्यों उसे सिर पर चढ़ाते (सभक्ति मस्तक पर रखते), धूल के ही क्षेत्र में (संसार में) आकर कर्म करने से हरि-पद (चरण और स्थान) प्राप्त होता है। धूल ही से यह देह, धूल ही से ब्रह्मांड, चौदहों लोक, सप्तदीप और नवखंड निर्मित हुये हैं।

नोट:—प्रथम पंक्ति में हरि-पद-रज की ओर, जिसे शिव धारण करते, हैं, संकेत है, इसका महत्व गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है। धूल-क्षेत्र में ही कर्म करने से हरि-पद मिलता है। इससे विश्व-सत्ता मान्य हो जाती है और द्वैतवाद का आभास मिलता है। साथ ही कर्म-योग से प्रभु की प्राप्ति को बताकर कर्म का महत्व कहा गया है। धूल से देह और विश्वका निर्माण कहने से प्रकृति के अस्तित्व और उससे भौतिकवाद का आभास मिलता है। उद्धव का यह उत्तर युक्ति-संगत और उनके पक्ष के अनुकूल नहीं जान पड़ता। इससे द्वैतवाद और त्रयवाद की भी झलक मिलती है। उद्धव निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रथम ज्ञान-योग, कर्म-योग, और हठ-योग का साधन रूप से उल्लेख कर

जीव कर्म से विमुख हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे लिये, जिनके हृदयों में हरि विराजमान हैं, कर्म व्यर्थ हैं, हम उनसे विमुख हो चुकी हैं। यह कर्म-योग का खंडन है।

तुम कर्में कस निन्दति जासों सदगति होई,
कर्म-रूप तें बली नाहिं त्रिभुवन में कोई।
कर्महि ते उतपत्ति है, कर्महि तें है नास,
कर्म किये तें मुक्ति है, परब्रह्म-पुर वास।
सुनो ब्रजनागरी ॥१०॥

शब्दार्थ:—कर्में—कर्महि—कर्म को, निन्दति—(निन्दा का क्रिया के समान प्रयोग) निंदा करती हो।

भावार्थ:—कर्म ही सद्गति-कारक और प्रबल है, इसी से उत्पत्ति और नाश होता है और इसी से मुक्ति प्राप्त हो ब्रह्म-लोक मिलता है।

अर्थ:—उद्धव उत्तर में कहते हैं कि कर्म-निन्दनीय नहीं, तुम क्यों उसकी निंदा करती हो, कर्म से ही सद्गति मिलती है। त्रिभुन में कर्म से प्रबलतर और कुछ नहीं। कर्म से ही जगदुत्पत्ति और लय है। तथा कर्म करने ही से मुक्ति-लाभ और ब्रह्म-लोक प्राप्त होता है।

नोट:—उद्धव कर्म-योग का फिर प्रतिपादन करते हैं। और दिखाते हैं, कि कर्म सद्गति, मोक्ष और ब्रह्मलोक-सुख का देने वाला है। कर्म ही से जगदुत्पत्ति और नाश होता है अतः कर्म प्रबलतर है। किन्तु इस कारण से गोपियों का कथन खंडित नहीं होता। ठीक है मोक्ष के लिये कर्म चाहिये, किन्तु गोपियाँ इससे इन्कार नहीं करतीं। वे कह चुकी हैं कि हरि-प्राप्ति पर कर्म व्यर्थ है। मोक्ष गोपियों के लिये साध्य नहीं, भक्ति में इसका महत्व ही नहीं। उद्धव के इस कथन से संसार

ब्रह्म, और जीव तीन की सत्ता मान्य होती है और अद्वैतवाद नहीं रह जाता। कर्म की निंदा गोपियों ने न की थी, उसे प्रेम के समक्ष विशेषता नहीं दी, और हरि-प्राप्ति तक ही उसे माना है उद्धव उन्हें कर्म-निंदक कहते हैं, यह उनके तर्क में दोष है। यह भी ज्ञात होता है कि वे कर्म को ईश्वर की भी अपेक्षा विशेष महत्व देते हैं। गोपियाँ उत्तर देती हैं।

कर्म पाप अरु पुन्य लोह-सोने की बेरी,
पाँयनि बन्धन दोऊ कोउ मानौ बहुतेरी।
ऊँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग,
प्रेम-बिना सब पचि मरै, विषय-वासना-रोग।
सखा सुन स्याम के ॥१६॥

शब्दार्थ :—बेरी—बेड़ी, भोग—नर्क-यातना—भोग, बहुतेरी—अधिक, बहुत।

भावार्थ :—पाप-पुण्य—कर्म-बंधन मात्र हैं, महत्वपूर्ण नहीं, कर्म से ही स्वर्ग और नर्क मिलता है, और बिना हरि-प्रेम के विषय-वासना नाश कर देते हैं।

अर्थ :—कर्म चाहे पाप हो या पुण्य, हैं दोनों निदान लोहे और सोने की बेड़ी ही, कर्म एक बंधन है जिससे पद बद्ध हो जाते हैं। अब कोई कर्म को कितना ही अधिक क्यों न माने, किन्तु बात है यही। कर्म से ही स्वर्ग और कर्म से ही नर्क-यातना का भोग मिलता है। किन्तु प्रेम ऐसा नहीं, प्रेम के बिना विषय-वासनादि के रोग घातक होते हैं।

नोट :—गोपियाँ कर्म-वाद के विरुद्ध कहती हैं कि कर्म दो प्रकार के हैं, एक पाप (नीच) और दूसरा पुण्य (ऊँचा) कर्म, इन्हीं को धर्माधर्म भी कहते हैं। किन्तु हैं दोनों ही बंधन-रूप, बंधन चाहे लोहे का हो या सोने का, बंधन या बेड़ी होकर है बस दुःखद

और स्वतंत्रता-नाशक ही। मुक्ति, सद्‌गति और ब्रह्म-लोक की प्राप्ति के विरुद्ध वे कहती हैं कि कर्मों का इनसे सम्बन्ध ही नहीं, वरन् स्वर्ग और नर्क की प्राप्ति से है तथा विषय-वासनादि के रोगों से है। प्रेम अमृत है, रोग-नाशक है और अक्षय संजीवन शक्ति देने वाला है। कर्म मृत्युकारक और रोग-कारक है, स्वर्ग ले जाने वाला कर्म भी मृत्युकारक और भोग देने वाला रोग-कारक है। प्रेम शुद्ध और सात्विक हो वैषयिकता से रहित और सुधा सा जीवनदायक है। इससे गोपियों ने अपने सात्विक प्रेम को व्यंजित किया है। अब उद्धव उत्तर में कहते हैं :—

कर्म बुरे जो होंय जोग काहे को धारैं,
पद्मासन धरि साँस रोकि इन्द्रिन को मारैं।
ब्रह्म अगिन-जरि सुद्ध ह्वै, सिद्धि-समाधि लगाय,
लीन होय सायुज्य मैं, जोतिहिं जोति समाय।
सुनो ब्रजनागरी ॥१७॥

शब्दार्थ :—पद्मासन—योग में एक शरीर स्थिति, मारैं—दमन करें, सायुज्य—ब्रह्म में लीन होने की दशा रूपी एक मुक्ति।

भावार्थ :—योग एक कर्म है जिससे सायुज्य मोक्ष प्राप्त हो ब्रह्म-ज्योति से आत्म-ज्योति का मेल होता है, अतः कर्म बुरा नहीं।

अर्थ :—यदि कर्म बुरा हो, तो योग-रूपी कर्म क्यों किया जाय। पद्मासन लगाकर इंद्रिय-दमन कर ब्रह्माग्नि में जल शुद्ध होते हुए सिद्धि के लिये समाधि लगाकर सायुज्य मोक्ष में पहुँच ज्योति में लय होना योग-कर्म से ही सम्भव है।

नोट:—उद्धव का तर्क यहाँ सुन्दर युक्ति-संगत नहीं, कर्म-योग को वे योग-कर्म कह रहे हैं, यद्यपि दोनों में अन्तर है।

इस प्रकार वे कर्म-क्षेत्र से हट योग-क्षेत्र में जा रहे हैं, यह विषयान्तर-दोष (Fallecy of turning the Point) है। यहाँ उन्होंने योग के आसन, समाधि आदि प्रमुख अंगों का निरूपण किया है। साथ ही ब्रह्म को अग्नि और आत्मा का शोधक कह फिर ज्योति-रूप कहा गया है, यह भी आत्म-ज्योति के लय-स्थान के रूप में, अतः वही ब्रह्म साधन और साध्य दोनों है। यह स्थिति तर्क-संगत नहीं। गोपियाँ मोक्ष को कुछ मानती ही नहीं, किंतु उद्धव यह मान लेते हैं कि मोक्ष श्रेष्ठ है और तत्साधक कर्म भी इसी से श्रेष्ठ हैं। यह भी तर्क-दोष है, क्योंकि इसमें साध्य को सिद्ध मान लिया गया है। उद्धव का उद्देश्य योग-साधना को वल देना ही है। अब इस पर गोपिकायें कहती हैं।

जोगी जोतिहिं भजैं भक्ति निज रूपहिं जानैं,
प्रेम-पियूषै प्रगटि स्याम सुन्दर उर आनैं।
निरगुन गुन जो पाइये, लोग कहैं तौ नाँहि,
घर आयौ नाग न पूजिये, बाँबी पूजन जाँहिं।
सखा सुन स्यामके ॥१८॥

शब्दार्थ :—जोतिहिं—ब्रह्म-ज्योति, भजै—सेवते हैं, रखते हैं।

भावार्थ :—योगी ज्योति को भजते हैं, भक्त निज रूप को ही जानता है, वह प्रेम से हरि को हृदय में रखता है। निर्गुण को सगुण रूप में पाकर भी लोग नहीं मानते और उसकी खोज करते हैं।

अर्थ :—ज्योति (ब्रह्म—ज्योति) को योगी सेवते या रखते हैं, भक्त तो अपने (अपने अभीष्ट रूप और हरि-रूप) को ही जानता है और प्रेमामृत प्रगट कर हरि को हृदय में ले आता है। निर्गुण को सगुण रूप में पाकर भी लोग नहीं मानते,

और उसकी खोज में जाते हैं, जैसे घर आये हुए नाग को न पूज कर लोग बाँबी के पूजने को जाते हैं।

नोट :—ब्रह्म-ज्योति का कोई रूप न होने से उद्धव ने नाम पर बल दिया, तब गोपियाँ रूप को उठाती हैं और कहती हैं कि जोगी ज्योति सेवें या रटें (भजै-पद श्लेष से क्या ही सुन्दरभाव व्यंजित करता है) भक्त तो अपने अभीष्ट हरि-रूप को ही जानते हैं। प्रत्यक्ष उसे ही देखते हैं, अतः उनका पक्ष मान्य है, योगियों का आनुमानिक और औपमानिक ब्रह्म-पक्ष मान्य नहीं। योगी तो अपने को ब्रह्म-ज्योति तक ले जाते हैं, किन्तु भक्त हरि को ही प्रेम के द्वारा अपने हृदय में ले आते हैं, प्रेम से भगवान वहीं प्रगट होते हैं :—"प्रेम ते प्रगट होहिं भगवाना", अपने उर में लाकर अपना अभीष्ट वे अधिक सुविधा से पूरा कर सकेंगे—ब्रह्म के पास जाकर उसे पूरा करने की अपेक्षा। गोपियाँ यह भी मानती हैं कि भगवान हैं निर्गुण, किन्तु वे सगुण होकर आते हैं, और सब को (लोक को) सुलभ होते हैं, किंतु लोग उस सगुण रूप को नहीं मानते (कि वह निर्गुण ब्रह्म ही सगुण हुआ है) तब उन पर यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है। इससे विश्वासाभाव योगियों में दिखाया गया है, वे सगुणभूत निर्गुण रूप में विश्वास नहीं करते। अंतिम पंक्ति में अज्ञानता भी ध्वनित होती है। गोपियाँ प्रत्यक्ष पर ही बल देती हैं। 'निज रूपहिं' पद द्वयार्थक है, अपना रूप और स्वाभीष्ट हरि-रूप दोनों को प्रगट करता है, भक्त दोनों को जानकर हरि-रूप को प्रेम से उरान्तर्गत कर लेता है। सारी पदावली चातुर्य-चारुतामयी और विशद व्यंजक है। अंतिम पंक्ति में दृष्टान्ताभासयुक्त लोकोक्ति है। यहाँ निर्गुण-सगुण दोनों रूप ब्रह्म के सूचित किये गये हैं, साथ ही प्रत्येक भक्त के अपने एक अभीष्ट हरि-रूप के रखने की भी सूचना दी गई है।

जो उनकैं गुन होयं वेद क्यौं नेति बखानैं,
निरगुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख सानै।
वेद-पुराननि खोजि कै, पायौ किनहुँ न एक,
गुनहीं कै गुन होहिं तौ, कहि अकास केहि टेक।
सुनौ व्रजनागरी ॥१६॥

शब्दार्थ :—नेति—न+इति—यह नहीं, जिसकी इति न हो।

भावार्थ :—उस हरि या ब्रह्म के गुण नहीं, क्योंकि वेद उसे नेति कहते हैं। वेद-पुराण में उसका एक भी गुण नहीं मिलता, वही निर्गुण सगुण आत्मा को रचकर उस पर सुख रखता है।

अर्थ :—यदि उनके (हरि या ब्रह्म के) गुण हों तो वेद उन्हें नेति क्यों कहें। अतएव वह निर्गुण है, वही निर्गुण सगुण माया रच उस पर सुख का आरोप करता है। वेद और पुराणों में खोजने पर भी किसी ने भी एक भी गुण उसमें नहीं पाया। यदि गुण-हीन के गुण हों तो कहो आकाश का आधार क्या है। उद्धव का यह कथन स्पष्ट नहीं, अस्तव्यस्त है।

नोट :—यह छंद स्पष्ट भाव नहीं प्रगट करता। सम्भवतः उद्धव से उपयुक्त उत्तर के न मिलने की व्यंजना के देने के लिये ऐसा असम्बद्ध उत्तर दिलाया गया है। वेद ब्रह्म की स्वीकार-सूचक परिभाषा न देकर अस्वीकार-सूचक परिभाषा, यह नहीं, यह नहीं, कहता हुआ देता है, अथवा उसे वेद, अनन्त (इति-रहित) मानता है। प्रथम भाव कुछ ठीक लगता है, यदि ब्रह्म कोई भी वस्तु नहीं, तब उसमें गुण नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्येक लौकिक वस्तु गुण-युक्त है और वह ब्रह्म कोई वस्तु है नहीं। उस निर्गुण को सगुण केवल आतमा (सर्वथा तम-

युक्त माया या अविद्या) बनाती है और ऊपर से सुख मानती है, अविद्या उसे सगुण रूप देकर उसके जान लेने और प्राप्त कर लेने का विचार कर सुख मानती है । अथवा वह निर्गुण सगुणात्मक आत्मा को (या माया को) रच-कर उसके ऊपर आप सुखानुभव करता है। अथवा आतमा (आत्मा या अविद्या) निर्गुण-सगुण का भेद रच कर उस कल्पना से सुखानुभव करती है। निर्गुण ब्रह्म में गुण का भाव वेद-पुराणों ने भी खोज कर नहीं पाया, या वेद-पुराणादि में खोजने पर उसमें एक भी गुण नहीं मिलता, वेदादि प्रमाण हैं, तब वह निर्गुण ही सिद्ध होता है। गुन ही पद गुण हीन का संक्षिप्त रूप भी है और न वर्ण के स्थान पर अनुस्वार करके बनाया गया है। यह उर्दू में भी होता है, जैसे मकान के स्थान पर मकां, जहान के लिये जहाँ। यदि गुण-हीन के भी गुण हों अर्थात् अभाव से भी भाव हो (आधार के बिना आधेय हो) तो आकाश की टेक (उसके आधार) क्या होगी, आकाश आधार-रहित है। भाव सर्वथा स्पष्ट नहीं, तो भी इस प्रकार इसे लेने से युक्ति-संगत जान पड़ता है । अब गोपियाँ इसके उत्तर में कहती हैं।

जो उनकेँ गुन नाँहि और गुन भये कहाँ तें,
बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहौ कहाँ तें।
वा गुन की परछाँह री, माया-दरपन बीच,
गुन तैं गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच।
सखा सुन स्याम के॥२०॥

शब्दार्थ :—सरल-स्पष्ट है।

भावार्थ :—गुणाभाव से गुण का भाव कैसे होगा, माया-दर्पण में गुण की छाया ही लौकिक गुण रूप है।

अर्थ :—यदि उन (हरि या ब्रह्म) के गुण नहीं तो अन्य

(लौकिक) गुण कहाँ से हुए, क्योंकि बीज के विना तरु नहीं जमता या होता। उस गुणमय के दिव्य गुणों की छाया ही माया-दर्पण पर पड़ लौकिक गुण प्रगट करती है। यों गुण से गुण का पृथक भाव आता है, जैसे निर्मल जल और कीचड़ युक्त-जल, तत्वतः एक हैं किन्तु मल-वशात् पृथक होते हैं।

नोट :—तर्क ठीक नहीं, संसार को गुण-युक्त मान कर तर्क वढ़ाया गया है, यह तव तक मान्य नहीं, जव तक सिद्ध न कर दिया जाये। इसे वीजांकुर-न्याय से सिद्ध किया गया है और कार्य-कारण-भाव को भी व्यंजित किया गया है। "नाभावस्य भावः विद्यते" के आधार पर अभाव से भाव नहीं होता, कार्य विना कारण के नहीं; अतएव लौकिक गुण अवश्यमेव उत्पन्न हुए हैं सगुण ब्रह्म से, न कि निर्गुण ब्रह्म से। यह ठीक है कि लौकिक गुण ब्रह्म के गुणों से तत्वतः (मूलतः) तो नहीं, केवल विकार-वशात् भिन्न या पृथक हैं, वे केवल माया पर पड़े हुए प्रतिविम्व के रूपों में ही हैं। यहाँ प्रतिविम्ववाद का आभास है, सगुण-संसार माया-दर्पण पर पड़े हुए सगुण ब्रह्म का प्रतिविम्व ही है। किन्तु इसी प्रकार उससे पृथक है जैसे कीचड़-गत जल निर्मल जल से भिन्न लगता है, तत्वतः दोनों एक ही हैं। यहाँ संसार और माया का अस्तित्व विना सिद्ध किये ही मान लिया गया है, किन्तु गोपियाँ तो ऐसा मानती ही हैं। उद्धव अब इसका उत्तर यों देते हैं।

माया कैं गुन और और हरि कैं गुन जानौ,
उन गुन कौं इन माँहि आनि काहे कौ सानौ।
जाके गुन अरु रूप कौ, जानि न पायौ भेद,
तातैं निरगुन रूप कौ, वदत उपनिषद्-वेद।
सुनौ ब्रजनागरी ॥२१॥

शब्दार्थ :—वदत—कहता है (सं० रूपवदति)।

भावार्थ :—ब्रह्म और माया के गुण पृथक पृथक हैं, ब्रह्म के रूप-गुण का भेद वेदादि भी नहीं जान पाते, अतएव उसे वे निर्गुण मानते हैं।

अर्थ :—माया के गुण तो दूसरे हैं और हरि के गुण उनसे पृथक हैं। माया के गुणों को हरि के गुणों में क्यों मिलाती हो। उस (हरि या ब्रह्म) के रूप और गुणों के भेद (मर्म, रहस्य या अन्तर) को वेदोपनिपद् भी नहीं जान पाते, इसलिये उसे निर्गुण-रूप ही वे कहते हैं।

नोट :—उद्धव ने यहाँ माया की सत्ता स्वीकार ही कर ली है, अतः सांख्य दर्शन का विचार यहाँ व्यंजित होता है। और द्वैतवाद का प्रभाव या आभास जान पड़ता है। तर्क समीचीन नहीं। चूँकि वेदादि हरि के रूप-गुण का भेद नहीं जान पाते इसलिये वे उसे निर्गुण रूप में मानते हैं। यह तर्क ठीक नहीं, किसी वस्तु को न जान कर उसके विषय में कोई अनुमान पक्का कर लेना ठीक नहीं, और वह अज्ञान से लिप्त अनुमान मान्य भी नहीं, साथ ही उद्धव हरि को या तो ब्रह्म मानते हैं या ब्रह्म से पृथक जानते हैं, दोनों दशायें ठीक नहीं, ब्रह्म से पृथक मानने पर तो तृक वाद, अन्यथा द्वैतवाद ठहरता है, दोनों उद्धव के लिये मान्य नहीं। और और पदों में पदार्थावृत्ति दीपकालङ्कार है। इसी प्रकार गुन पद में भी यही अलंकार है।

वेदहु हरि कै रूप स्वास मुख तें जौ निसरै,
कर्म क्रिया-आसक्ति सबै पाछिल सुधि बिसरै।
कर्म - मध्य ढूँढ़ै सबै, किनहुँ न पायौ देख,
कर्म-रहित ही पाइये, तातैं प्रेम विसेष।
सखा सुन स्याम के ॥२२॥

शब्दार्थ :—निसरै—निकले, पाछिल—पिछली, किनहुं—किसी ने।

भावार्थ :—हरि-निश्वास-जन्य वेद भी हरि के रूप हैं। कर्म-क्रिया की आसक्ति से पूर्व-स्मृति विस्मृति में बदल जाती है। कर्म में उसे ढूँढ़ते हुए किसी ने भी नहीं पाया, कर्म-रहित ही होने से वह मिलता है, अतः प्रेम ही ज्ञान-कर्म-योग की अपेक्षा अधिक समीचीन है।

अर्थ :—वेद भी हरि के ही रूप हैं, क्योंकि वे उनके मुख की श्वास से निकले हैं। कर्म-क्रिया-आसक्ति से आत्मा को (हरि की) पूर्व स्मृति की विस्मृति हो जाती है। कर्म के बीच में खोज़ते हुए किसी ने उसे देख नहीं पाया, कर्म-रहित होकर ही उसे पा सकते हैं, अतएव प्रेम ही कर्म की अपेक्षा विशेष है।

नोट :—उद्धव से गोपियाँ कहती हैं कि वेद हरि-मुख-श्वास-जन्य हैं, अतः उनका क्या प्रमाण माना जाये, यह ध्वनि निकलती है, अथवा वेद भी हरि के रूप हैं, तब भी द्वैतापत्ति आती है। वे फिर उनके कर्म-योग को अन्यथा करती हुई कहती हैं कि कर्म-क्रियासक्ति से ही आत्मा को (हरि और ब्रह्म की) पूर्व स्मृति अपनी भूल जाती है और वह अपने को अन्यथा जानने लगता है। कर्म-योग में ब्रह्म का किसी को भी कहीं प्रत्यक्ष नहीं हुआ, कर्म-रहित होने तथा प्रेम-योग में आने से प्रत्यक्ष होता है। अतः प्रेम-योग अपेक्षाकृत विशेष है। इससे प्रेम में निष्कामता के होने का भाव भी व्यंजित है, साथ ही कर्म निष्कामता के कारण कर्म भी नहीं। प्रेम कर्म-क्रिया-रहित निष्काम भाव मात्र है, अतः ईश्वर भाव-गम्य है, कर्म-प्राप्त नहीं। कर्म-योग में भी निष्काम कर्म का उपदेश है। गोपियाँ बराबर प्रत्यक्ष को ही मानती हैं। कर्म की ही आसक्ति से आत्मा-परमात्मा का भेद-भाव उठता है, आत्मा अपने पूर्व रूप को भूल ब्रह्म से अपने को पृथक् मानने लगता है। अब उद्धव का उत्तर है।

प्रेम जो कोऊ वस्तु रूप देखत लौ लागै,
वस्तु-दृष्टि बिन कहौ कहा प्रेमी अनुरागै।
तरनि चन्द कै रूपकौ, गुन नहि पायौ जान,
तौ उन कौ कह जानिये, गुनातीत भगवान।
सुनौ व्रजनागरी ॥२३॥

शब्दार्थ :—लौ=लव-लग्न, ज्योति, अनुरक्ति। तरनि—सूर्य, नौका।

भावार्थ :—प्रेम रूप-दर्शन-जन्य अनुरक्ति है, प्रत्यक्ष वस्तु के बिना यह हो नहीं सकती, सूर्य और चन्द्र के रूप-गुण को तो हम जान नहीं पाते, तब गुणातीत ईश्वर को कैसे जान पा सकते हैं।

अर्थ :—प्रेम तो किसी वस्तु के प्रत्यक्ष रूप-दर्शन से उत्पन्न अनुरक्ति है। बिना प्रत्यक्ष वस्तु को देखे प्रेमी किसमें अनुराग रक्खे। 'सूर्य-चन्द्र' के रूप-गुण का ज्ञान तो हो ही नहीं पाया, तब गुणातीत ब्रह्म को कैसे जाना जा सकता है।

नोट :—उद्धव यहाँ एक प्रकार से विशिष्टाद्वैत का विचार रखते हैं। वे जीव या आत्मा की सत्ता को स्वीकार सा कर लेते हैं। प्रेम-योग का खंडन करते हुए वे कहते हैं कि प्रेम के लिये प्रत्यक्ष रूप-गुण का देखना अनिवार्य है, क्योंकि प्रेम रूप-दर्शन-जन्य अनुरक्ति या लव ही है। यही प्रेम की परिभाषा है। किन्तु ब्रह्म या हरि रूप-गुण-रहित है, अतः प्रत्यक्ष दृष्टिगत नहीं, तब प्रेम के पात्र और प्रेम से प्राप्त नहीं। सूर्य और चंद्र के, जो प्रत्यक्ष हैं, रूप-गुण का ज्ञान तो होता नहीं, जिनके रूप-गुण प्रत्यक्ष हैं, तब गुणातीत ब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा। इससे ब्रह्म का अज्ञेय होना भी ध्वनित होता है। गुणातीत का अर्थ कई प्रकार से हो सकता है, गुणों की अति इति वाला अर्थात् जिसमें सब गुण अपनी चरम सीमा को पहुँच चुके हों, जो पूर्ण

गुण-युक्त हो, अथवा जो गुणों से (अतीत—भूत, विगत, पूर्ण समाप्ति) परे हो, जहाँ गुणों की पूर्ण इति हो, वहां तक तो विश्व-माया है, उससे आगे ब्रह्म है, अतः निर्गुण-रूप है। अथवा जिसमें गुणों की पूरी समाप्ति हो, अतः जो सर्वथा सगुण हो। चंद्र और सूर्य व्यंजक प्रतीक पद हैं, चंद्र तो हृदय या मन को और सूर्य ज्ञान या मस्तिष्क को सूचित करता है, वेद में इन्हें ईश्वर के मन और नेत्र या चक्षु कहा गया है—"चन्द्रमा मनसो जातः चक्षुः सूर्योऽजायत्" अर्थात् बोध और भावना दोनों से गुणातीत के रूप-गुणादि का ज्ञान नहीं होता, जब इन्हीं दोनों के रूप-गुणों का ज्ञान नहीं हो पाया तब ईश्वर तो इनसे भी परे हैं। भावना-सम्बधी है प्रेम और बोधवृत्ति-सम्बन्धी है ज्ञान-योग, दोनों ही से ब्रह्म ज्ञेय नहीं। यह अज्ञेयवाद हुआ। प्रत्यक्ष वस्तु के बिना प्रेम नहीं, ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं, अतः प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता, वह ज्ञान और भावना दोनों से भी प्राप्त नहीं, वह अज्ञेय है। यह पक्ष उद्धव के सिद्धान्तानुकूल नहीं, वे ब्रह्म को अज्ञेय नहीं मानते या यहां खंडनार्थ ही यह दिखाया गया है। तात्पर्य यह है कि अधिक तर्क से वह अज्ञेय हो जाता है। गोपियाँ अब उत्तर देती हैं।

तरनि, अकास, प्रकास तेजमय रह्यौ दुराई,
दिव्यदृष्टि बिन कहौ कौन पै देख्यौ जाई।
जिनकी वे आँखें नहीं, देखें कब वह रूप,
तिन्हें साँच क्यों ऊपजें, परे कर्म्म के कूप।
सखा सुन स्याम के ॥२४॥

शब्दार्थ :—तरनि—सूर्य, दुराई—छिपना।

भावार्थ :—सूर्य, आकाश और प्रकाश उसके तेजोमय रूप में लुप्त हो जाते हैं, वह बिना दिव्य दृष्टि के प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, दिव्य-दृष्टि-हीन उसे न देख सत्य ज्ञान-रहित हो कर्म-कूप में पड़े रहते हैं।

अर्थ :—सूर्य, आकाश और प्रकाश उस तेजोमय ब्रह्म में लुप्त रहते हैं, ऐसे महान् तेजोमय रूप को दिव्य दृष्टि से ही देख सकते हैं बिना उसके नहीं, जिनके ऐसी दिव्य दृष्टि-युक्त आँखें नहीं वे उस रूप को कब देख सकते हैं, और उन्हें सत्य का ज्ञान कैसे हो सकता है, ऐसी दशा में वे कर्म-कूप (संसार) में पड़े रहते हैं। दिव्य दृष्टि में ज्ञान-दृष्टि की भी ध्वनि है।

नोट :—प्रकाश और तेज में अन्तर है, तेज का फल प्रकाश है, आकाश भी तेज का ही एक रूप है, सूर्य उसका स्थूल रूप है, यह सब तेजमय ब्रह्म में विलुप्त हो जाते हैं, इतना अधिक प्रकाशवान वह है, अतः दिव्य दृष्टि के बिना वह देखा ही नहीं जा सकता, योग और ज्ञान की दृष्टि से काम नहीं चल सकता, इससे यह व्यंजित है कि तुम्हें तो वह न दीखेगा, किन्तु हमें दीखता है, क्योंकि हमें दिव्य दृष्टि (हरि-कृपा से) प्राप्त है। बिना उस रूप को देखे उसकी साकारता की सत्यता कैसे प्रगट होगी, कर्म-योग से यह संभव नहीं; कर्म तो कूप सा अंधकार-पूर्ण है। कर्म कूप है, जिससे बाहर निकलना कठिन है, इसी प्रकार कर्म और कर्म-विपाक में पड़े रहने से उससे बाहर निकल कर मुक्त होना संभव नहीं। अब उद्धव कहते हैं।

जब करिये नित कर्म भक्तिहू जामैं आई,
कर्म-रूप तैं कहौ कौन पै छूट्यौ जाई।
क्रम क्रम कर्म सबहि कियैं, कर्म नास ह्वै जाय,
तब आतम निहकर्म करि, निरगुन ब्रह्म समाय।
सुनौ ब्रजनागरी ॥२५॥

शब्दार्थ :—निहकर्म—निष्कर्म, कर्म-रहित।

भावार्थ :—भक्ति भी कर्म ही है, कर्म से मुक्त होना सम्भव

नहीं, कर्म से कर्म का नाश कर निष्कर्म आत्मा निर्गुण ब्रह्म में लय हो जाता है।

अर्थ :—नित्य ही कर्म करना पड़ता है, भक्ति भी कर्म के ही अंतर्गत है, कर्मरूपी बंधन से कहो कौन छूट पाता है। कर्म करने से ही कर्म का नाश होता है, तब आत्मा निष्कर्म हो निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है।

नोट :—उद्धव कहते हैं कि कर्म में भक्ति भी है, कर्म से मुक्त होना कठिन है, कर्म से ही कर्म का नाश होता और निष्कर्मता प्राप्त होती है, जिससे ब्रह्म में आत्मा लय हो जाता है। इसलिये कर्म-योग ही ठीक है। तब गोपियां कहती हैं।

जौ उनकै नहिं कर्म कर्म-बन्धन क्यों आवै,
तौ निरगुन ह्वै वस्तु मात्र परमान बतावै।
जौ उनकौ परमान है, तौ प्रभुता कछु नाँहि,
निरगुन भये अतीत कै, सगुन सकल जग माँहि।
सखा सुनि स्याम के ॥२६॥

शब्दार्थ :—अतीत—योगी, विगत ब्रह्म,।

भावार्थ :—कर्म-रहित हो हरि कर्म-बन्धन में क्यों आते हैं, निर्गुण होकर ब्रह्म परिमाणमय वस्तु होगा, और ऐसा होने पर तत्प्रभुता न रहेगी, निर्गुण होने पर सगुण विश्व कैसे होगा या सगुण विश्व में वह निर्गुण कैसे व्याप्त होगा।

अर्थ:—यदि हरि के कर्म नहीं, तो वे कर्म-बंधन में कैसे आ गये, यदि वह निर्गुण है तो कैसे पदार्थों; तन्मत्राओं और परिमाणुओं को बनाता है, या उसे वस्तु, मात्रा और परिमाणु में कैसे बताते हैं, यदि हरि का परिमाण है तो उनकी प्रभुता अथवा विभुता कुछ नहीं रहती। उनके निर्गुण होने सगुण विश्व में उनकी व्यापकता कैसे होगी।

नोट :—यह छंद कुछ अस्पष्ट सा है। तात्पर्य यह जान पड़ता है कि यदि उस जगकारण में कर्म नहीं तो कर्म का वन्धन कहाँ से आया, अथवा वह कर्म-बंधन में कैसे आता है, और यदि निगु न होकर वह सब वस्तुओं में व्याप्त है तो वस्तुओं के साथ उसका भी परिमाण होगा, जिससे उसकी प्रभुता या महानता न रह सकेगी, वह सीमित हो जायगा, असीम और अनन्त न रहेगा, साथ ही वह निगु ण होकर सगु ण विश्व में कैसे व्याप्त हो सकेगा, क्योंकि व्याप्त होने पर तो वह भी सगु ण ही होगा। गोपिकायें यहां केवल शंका-सम्बन्धी प्रश्न ही उद्धव से करती हैं।

जो गुन आवैं दृष्टि माँझ नस्वर हैं सारे,
वे सब इन तैं वासुदेव अच्युत हैं न्यारे।
इन्द्री-दृष्टि-विकार तैं, रहित अधोच्छज जोति,
सुद्ध सरूपी जान जिय, तृप्ति जु तातैं होति।
सुनौ व्रजनागरी ॥२७॥

शब्दार्थ :—अच्युत—अक्षर, अनश्वर, अधोक्षज—उत्पन्न

भावार्थ :—दृष्ट गु ण नश्वर हैं, वासुदेव इन सब से परे हैं, इन्द्रिय-विकार-रहित ज्योति - स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है।

अर्थ :—जो गु ण दृग्गत होते हैं वे सब नश्वर हैं और इसीसे ईश्वर के गुण नहीं, वह अनश्वर है। अच्युत वासुदेव इन सब गुणों से पृथक या परे हैं। वह इन्द्रिय-दृष्टि-विकार से रहित अधोक्षज ज्योति-स्वरूप हैं, उस शुद्ध ज्ञान-स्वरूपी ब्रह्म की प्राप्ति से ही तृप्ति होती है।

नोट :—इस छंद में बहुत भाव-गाम्भीर्य है। दृष्टिगत से तात्पर्य प्रत्यक्ष से है। प्रत्यक्ष गुण नाशवान हैं और ईश्वर ऐसा नहीं, इसी से प्रत्यक्षभूत गुण ईश्वरीय गुण नहीं हैं, ईश्वर

इनसे परे हैं और अच्युत (न गिरने या नाश होने वाला, अवतार रहित, अवतार का मूल अर्थ है अधः पतन, "अवतारः अधः पतनम्") इन्द्रियों और दृष्टि में विकार होने से वह सगुण और साकार दीखता है, वह ज्योति-स्वरूप, अथवा वह इन्द्रिय और दृष्टि तथा इनके विकार से रहित अधोक्षज ज्योति है। शुद्ध स्वरूप (अपने रूप में रहने वाला) है, हृदय में ऐसा जान लेने पर ही तृप्ति होती है। अथवा, उन्हीं को स्वरूप का शुद्ध ज्ञान प्राप्त है, अन्य को नहीं, इसमें अन्य जनों के लिये ब्रह्म की अज्ञेयता सूचित की है, जैसा प्रथम कह चुके हैं, या उसे शुद्ध स्वरूप-ज्ञान प्राप्त कर के ही तृप्ति होती है, अर्थात् यह जान लेने पर कि वह शुद्ध है, तथा स्वरूप या ज्ञान-रूप-युक्त है, तृप्ति या मुक्ति होती है। ऐसा ज्ञान ही तृप्ति-कारक है। अब गोपियाँ कहती हैं।

नास्तिक जेहैं लोग कहा जानै हित - रूपै,
प्रगट भानु को छाँड़ि गहैं परछाँही धूपै।
हमरे तो वहि रूप बिन, और न कछू सुहाय,
ज्यों कर-तल आमलक कैं, कोटिक ब्रह्म दिखाय।

सखा सुन स्याम के ॥२८॥

शब्दार्थः—नास्तिक=न+आस्तिक (अस्ति+का=होती है, आस्तिक) उपस्थिति को न मानने वाला, ईश्वर और वेद को न मानने वाल, ईश्वरास्तित्व—विरोधी) हित=कल्याण (निज पाठ भी है)।

भावार्थः—नास्तिक ईश्वर का हित-कारक रूप नहीं जानते, प्रत्यक्ष रवि को छोड़ वे धूप को पकड़ते हैं। हमारे लिये तो यही रूप है, बिना इसके हमें और कुछ अच्छा ही नहीं लगता, और ब्रह्म ऐसा आभासित होता है जैसे कर-तल-गत आँवला।

अर्थः—जो लोग नास्तिक हैं वे हरि का हित (प्रेम, मंगल - मय, मुक्त) रूप क्या जाने। वे प्रत्यक्ष सूर्य को छोड़

उसके प्रतिविम्ब - रूप धूप को ग्रहण करते हैं। हमें तो हरि की वही प्रेममय - मंगल मूर्ति अच्छी लगती है और कुछ भी नहीं, उसके प्रभाव से कोटिक ब्रह्म करतल-गत आँवले से लगते हैं। "सर्व खल्विदं ब्रह्म' होने से सभी रूप ब्रह्म मय हैं, उस हरि-रूप से यह सब रूप भी दीखते हैं, अर्थात् हमें विराट्मूर्ति भी दीखती है।

नोट:—गोपियाँ कहती हैं कि नास्तिक लोग भगवान की मंगल-मूर्ति को क्या जानें। हित पद से हरि का मोक्ष-स्वरूप, प्रेम-रूप अथवा कल्याण-रूप व्यंजित है। कहीं निज पाठ भी है, तब तात्पर्य होगा, आत्म-रूप या निज-रूप से, नास्तिक दोनों को कुछ नहीं मानते। द्वितीय पंक्ति में लोकोत्तथायेभास है, जिससे व्यंजित है कि वे प्रकट प्रकाश (प्रकाश-स्वरूप ज्ञान या ईश्वर का प्रतीक भानु) या ज्ञान को छोड़ छांह (प्रतिविंब-रूप अज्ञान या तमस गुण) को ग्रहण करते हैं। धूप पद प्रतिविम्ब-रूप का सूचक है, सत्य प्रकाश का नहीं, भू पै पाठ से पृथ्वी पर फैले तमस मय अज्ञान से तात्पर्य होगा। गोपियाँ कहती हैं कि हमें हरि का हित-रूप, जो प्रत्यक्ष भानु या ज्ञान-रूप है, अच्छा लगता है और कुछ नहीं और उसके प्रभाव से कोटिक ब्रह्म करतल-गत आमलक से प्रगट होते हैं। चतुर्थ पंक्ति में भी ज्ञान-वाद का प्रचलित प्रयोग है। उदाहरणालंकार है।

ऐसैं मैं नन्दलाल - रूप नैननि कैं आगे,
आय गयौ छवि छाय बने पियरे उर बागें।
ऊधौं सौं मुख मोरिकै, कहि कछु उन तैं बात,
प्रेम-अमृत मुख तैं स्रवत, अम्बुज नैन चुचात।
तरक रस-रीति की ॥२६॥

शब्दार्थ:—पियरे—पीले, पीत, बागे—वस्त्र विशेष, स्रवत—बहता है, चुचात - चूता है, तरक—ढंग।

भावार्थ :—इस समय गोपियों को कृष्ण-रूप का स्मरण आ गया, बस गोपियाँ उद्धव से मुख मोड़ उसी मूर्ति से सजल नेत्रों और प्रेमामृत-पूर्ण मुख से कुछ कहने लगीं।

अर्थ—ऐसे ही में गोपियों के आगे श्रीकृष्ण का वह रूप छबीले पीत वसनों के साथ आ गया, बस वे उद्धव की ओर से मुख फेर कर उसी मूर्ति से कुछ कहने लगीं। उनके मुख से प्रेमामृत रसने लगा और उनके कमल-नेत्रों से अश्रु चूने लगे। यही रस-रीति का नियम है।

नोटः—यहाँ उद्धव-गोपी-संवाद समाप्त हो गया। हरि-रूप का गोपियों के नेत्रों के समक्ष प्रगट होना दो भाव सूचित करता है, यातो उस रूप की स्मृति के आ जाने से गोपियों के आगे वह रूप आ गया या भगवान उनके प्रेम को देख स्वयमेव उनके आगे उनकी प्रिय मूर्ति के साथ प्रकट हो गये। उद्धव के लिये वे अप्रगट ही रहे, क्योंकि वे उन्हें देखना ही न चाहते थे, उन्हें उनका स्मरण ही न आया था, वे ज्ञान-ध्यान और गोपियों के तर्क-विचार में लगे थे। बस गोपियाँ सब भूल उद्धव को छोड़ उसी रूप से प्रेम के साथ सजल नेत्रों से कुछ कहने लगीं। यहाँ ध्यान-स्मृति का बल व्यंजित है, तथा—"ये यथा मामृप्रपद्यंते तान्स्तथैव भजाम्यहम्" की भी ध्वनि है, साथ ही "मद्भक्ता-यत्रगायंति तत्र तिष्ठामि भारत" की भी व्यंजना है। यह छंद कवि-उक्ति के रूप में है। टेक से व्यंजित है कि यही रस-रीति के तर्क (ज्ञान—सतर्कत्ता) का ढंग है। आत्मविस्मृत और हरि-स्मृति ही प्रेम का मर्म और ज्ञान-धर्म या नियम है। सुन्दर भाव-व्यंजक छंद है।

अहो नाथ! हे रमानाथ! जदुनाथ गुसांई!,
नँद-नन्दन बिडरात फिरत तुम बिन सब गाईं।

काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालनि सुख देहु,
दुख-जल-निधि मैं बूड़ही, कर-अवलम्बन लेहु।
निठुर ह्वै कँह रहे ॥३०॥

शब्दार्थ:—गुसाईं—गोस्वामी—इंद्रियों के स्वामी, बिड़रांत—बिललाती, सभीत, काहे—क्यों, यहाँ हे का पाठ लघु-रूप में है।

भावार्थ:—हे नाथ! नंद-नंदन! तुम्हारे बिना गायें वन में बिललातीं और सभीत हो तितर-बितर घूमती हैं तब क्यों फिर कृपालु हो गायों और ग्वालों को सुख नहीं देते तथा हमें दुखाम्बुधि में डूबने से नहीं बचाते, कहाँ निठुर हो रहे हो।

अर्थ:—हे रमानाथ, नाथ! और गोस्वामी यदुनाथ नंद-नंदन! तुम्हारे बिना सब गायें वन में बिललाती हुई सभीत हो अस्तव्यस्त फिरती हैं। तब फिर क्यों कृपालु होकर गायों और ग्वालों को सुख नहीं देते, तथा हमें दुखाम्बुधि में डूबते हुए करावलम्ब क्यों नहीं देते। ऐसे निष्ठुर हो कहाँ रहे।

नोट:—राम-नाथ पद से कृष्ण का विष्णु होना और गोसाईं पद से गोलोक-स्वामी होना स्पष्ट है। गोसाईं से योगेश्वरत्व भी ध्वनित है। द्वितीय पंक्ति में व्याजोक्ति के द्वारा गूढ़ भाव व्यंजित है, गोपद से प्राकृतिक गायों के साथ ही, गोपियों अर्थात उनकी प्रियाओं का भाव व्यंग्य है। गायें तो बिललाती हैं, उनके ही साथ गोपियाँ भी विकल हो वन-वन फिरती हैं। हरि गो-हितकारी हैं, तब कैसे गायों को विकल देख या सुन सकते हैं, यह पंक्ति साभिप्राय है। तृतीय पंक्ति से यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है। चतुर्थ पंक्ति में याचना या प्रार्थना है। कृपालुता हरि का स्वाभावा-सिद्धगुण है, तब निष्ठुरता उनमें कैसे हो सकती है। अब तक वे प्रत्यक्ष न थे, अब ध्यानैकाग्रता से प्रगट हैं, अतः यह उपालम्भ है। सुन्दर भाव-व्यंजना है।

प्रथम हरि की करुणा-कृपा को उद्दीप्त कर आत्म-दशा के प्रकाशन के साथ कृपावलम्बन की मार्मिक याचना की गई है।

कोऊ कहै पिय दरस देहु पुनि वेनु वजावौ,
दुरि दुरि वन की ओट कहा हिय लोन लगावौ।
हम कौ तुम से एक है, तुम कौ हम सी कोरि,
बहुत भाँति कै रावरे, प्रीति न डारौ तोरि।
एक ही बारही ॥२१॥

शब्दार्थ:—मुहावरे का व्यंजक प्रयोग देखिये पूरा मुहावरा है, जले में नमक लगाना, यहाँ जले हुए पद का लोप है, केवल हिय पद दिया गया है क्योंकि हृदय जला हुआ ही है। कोरि—कोटि।

भावार्थ:—कोई गोपी कहती है कि हे प्रिय! हरि-दर्शन दो और वेणु बजाओ, दग्ध हृदय में नमक न लगाओ, हमें तो तुम एक हो, तुम्हें हमारी सी करोड़ों हैं, प्रीति जोड़ कर एक ही बार उसे न तोड़ो।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि हे प्रिय हरि! दर्शन दो, और मुरली बजाओ। वन में छिप-छिप कर क्या ज़ले हृदय पर नमक लगाते हो। अरे! हमारे लिये तो तुम एक ही हो, किन्तु तुम्हारे लिये हमारी सी करोड़ों हैं। प्रीति जोड़कर एक बार में हीं उसे न तोड़ो।

नोट:—वेणु (व+इह+अणु—वह ब्रह्म-नाद जिसके समक्ष यह विश्व भी अणु सा है) या मुरली बजाने की प्रार्थना है, क्योंकि मुरली-मोहिनी अमर-नादानंद है, यही ब्रह्म-नाद है, गोपियां (जो वास्तव में आत्मायें हैं) इसी की उपासिनी हैं, इसी में वे अपने को लय करना चाहती हैं। द्वितीय पंक्ति में सुन्दर व्यंजना है। हिय पद से हृदय की दग्धता का भाव लोन लगाने के सान्निध्य से प्रगट होता है, कितनी सुन्दरता से दग्ध या जले हुए

लोप कर उसे व्यंजित किया गया है। तृतीय पंक्ति में कबीर से भाव-साम्य है :—

"हमसे तुमको बहुत हैं, तुमसे हमको नाहिं ।"

चतुर्थ पंक्ति की तुलना कीजिये :—

"कबहूँ प्रीति न जोरिये, जोरि तोरिये नाहिं ।
ज्यों तोरे, जोरे बहुरि, गाँठ परति गुन मांहिं ।

स्मरण रहे कि गोपियों को ही कृष्ण-चंद्र का प्रत्यक्ष भाव प्राप्त है। उद्धव को नहीं, इससे व्यंजित है कि ईश्वर ज्ञानी योगी को सीधे सीधे प्रत्यक्ष नहीं होता, वरन् प्रेमी भक्त को हो जाता है।

कोउ कहै हो ! दरस देत फिर लेत दुराई,
यह छल-विद्या कहौ कौन पिय तुम्हैं सिखाई ।
हम परबस आधीन हैं, तातैं बोलतिं दीन,
जल बिन कहु कैसे जियैं गहिरे जल की मीन ।
बिचारिय रावरे ॥३२॥

शब्दार्थ :—दुराई—छिपाना, रावरे—आप ।

भावार्थ :—कोई कहती है कि दर्शन देकर आप छिप जाते हो, यह छलछद्म किसने तुम्हें सिखलाया है । हम पर-वश हो दीन वचन कहती हैं और जल-विहीन मीन हो कैसे जीवित रहें, आप ही सोचें ।

अर्थ—कोई गोपी कहती है कि हे प्रिय तुम दर्शन देकर फिर छिप जाते हो। कहो यह छल-विद्या तुम्हें किसने सिखलाई है। हम परवश और पराधीन हैं, अतः दीन वाणी से बोलती हैं। आप ही सोचें कि गहन जल-गता मीन बिना जल के कैसे जीवित रहें।

नोट—प्रथम पंक्ति से भगवान का प्रगट होकर छिपना

वास्तविक घटना के रूप में और इस समय भी यही प्रगट होकर छिपना स्पष्ट है। इस समय इस गोपी के लिये हरि प्रगट हो फिर छिप गये हैं क्योंकि उसके मन में छल का भाव था, अतः उसी भाव के अनुसार हरि उसे प्रगट होते और फिर छिप जाते हैं। किंतु वह कहती है कि ऐसा छल-छद्म आपमें था नहीं, यह किसी ने तुम्हें सिखाया है। सिखाया क्या है, यह उसी का मानसिक छल है। वह कहती है कि हम पर-वश (दूसरे के अर्थात् काम के या शत्रु के वश में हैं, काम बहुत बड़ा शत्रु है—) हैं और आधीन हैं (कामके या आपके-क्योंकि आप हमारे स्वामी हैं)। पर-वश होने से हम दीन वचन बोलती हैं, अन्यथा हम दीन नहीं, तब कैसे दीन वाणी हमारी होती। गोपियाँ अपने को दीन इसलिये नहीं कहतीं क्योंकि दीन होने पर हरि उनके बंधु या नाथ हो जायेंगे—वे उन्हें इन दोनों भावों से नहीं देखतीं, वे देखती हैं उन्हें पति-भाव से। वे हरि के आधीन हैं तब कैसे कोई उन्हें अपने वश में कर ले यह हरि के लिये अशोभित बात है, उन्हें चाहिये कि वे उस पर रूपी काम से उन्हें बचावें, यह अभिप्राय व्यंग्य है। पर-वश हो वे मीन सी जल-विहीन हो मृत - प्राय हैं। जल या रस-रूप (प्रेमानंद-रूप) हरि हैं और गोपियाँ मीन हैं, जो सदा उसी जल में रहती हैं। कितनी सुन्दर भाव-व्यंजना है, सार्थक तथा साभिप्राय पद-प्रयोग है।

कोऊ कहै हो स्याम कहा इतराय गये हौ,
मथुरा कौ अधिकार पाय महराज भये हौ।
ऐसी कछु प्रभुता हुती, जानत कोऊ नाँहि,
अबला-बध सुनि डरि गये, बली डरे जग माँहि।
पराक्रम जानि कै॥२३॥

शब्दार्थ :—इतराय—घमंड करना, हुती-थी।

भावार्थ :—कोई कहती है कि मथुरा का राज्याधिकार पा

और महाराज होकर तुम घमंड करने लगे हो, क्या यह ऐसी प्रभुता थी कि कोई नहीं जानता। अवला-वध सुनकर डर गये, तुम्हारा पराक्रम जानकर वलवान भी संसार में डर रहे हैं।

अर्थः—कोई गोपी कहती है कि हे श्याम! मथुरा का अधिकार पा महाराज होकर आप गर्व कर रहे हैं। क्या यह ऐसी भी कुछ प्रभुता थी, जिसे कोई नहीं जानता। तब अवला का वध सुन कर डर गये, तव पराक्रम जान जग के बली भी डरते हैं।

नोट—हरि पर यहां राज-मद का आरोप किया गया है, इस के पूर्व हरि ने गोपियों को उनके गर्व को दूर करने के लिये त्याग दिया था, अव वे कहती हैं कि वही गर्व तुममें भी है, इसमें "को न राज-पद पाइ नसाई" का आभास है। शेष दो पंक्तियों में व्यंग्य साधारण है। तात्पर्य यह है कि आपने उद्धव को इसलिये भेजा है कि कहीं गोपियां हमारे वियोग से मर न जायें, तो हमें वध का पाप लगे, इससे क्या है, ऐसा भय क्यों, तुम्हारे पराक्रम से तो सभी डरते हैं। ध्यान रहे कि कृष्ण महाराज हुए नहीं, इसमें भी व्यंग्य ही है।

कोऊ कहै हो स्याम! चहत मारन जो ऐसैं,
गिरि गोवर्धन धारि करी रच्छा तुम कैसैं।
व्याल, अनल अरु ज्वाल तैं, राखि लिये सब ठौर,
अब बिरहानल दहत हौ, हँसि हँसि नंदकिसोर।
चोरि चित लै गये ॥३४॥

शब्दार्थ:—व्याल—कालीय नाग, अनल—दावानल, ज्वाल-विष—ज्वाल।

भावार्थ:—यदि ऐसे ही मारना था तो गोवर्धन ले क्यों रक्षा की थी, साथ ही, सर्प, दावानाल, विष-ज्वाला आदि से बचाकर अब हँस हँसकर वियोगानाल में जलाते हो।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि हे श्याम! यदि यों हमें मारना

चाहते हो तो क्यों पहिले गोवर्धन उठाकर हमारी रक्षा की थी। कालीनाग, दावानल और विष-ज्वाल से सर्वत्र बचा कर हमें हमारे चित्त चुराकर अब वियोगानल में हँस हँस जला रहे हो।

नोट:—उपालम्भ ठीक है, प्रथम बचाकर फिर मारना ठीक नहीं। यही भाव प्रथम रास-पंचाध्यायी में भी इसी प्रकार उपालम्भ के रूप में दिया गया है। यह विचारणीय है "चोरि चित लै गये"—इसमें चित से तात्पर्य चित्-ज्ञान (जो ब्रह्म का एक रूप है) तथा चित्त का है, दोनों भाव यहां चरितार्थ भी होते हैं। हरि गोपियों का चित्त (ज्ञान-चैतन्यता और चित्त या मन) चुरा ले गये हैं, गोपियाँ इसलिये अब असहाय हैं। यदि ऐसा न हुआ होता तो वे वियोगानल को पास ही न आने देतीं उसे उठने ही न देतीं, चित्त चुराकर ले जाने से वे अब अपने प्रेम को भी फिर से उद्दीप्त कर हरि को अपने वश में नहीं कर सकतीं, अतएव वियोगानल में उन्हें जलना ही पड़ेगा। साथ ही यह भी ध्वनित है, कि मुख्य वस्तु चित्त है, उसे आप चुरा ही ले गये, अब रिक्त देह से क्या प्रयोजन है, इसीसे इसे तुम वियोगानल में जला रहे हो। सुन्दर व्यंजक पदावली है।

कोऊ कहै ये निठुर इन्हैं पातक नहिं व्यापै,
पाप - पुन्य के करनहार यह आपहिं आपै।
इनकै निरदय रूप मैं, नाहिन कछुक विचित्र,
पय पीवत प्रानति हरे, पूतन बाल चरित्र।
मित्र ये कौन के ॥३५॥

शब्दार्थ:—पूतना—एक राक्षसी, जो कृष्ण को अपना विषैला दूध पिला मारना चाहती थी किंतु स्वयमेव मर गई।

भावार्थ:—कोई कहती है कि हरि पाप-पुण्यकर्ता हैं, इन्हें पाप नहीं व्यापता, यह निष्ठुर और निर्दय हैं, इनके लिये कुछ विचित्र

नहीं, बाल-लीला में ही दूध पिलाती हुई पूतना को इन्होंने मार डाला था।

अर्थः—कोई कहती हैं कि यह निष्ठुर हैं, इन्हं पाप नहीं व्यापता, यह आप ही आप पाप-पुण्य के करने वाले हैं। इसके निर्दय स्वरूप के लिये कुछ विचित्र नहीं। बाल-चरित्र में ही इन्होंने दूध पिलाती हुई पूतना के प्राण हर लिये थे, यह किसके हुए हैं।

नोट.—यहाँ हरि को सर्वकर्ता तथा स्वतंत्र कहते हुए पाप-पुण्य के करनेवाले भी कहा गया है, जिससे व्यंजित है कि विश्व के सारे कार्यों का एक कर्ता ईश्वर ही है, उसमें पाप-पुण्य का विचार चरितार्थ नहीं होता, पाप उसमें व्यापता ही नहीं, इन्हें निर्दय भी कहा गया है—यह व्यंग्य वचन के रूप में है, उसको पुष्ट किया गया है पूतना-वध से। उदाहरण भी स्त्री का ही लिया गया है। "मित्र ये कौन के"—पद बहुत व्यंजक है—इससे कोई मुख्य भाव प्रगट होते हैं-एक तो यह है कि यह किसी के मित्र नहीं-इनमें उचित न्याय-भाव है, पक्षपात नहीं, अथवा फिर यह भाव भी है कि ये हैं किनके मित्र, उद्धव के, जिन्हें किसी से मित्रता या हित नहीं, देखती नहीं हो प्रत्यक्ष। सुन्दर काकुवलित व्यंजना है।

कोऊ कहै री आज नाँहि आगैं चलि आई,
रामचन्द के धर्म - रूप मैं ही निठुराई।
यज्ञ करावन जात हे, विस्वामित्र - समीप,
मग मैं मारी ताड़का, रघुवंसी कुल-दीप।
बाल ही रीति यह ॥२६॥

शब्दार्थः—धर्म-रूप—धर्मार्थ-रूप या मर्यादा-रूप।

भावार्थः—कोई कहती है कि यह इनकी सदा की रीति है, राम के रूप में ही इन्होंने बाल्यावस्था में ताड़का का वध किया था।

अर्थः—कोई गोपी कहती है कि यह आज ही की बात नहीं आगे या पूर्व से ही चली आ रही है। राम के धर्म-रूप में ही

इनकी निष्ठुरता प्रगट है। विश्वामित्र के पास ये जब यज्ञ कराने जाते थे, तब मार्ग में रघुवंश-कुल-दीपक होकर इन्होंने ताड़का को मारा था, यह इनकी बाल्य काल की ही रीति है।

नोटः—रामावतार तथा वामनावतार की निर्दयता के भाव भागवत और सूर-काव्य में भी हैं, बालि-वध सम्बन्धी निर्दयता का उल्लेख भागवत में भी है। अन्य उदाहरण नंद ने अपनी ओर से आगे दिये हैं। धर्म-रूप पद यहाँ सुन्दर व्यंजना के साथ है और स्पष्ट करता है कि रामावतार धर्म-स्थापन या मर्यादा-पालन के लिये हुआ था :—

"धर्म-हेतु अवतरेहु गोसाँई—"तुलसी
स्रु ति सेतु-पालक राम तुम जगदीस"—तु०

यह उदाहरण भी स्त्री-वध का है, ऐसे उदाहरणों से यह पुष्ट किया जा रहा है कि हरि सदैव स्त्रियों के प्रति निर्दय रहे हैं और उनका वध करते आये हैं।

कोउ कहै जे परम धर्म इस्त्रीजित पूरे,
लच्छ लच्छ सन्धान धरै आयुध के रूरे।
सीता जू के कहे तैं, सूपनखा पै कोपि,
छेदे अंग विरूप कै, लोगनि लज्जा लोपि।
कहा ताकी कथा ॥३७॥

शब्दार्थ:—इस्त्रीजित—श्लिष्ट पद है—कामजित, स्त्रियों को जीतने वाले। रूरे—सुन्दर, लोपि—छोड़कर।

भावार्थ:—कोई कहती है कि यह स्त्रियों पर विजय करने वाले हैं और इन्होंने सुन्दर आयुध लाखों चलाये हैं। सीता के कहने में इन्होंने लोक-लज्जा छोड़ सूर्पनखा को अंग काट विरूप कर दिया।

अर्थ :—कोई गोपी कहती हैं कि ये परम धर्म-रूप हैं और पूरे स्त्री-जित हैं, इन्होंने लाखों रुचिर शस्त्रों का प्रयोग किया है।

नहीं, बाल-लीला में ही दूध पिलाती हुई पूतना को इन्होंने मार डाला था।

अर्थः—कोई कहती हैं कि यह निष्ठुर हैं, इन्हें पाप नहीं व्यापता, यह आप ही आप पाप-पुण्य के करने वाले हैं। इसके निर्दय स्वरूप के लिये कुछ विचित्र नहीं। बाल-चरित्र में ही इन्होंने दूध पिलाती हुई पूतना के प्राण हर लिये थे, यह किसके हुए हैं।

नोट.—यहाँ हरि को सर्वकर्ता तथा स्वतंत्र कहते हुए पाप-पुण्य के करनेवाले भी कहा गया है, जिससे व्यंजित है कि विश्व के सारे कार्यों का एक कर्ता ईश्वर ही है, उसमें पाप-पुण्य का विचार चरितार्थ नहीं होता, पाप उसमें व्यापता ही नहीं, इन्हें निर्दय भी कहा गया है—यह व्यंग्य वचन के रूप में है, उसको पुष्ट किया गया है पूतना-वध से। उदाहरण भी स्त्री का ही लिया गया है। "मित्र ये कौन के"—पद बहुत व्यंजक है—इससे कोई मुख्य भाव प्रगट होते हैं-एक तो यह है कि यह किसी के मित्र नहीं-इनमें उचित न्याय-भाव है, पक्षपात नहीं, अथवा फिर यह भाव भी है कि ये हैं किनके मित्र, उद्धव के, जिन्हें किसी से मित्रता या हित नहीं, देखती नहीं हो प्रत्यक्ष। सुन्दर काकुवलित व्यंजना है।

कोऊ कहै री आज नाँहि आगैं चलि आई,
रामचन्द के धर्म - रूप मैं ही निठुराई।
यज्ञ करावन जात हे, विस्वामित्र - समीप,
मग मैं मारी ताड़का, रघुवंसी कुल-दीप।
बाल ही रीति यह ॥३६॥

शब्दार्थः—धर्म-रूप—धर्मार्थ-रूप या मर्यादा-रूप।

भावार्थः—कोई कहती है कि यह इनकी सदा की रीति है, राम के रूप में ही इन्होंने बाल्यावस्था में ताड़का का वध किया था।

अर्थः—कोई गोपी कहती है कि यह आज ही की बात नहीं आगे या पूर्व से ही चली आ रही है। राम के धर्म-रूप में ही

शब्दार्थ :—*वनमाली*—यहाँ विष्णु के अर्थ में है यद्यपि है यह कृष्ण का ही पर्याय शब्द। नाव—नौका।

भावार्थ :—इनके गुण और भी सुनो, बलि से माँगते हुए वामन रूप दिखा फिर पर्वताकार हो, सत्य-धर्म छोड़ उन्होंने उसकी पीठ पर पैर रक्खा, यह लोभ की नौका हैं। आकाय—दीर्घकाय (अ—अधिकार्थ-सूचक है)।

अर्थ :—कोई कहती है कि हे आली ! सुनो और भी इनके गुण हैं, राजा बलि से भू-दान के लिये ये गये थे। माँगते समय तो इन्होंने वामन-रूप रक्खा फिर विराट-रूप हो सत्य-धर्म सब को छोड़ उसकी पीठ पर भी पैर रक्खा। यह लोभ की नौका-रूप हैं।

नोट :—अब इस विचार से कि केवल स्त्रियों के ही उदाहरणों से पक्षपात प्रतीत होगा, गोपियाँ हरि-निष्ठुरता के लिये अन्य पुरुषों के उदाहरण भी देती हैं, और कहती हैं कि अब इनके अन्य गुण भी सुनो। गुण पद व्यंजक है और अवगुण का भी अर्थ देता है। सत्य और धर्म दोनों इन्होंने छोड़े हैं, सत्य तो छोड़ा रूप बदल कर, दिखाकर वामन-रूप और प्रगट कर विराट-रूप और धर्म छोड़ा याचना करके, विष्णु विश्वम्भर और श्रीपति हैं-उन्हें माँगना न चाहिये, यह उनका धर्म या कर्तव्य नहीं, इसीलिये उनके पद-स्पर्श से भी बलि तरे नहीं, पाताल ही गये, हाँ, उन्हें उनके सत्य-धर्म-प्रभाव से प्रभु-पद-स्पर्श मिला अवश्यमेव और प्रभु याचक-रूप से उनके समक्ष प्रगट हुए। यह लोभ की नौका हैं, जग-जलधि में नाव-रूप हैं, जिस पर जल का प्रभाव तो कुछ पड़ता है, किन्तु जो उसमें डूबती नहीं, उसके ऊपर ही रहती है। याचक होकर भी हरि जग-जीवन से प्रभावित हुए अवश्य, किंतु उसमें डूबे नहीं, फिर भी उससे ऊपर रह पार ही चले गये। सुन्दर व्यंजना है। "लोभ की सींव

सीता जी के कहने से शूर्पणखा पर क्रोधकर इन्होंने उसके अंग (नाक-कान) काट लोक-लज्जा का लोपकर उसे विरूप किया था, उसकी कथा कहना व्यर्थ है।

नोट :—परमधर्म में काकु है, जिससे इसका अधर्मी अर्थ भी व्यंजित होता है। परमधर्म वह है जिसके समक्ष लोक-धर्म कुछ नहीं, उसके लिये लोक का धर्माधर्म व्यर्थ है। स्त्रीजित पद श्लिष्ट और व्यंजक है और कई अर्थ प्रगट करता है। स्त्री के द्वारा जीता गया, इसी अर्थ को लेकर आगे सीता की आज्ञा का पालन करना कहा गया है, फिर स्त्रियों के जीतने वाले का भी भाव है, अर्थात् यह स्त्रियों को ही, जो अबलायें हैं, जीत सकते हैं, पुरुषों को नहीं, तथा इससे कामजित का भी अर्थ निकलता है, क्योंकि स्त्री काम का अस्त्र है, इस के द्वारा वह सब को जीतता है, उस स्त्री को इन्होंने जीता है, इससे स्त्रियों का इन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, यह योगी हैं। अथवा इन्होंने स्वयंवर में धनुष तोड़ सीता को जीता था। क्या अनेकार्थक पद है—सभी भाव चरितार्थ हो रहे हैं। किंतु विशेषतया चरितार्थ होता है, यही भाव कि यह स्त्रियों के ही जीतने वाले हैं, उन्हीं पर इनका बल चलता है, पुरुषों पर नहीं, इसका पोषक उदाहरण भी है।

यहाँ राम और लक्ष्मण के कार्यों को भ्रमात्मक रूप में मिला दिया गया है, इससे गोपियों की ऐसी विमूढ़ता व्यक्त होती है जो केवल अपना ही भाव या उद्देश्य देखती हैं। यह भाव भी सुन्दर है।

कोउ कहै री सुनौ और इनकैं गुन आली,
बलि राजा पै गये भूमि माँगन बनमाली।
माँगत वामन-रूप ह्वै, परवत भये अकाय,
सत्य, धर्म सब छाँड़ि कै, धरौ पीठ पै पाय।
लोभ की नाव ये ॥३८॥

शब्दार्थ :—*वनमाली*—यहाँ विष्णु के अर्थ में है यद्यपि है यह कृष्ण का ही पर्याय शब्द। नाव—नौका।

भावार्थ :—इनके गुण और भी सुनो, वलि से माँगते हुए वामन रूप दिखा फिर पर्वताकार हो, सत्य-धर्म छोड़ उन्होंने उसकी पीठ पर पैर रक्खा, यह लोभ की नौका हैं। आकाय—दीर्घकाय (अ—अधिकार्थ-सूचक है)।

अर्थ :—कोई कहती है कि हे आली ! सुनो और भी इनके गुण हैं, राजा वलि से भू-दान के लिये ये गये थे। माँगते समय तो इन्होंने वामन-रूप रक्खा फिर विराट-रूप हो सत्य-धर्म सब को छोड़ उसकी पीठ पर भी पैर रक्खा। यह लोभ की नौका-रूप हैं।

नोट :—अब इस विचार से कि केवल स्त्रियों के ही उदाहरणों से पक्षपात प्रतीत होगा, गोपियाँ हरि-निष्ठुरता के लिये अन्य पुरुषों के उदाहरण भी देती हैं, और कहती हैं कि अब इनके अन्य गुण भी सुनो। गुण पद व्यंजक है और अवगुण का भी अर्थ देता है। सत्य और धर्म दोनों इन्होंने छोड़े हैं, सत्य तो छोड़ा रूप बदल कर, दिखाकर वामन-रूप और प्रगट कर विराट-रूप और धर्म छोड़ा याचना करके, विष्णु विश्वम्भर और श्रीपति हैं-उन्हें माँगना न चाहिये, यह उनका धर्म या कर्तव्य नहीं, इसीलिये उनके पद-स्पर्श से भी वलि तरे नहीं, पाताल ही गये, हाँ, उन्हें उनके सत्य-धर्म-प्रभाव से प्रभु-पद-स्पर्श मिला अवश्यमेव और प्रभु याचक-रूप से उनके समक्ष प्रगट हुए। यह लोभ की नौका हैं, जग-जलधि में नाव-रूप हैं, जिस पर जल का प्रभाव तो कुछ पड़ता है, किन्तु जो उसमें डूबती नहीं, उसके ऊपर ही रहती है। याचक होकर भी हरि जग-जीवन से प्रभावित हुए अवश्य, किंतु उसमें डूबे नहीं, फिर भी उससे ऊपर रह पार ही चले गये। सुन्दर व्यंजना है। "लोभ की सींव

ये"—पाठ होने पर लोभ की पूरी सीमा इन्होंने दिखा दी। यह भाव भागवत और सूर में भी है।

कोउ कहै री कहा हिरनकस्यप तैं बिगर्यौ,
प्रेम-ढीठ प्रह्लाद पिता कै सनमुख झगर्यौ।
सुत अपने कौ देत ही, सिच्छा - दंड बताय,
इन बपु धरि नरसिंह कौ, नखनि विदार्यौ जाय।
बिना अपराधहीं ॥३६॥

शब्दार्थ:—*सिच्छा-दंड*—शिक्षार्थ-दंड (देखिये समास) बपु—शरीर।

भावार्थ:—हिरण्यकश्यप ढीठ प्रह्लाद को शिक्षार्थ दंड दे रहा था, चूँकि उसने उसका विरोध किया था, इन्होंने नरसिंह रूप से उसे बिना अपराध के ही मारा।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि हिरण्यकश्यप से क्या बात बिगड़ी थी, वह प्रेम (परम पाठ भी है) से धृष्ट स्वपुत्र प्रह्लाद को, जो स्वपिता के समक्ष झगड़ा करता था, शिक्षार्थ दण्ड दे रहा था, इन्होंने उसे नृसिंह-रूप रख नखों से विदीर्ण कर दिया और बिना अपराध के ही।

नोट:—यह मौलिक उदाहरण है। वास्तव में हरिण्यकश्यप का अपराध कुछ भी न था, वह अपने धर्मानुसार ही कार्य कर रहा था, यह हरि का स्वभक्त के प्रति अनुचित पक्षपात था, प्रह्लाद ने धृष्टता की, पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया, यह उसका कर्तव्य न था, पिता ही धर्म, कर्म तथा परम-तप के रूप में देवता है, ईश्वर भी तो परम पिता ही है। इससे भक्त के प्रति भगवान का भाव और भक्त-रक्षा का गुण स्पष्ट है।

कोऊ कहै इन परसराम ह्वै माता मारी,
फरसा कांधे धरी भूमि छत्रिन संघारी।

ये"—पाठ होने पर लोभ की पूरी सीमा इन्होंने दिखा दी। यह भाव भागवत और सूर में भी है।

> कोउ कहै री कहा हिरनकस्यप तैं बिगर्यौ,
> प्रेम-ढीठ प्रहलाद पिता कै सनमुख झगर्यौ।
> सुत अपने कौ देत ही, सिच्छा - दंड बताय,
> इन वपु धरि नरसिंह कौ, नखनि विदार्यौ जाय।
> बिना अपराधहीं ॥३६॥

शब्दार्थ:—सिच्छा-दंड—शिक्षार्थ-दंड (देखिये समास) वपु—शरीर।

भावार्थ:—हिरण्यकश्यप ढीठ प्रह्लाद को शिक्षार्थ दंड दे रहा था, चूँकि उसने उसका विरोध किया था, इन्होंने नरसिंह रूप से उसे बिना अपराध के ही मारा।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि हिरण्यकश्यप से क्या बात बिगड़ी थी, वह प्रेम (परम पाठ भी है) से धृष्ट स्वपुत्र प्रह्लाद को, जो स्वपिता के समक्ष झगड़ा करता था, शिक्षार्थ दण्ड दे रहा था, इन्होंने उसे नृसिंह-रूप रख नखों से विदीर्ण कर दिया और बिना अपराध के ही।

नोट:—यह मौलिक उदाहरण है। वास्तव में हरिण्यकश्यप का अपराध कुछ भी न था, वह अपने धर्मानुसार ही कार्य कर रहा था, यह हरि का स्वभक्त के प्रति अनुचित पक्षपात था, प्रह्लाद ने धृष्टता की, पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया, यह उसका कर्तव्य न था, पिता ही धर्म, कर्म तथा परम-तप के रूप में देवता है, ईश्वर भी तो परम पिता ही है। इससे भक्त के प्रति भगवान का भाव और भक्त-रक्षा का गुण स्पष्ट है।

> कोऊ कहै इन परसराम ह्वै माता मारी,
> फरसा काँधे हरी भूमि छत्रिन संघारी।

स्रोनित कुंड भरायकै, पोपे अपने पित्र,
इनकैं निरदय रूप मैं, नाहिन कछुक विचित्र ।
बिलग कह मानिये ॥४०॥

शब्दार्थ:—अपने पित्र—विप्र - जाति, बिलग—पार्थक्य, युरा - मुहावरा है—बिलग मानना—बुरा मानना। संघारी—संहार करके (पूर्व० का० क्रिया)।

भावार्थ:—इन्होंने परशुराम हो जननी-वध किया और परशु ले क्षत्रियों को मार भूमि विप्रों को दी, यह निर्दय रूप है।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि इन्होंने परशुराम होकर स्वजननी का वध किया और कंधे पर परशु रख क्षत्रियों का संहार करते हुए पृथ्वी पर रक्त-कुंड भर कर उससे अपने पूर्वजों को पोपित किया। इनके से निर्दय रूप वाले के लिये कुछ भी विचित्र नहीं, और यह बुरा मानने की भी बात नहीं।

नोट:—परशुराम को विष्णु का अवतार माना गया है जनकाज्ञा-विरुद्ध प्रह्लाद के प्रति पक्षपात दिखा, यहाँ पिता की आज्ञा से मातु-वध का करना उचित दिखाया है, यह हरि का विचित्र कार्य है। साथ ही विश्व-पालक होकर इन्होंने क्षत्रिय-संहार कर रौद्र-भाव से रक्त-कुण्ड भर दिये और अपने पक्ष का पोषण कर पक्षपात दिखलाया, यह निर्दय व्यवहार विचित्र है, विरोध भाव है। ऐसा कह गोपी फिर कहती हैं कि बुरा न मानना, इससे ध्वनित है कि हरि-मूर्ति उसके समक्ष है, उसी के प्रति यह कथन भी है।

कोऊ कहै री कहा दोष सिसुपाल नरेसैं,
ब्याह करन कौ गयौ नृपति भीषम कैं देसैं।
दल-बल जोरि बरात कौं, ठाढ़े हैं छवि बाढ़ि,
इन छल करि दुलही हरी, क्षुधित ग्रास मुखकाढ़ि।
आपने स्वारथी ॥४१॥

शब्दार्थः—नरेसैं—नरेश को (नरेसहिं-देखिये कर्म कारक का रूप) भीष्मकै—भीष्मक-विदर्भपति, रुक्मिणी-पिता। ग्रास—कौर।

भावार्थः—शिशुपाल को दोष क्या दें, वह बारात ले नृप भीष्म के यहाँ विवाहार्थ गया था, इन्होंने (कृष्ण ने) कन्यापहरण स्वार्थ-वश किया।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि नृप शिशुपाल का क्या दोष था, वह नृप भीष्मक के यहाँ विवाह करने को बरात के साथ गया था, वहाँ यह (कृष्ण) दल-बल के साथ खड़े शोभित थे, तब इन्होंने छल से दुलहिन का अपहरण कर भूखे के मुख से कौर सा छीन लिया, यह अपने मतलब के हैं।

नोटः—शिशुपाल चेदि (बुंदेलखंड) का राजा था और भीष्मक कुंडिनपुर (विदर्भ) के नरेश थे, इनकी कन्या रुक्मिणी थी, शिशुपाल का सहायक मगधेश जरासंध था, कृष्ण ने दोनों को मार कर रुक्मिणी को ले लिया था। इससे तत्कालीन कन्याप-हरण-रीति को सूचित किया गया है। अंतिम पंक्ति में परिष्कृत लोकोक्ति है।

अर्थ :—इस प्रकार परम प्रेम के आवेश से वे अनुराग-पूरित हो प्रिय के रूप और अन्य चरित्रों को वहीं देखने लगीं। जिनके रोम-रोम में हरि व्याप्त हो रहे हैं, और जो प्रेम-रंग-रंजित हैं उनके लिये भूत-भविष्य की गोपनीयता कैसी है।

नोट :—यह कवि-उक्ति है, यहाँ से अब प्रसंग बदलता है। यहाँ अनुराग शब्द व्यंजक है, अनुराग से ही हरि मिलते हैं कहा गया है:—"मिलहिं न रघुपति बिन अनुरागा"-तुल०—प्रेम से भगवान की प्राप्ति होती है, गोपियों में प्रेमानुराग दोनों हैं, अतएव उनके रोम-रोम में हरि व्याप्त हैं। इसी से वे भूत और भविष्य कालीन सभी हरि-चरित्र देखने लगीं, उनके लिये कुछ छिपाव न रह गया, यही प्रेमानुराग का रहस्य है, इससे ईश्वर ज्ञान, तन्मर्म-परिचय और सच्चरित्र-दर्शन भी समय-व्यवधान-विहीनतया होता है।

देखत इनकौ प्रेम, नेम, ऊधौ को भाज्यौ,
तिमिर-भाव-आवेस बहुत अपनैं मन लाज्यौ।
मन मैं कह, रज पायँ कै, लै माथैं निज धारि,
हौं तौ कृतकृत ह्वै रहौं, त्रिभुवन आनँद वारि।
बन्दना जोग ये ॥४३॥

शब्दार्थ :—तिमिर-भाव—आवेस—अज्ञानावेश, तमोगुण का प्रभाव। वारि—निछावर करना।

भावार्थ :—गोपियों के प्रेम से उद्धव का अज्ञान-तमावेश हट गया, वे लज्जित हुए, और सोचने लगे कि गोपी-पद-रज को सिर पर रख सर्वानन्द निछावर कर कृतकृत्य हो जाऊँ।

अर्थ :—गोपियों के प्रेम को देख उद्धव का नेम (भ्रम-पाठ भी है) भग गया, और वे अपने अज्ञान-तमावेश को सोच मन में लज्जित हो गये। वे अपने मन में कहते हैं कि गोपी-पद-रज

शब्दार्थ:—नरेसैं—नरेश को (नरेसहिं-देखिये कर्म कारक का रूप) भीष्मकै—भीष्मक-विदर्भपति, रुक्मिणी-पिता। ग्रास—कौर।

भावार्थ:—शिशुपाल को दोष क्या दें, वह बारात ले नृप भीष्म के यहाँ विवाहार्थ गया था, इन्होंने (कृष्ण ने) कन्यापहरण स्वार्थ-वश किया।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि नृप शिशुपाल का क्या दोष था, वह नृप भीष्मक के यहाँ विवाह करने को बरात के साथ गया था, वहाँ यह (कृष्ण) दल-बल के साथ खड़े शोभित थे, तब इन्होंने छल से दुलहिन का अपहरण कर भूखे के मुख से कौर सा छीन लिया, यह अपने मतलब के हैं।

नोट:—शिशुपाल चेदि (बुंदेलखंड) का राजा था और भीष्मक कुंडिनपुर (विदर्भ) के नरेश थे, इनकी कन्या रुक्मिणी थी, शिशुपाल का सहायक मगधेश जरासंध था, कृष्ण ने दोनों को मार कर रुक्मिणी को ले लिया था। इससे तत्कालीन कन्यापहरण-रीति को सूचित किया गया है। अंतिम पंक्ति में परिष्कृत लोकोक्ति है।

यहि विधि ह्वै आवेस परम प्रेमी अनुरागीं,
और रूप पिय-चरित तहाँ तै देखनि लागीं।
रोम रोम हरि व्यापि गे, मोहन जिनकैं आय,
तिन कौ भूत-भविस्य कौं, जानत कौन दुराय।
रँगीली प्रेम की ॥४२॥

शब्दार्थ:—दुराय—छिपाव, रँगीली—राग से रँगी हुई।

भावार्थ:—यों प्रेमावेश से वे अनुरक्त हो हरि के रूप और अन्य चरित्र देखने लगीं, जिनके प्रति रोम में हरि व्याप्त हैं, उनसे भूत-भविष्य का छिपाव कैसा।

अर्थ :—इस प्रकार परम प्रेम के आवेश से वे अनुराग-पूरित हो प्रिय के रूप और अन्य चरित्रों को वहीं देखने लगीं। जिनके रोम-रोम में हरि व्याप्त हो रहे हैं, और जो प्रेम-रंग-रंजित हैं उनके लिये भूत-भविष्य की गोपनीयता कैसी है।

नोट :—यह कवि-उक्ति है, यहाँ से अब प्रसंग बदलता है। यहाँ अनुराग शब्द व्यंजक है, अनुराग से ही हरि मिलते हैं कहा गया है:—"मिलहिं न रघुपति बिन अनुरागा"-तुल०—प्रेम से भगवान की प्राप्ति होती है, गोपियों में प्रेमानुराग दोनों हैं, अतएव उनके रोम-रोम में हरि व्याप्त हैं। इसी से वे भूत और भविष्य कालीन सभी हरि-चरित्र देखने लगीं, उनके लिये कुछ छिपाव न रह गया, यही प्रेमानुराग का रहस्य है, इससे ईश्वर ज्ञान, तन्मर्म-परिचय और सच्चरित्र-दर्शन भी समय-व्यवधान-विहीनतया होता है।

देखत इनकौ प्रेम, नेम, ऊधौ की भाज्यौ,
तिमिर-भाव-आवेस बहुत अपनैं मन लाज्यौ।
मन मैं कह, रज पाय कै, लै माथैं निज धारि,
हौं तौ कृतकृत ह्वै रहौं, त्रिभुवन आनँद वारि।
बन्दना जोग ये ॥४३॥

शब्दार्थ :—तिमिर-भाव—आवेस—अज्ञानावेश, तमोगुण का प्रभाव। वारि—निछावर करना।

भावार्थ :—गोपियों के प्रेम से उद्धव का अज्ञान-तमावेश हट गया, ये लज्जित हुए, और सोचने लगे कि गोपी-पद-रज को सिर पर रख सर्वानन्द निछावर कर कृतकृत्य हो जाऊँ।

अर्थ :—गोपियों के प्रेम को देख उद्धव का नेम (भ्रम-पाठ भी है) भग गया, और वे अपने अज्ञान-तमावेश को सोच मन में लज्जित हो गये। वे अपने मन में कहते हैं कि गोपी-पद-रज

को स्वमस्तक में धारण कर उन पर त्रिभुवन का आनंद निछावर कर मैं कृतार्थ हो जाऊँ, ये वस्तुतः वंदनीय हैं।

नोट :—यहाँ कवि ने प्रेम का प्रभाव और महत्व सूचित किया है, उससे उद्धव पर गहरा प्रभाव पड़ा और प्रेमालोक से उनका तम-भावावेश दूर हो गया, उन्होंने देखा कि भगवान में भक्त की लीनता क्या है। इसी के साथ गोपियों को सेव्य, समादरणीय और वंदनीय कह कर—"हरि ते प्रिय मोहिं हरि कर दासा"—का भाव भी व्यंजित किया गया है। साथ ही उद्धव की गुण-ग्राहकता भी प्रगट की गयी है।

कबहुँक हौं गुन गाय स्याम कैं इनहिं रिझाऊँ,
तातैं प्रेमाभक्ति स्याम सुन्दर की पाऊं।
जिहि विधि मोपै रीझहीं, सो विधि करौं बनाय,
तातैं मो मन सुद्ध होइ, दुविधा ज्ञान मिटाय।
पाय रस प्रेम को ॥४४॥

शब्दार्थ :—मोपै—मुझपर, दुविधाज्ञान—विरोध-ज्ञान।

भावार्थ :—कभी उद्धव सोचते हैं कि हरि-गुण-गान से इन्हें रिझा कर इनसे प्रेमाभक्ति प्राप्त करूं, जैसे ये प्रसन्न हों वैसा ही कर अपने मनको शुद्ध कर दुविधाज्ञान को प्रेम-रस से दूर करूं।

अर्थ :—कभी उद्धव कहते हैं कि हरि-गुण-गान कर गोपियों को रिझा उनसे हरि की प्रेमा-भक्ति प्राप्त करूं, जिस प्रकार वे प्रसन्न हों, वही करूँ, जिससे मेरा मन शुद्ध हो और विरोध ज्ञान प्रेम-रस से दूर कर लूँ।

नोट :—यहाँ कवि ने एक प्रकार से ज्ञान-योग पर प्रेम-भक्ति का प्रभाव प्रगट किया है, अब उद्धव में प्रेमाभक्ति की भावना उठने लगी है। यह भी सूचित किया गया है कि प्रेम से ही मन शुद्ध होता है और द्विविधिज्ञान-तम दूर होता है, इसी से द्वैतभाव

भी हटकर ऐक्य-भाव आता है, यही कैवल्य का मर्म है। प्रेमानंद ही अज्ञान-तम को दूर कर सकता है।

ताही छिन इक भँवर कहूँ तैं तहं उड़ि आयौ,
ब्रज-बनितनि कैं पुंज माँहि गुंजत छवि छायौ।
चढ़्यौ चहत युग पगनि पैं, अरुन कमल-दल जानि,
मनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिं प्रगट्यौ आनि।
मधुप कौ भेस धरि ॥४५॥

शब्दार्थः—भँवर—भ्रमर, भेस—वेष।

भावार्थः—तभी एक मधुप कहीं से आया और गोपियों के बीच में गूँजने लगा। वह अरुण कमल-दल जान कर गोपियों के पैरों पर बैठना चाहता है। उद्धव का मन प्रथम ही मधुप के रूप से मानो वहाँ आ गया हो।

अर्थः—उसी क्षण एक मधुप कहीं से उड़ता हुआ आया और गोपी-वृंद में गुंजन करता हुआ शोभित हुआ, वह अरुण-कंज-दल जान कर उनके पैरों पर बैठना चाहता है, ऐसा प्रतीत होता है कि उद्धव का मन प्रथम ही मधुप-रूप से मानो वहाँ आ गया हो।

नोटः—यहाँ उत्प्रेक्षा के द्वारा नंददास ने सूचित किया है कि उद्धव के मन में प्रेमाभक्ति उद्दीप्त हुई और गोपियाँ के प्रति श्रद्धा भक्ति आ गई, जैसा पूर्व छंद से सूचित किया गया है। यहीं से उद्धव के मन का प्रभावित होना स्पष्ट हो जाता है। उत्प्रेक्षा का सुन्दर व्यंजक प्रयोग सराहनीय है।

ताहि भँवर सौं कहैं सबै प्रति-उत्तर बातैं,
तर्क-वितर्कनि जुक्ति प्रेम-रस रूपीं घातैं।
जनि परसौ मम पाँव रे, तुम मानतिं हम चोर,
तुमहीं सौं कपटी हुते, मोहन नन्द किसोर।
इहाँ तैं दुरि हो ॥४६॥

शब्दार्थ:—धातैं—घात-चाल, ।

भावार्थ:—अब उसी मधुप से गोपियां तर्क-वितर्क युक्त प्रेम की चालों से बातें करती हुई कहती हैं, कि तुम हरि से छली और रस-चोर हो, हमारे पैर न छुओ और दूर हटो।

अर्थ:—उसी मधुप से सब गोपियाँ तर्क-वितर्क-युक्त प्रेम की चालों से उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में बातें करती हैं और कहती हैं कि तुम रस-चोर और कृष्ण जैसे छली हो, हमारे पैर न छुवो, यहाँ से दूर हटो।

नोट:—यहाँ रस-चोर और रूप-वर्ण-साम्य के आधार पर मधुप को कृष्ण के रूप में लिया गया है और अन्योक्ति-व्यंजना पद्धति से प्रेममयी उक्तियाँ रक्खी गई हैं। प्रति शब्द का प्रयोग देहली-दीपक के साथ हुआ है, सबै के साथ यह सब गोपियों में से प्रत्येक-गोपी का और उत्तर के साथ प्रत्युत्तर का अर्थ देता है। आनंद-रस-चोर पद श्लिष्ट है, रस का अर्थ पुष्प-रस और आनंद-रस है। नागर पद भी व्यंजक है। यहाँ मधुप को कृष्ण सा माना गया है, साम्य दो गुणों में है, रस-चोर और कपटी होने में।

कोउ कहै री बिस्व माँझ जोते हैं कारे,
कपट-कुटिलता-कोटि परम मानुप मसिवारे।
एक स्याम तन परसि कै, जरत आज लौं अंग,
ता पाछैं यह मधुपहू, लायौ जोग-भुअंग।
कहाँ इनकौ दया ॥४७॥

शब्दार्थ:—मसि—कालिमा, स्याही, कल्मप (विप पाठ भी है), भुअंग—भुजंग-सर्प। इनको-इनमें (अधिकरणार्थ में कर्म)

भावार्थ:—कोई कहती है कि विश्व के सभी श्याम वर्णवाले कपटी और कुटिल तथा कल्मप (विप) वाले हैं, एक श्याम के स्पर्श से देह जल रही है, यह मधुप और योग-सर्प ले आया है।

अर्थ:—कोई कहती है कि हे सखि! विश्व में जितने भी काले हैं, वे कपट-कोटि, कुटिल और काले दिलके हैं। एक श्याम के शरीर का स्पर्श कर तो आज तक देह जल रही है, उस पर भी यह मधुप योग-रूपी सर्प ले आया है, भला इनमें दया कहाँ।

नोट:—यहाँ उद्धव को मधुप कहा गया है। कारे पद श्लिष्ट है, यह-सर्प और श्याम वर्ण वाले दोनों का अर्थ देता है। प्रथम सामान्य नियम देकर अपने अनुभव से उसे पुष्ट किया गया है। चतुर्थ पंक्ति की संगति इससे कम बैठती है। मधुप-रूपी उद्धव योग-रूपी सर्प ले आये हैं, यह योग-सर्प के रूपक के साथ कुछ विशेष युक्ति और सार्थकता के साथ नहीं कहा गया। योग और सर्प में विशेष साम्य नहीं। वायु-भक्षण और कुंडलिनी-रूप में साम्य लिया जा सकता है।

कोउ कहैं री मधुप भेष उनहीं को धारयौ,
स्याम, पीत गुंजार वैन किंकिनि झनकारयौ।
वा पुर गो-रस चोरिकै, फिरि आयौ यहि देस,
इनकौ जनि मानहु कोऊ, कपटी इनको भेस।
चोरि जानि जाय कछु ॥४८॥

शब्दार्थ:—वापुर—बेचारा, उस पुर चोरि जाय—चुराले जाय (चोरना धातु से चोरि क्रिया), मानहु—विश्वास करो।

भावार्थ:—कोई कहता है कि मधुप ने उन्हीं का वेश धारण किया है, वहाँ गो-रस चुराकर फिर यह यहाँ आया है, यह कपट-वेश है, इसका विश्वास न करो, कुछ चुरा न ले जाय।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि मधुप ने उन्हीं का वेश बनाया है, वैसा ही यह श्याम है, पती भी है (पीताम्बर से हरि, अपनी पीत धारी से) मधुप किंकिणी की झंकार सी इसकी गुंजार-गिरा है। बेचारा गो-रस चुराकर चला गया था और अब

शब्दार्थ:—घातैं—घात-चाल, ।

भावार्थ:—अब उसी मधुप से गोपियां तर्क-वितर्क युक्त प्रेम की चालों से बातें करती हुई कहती हैं, कि तुम हरि से छली और रस-चोर हो, हमारे पैर न छुओ और दूर हटो ।

अर्थ:—उसी मधुप से सब गोपियाँ तर्क-वितर्क-युक्त प्रेम की चालों से उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में बातें करती हैं और कहती हैं कि तुम रस-चोर और कृष्ण जैसे छली हो, हमारे पैर न छुवो, यहाँ से दूर हटो ।

नोट:—यहाँ रस-चोर और रूप-वर्ण-साम्य के आधार पर मधुप को कृष्ण के रूप में लिया गया है और अन्योक्ति-व्यंजना पद्धति से प्रेममयी उक्तियाँ रक्खी गई हैं । प्रति शब्द का प्रयोग देहली-दीपक के साथ हुआ है, सबै के साथ यह सब गोपियों में से प्रत्येक-गोपी का और उत्तर के साथ प्रत्युत्तर का अर्थ देता है । आनंद-रस-चोर पद श्लिष्ट है, रस का अर्थ पुष्प-रस और आनंद-रस है । नागर पद भी व्यंजक है । यहाँ मधुप को कृष्ण सा माना गया है, साम्य दो गुणों में है, रस-चोर और कपटी होने में ।

कोउ कहै री विस्व माँझ जोते हैं कारे,
कपट-कुटिलता-कोटि परम मानुप मसिवारे ।
एक स्याम तन परसि कै, जरत आज लौं अंग,
ता पाछैं यह मधुपहू, लायौ जोग-भुअंग ।
कहाँ इनकौ दया ॥८७॥

शब्दार्थ:—मसि—कालिमा, स्याही, कल्मप (विप पाठ भी , भुअंग—भुजंग-सर्प । इनकौ-इनमें (अधिकरणार्थ में कर्म)

भावार्थ:—कोई कहती है कि विश्व के सभी श्याम वर्णवाले टी और कुटिल तथा कल्मप (विप) वाले हैं, एक श्याम के र्श से देह जल रही है, यह मधुप और योग-सर्प ले आया है ।

अर्थ:—कोई कहती है कि हे सखि! विश्व में जितने भी काले हैं, वे कपट-कोटि, कुटिल और काले दिलके हैं। एक श्याम के शरीर का स्पर्श कर तो आज तक देह जल रही है, उस पर भी यह मधुप योग-रूपी सर्प ले आया है, भला इनमें दया कहाँ।

नोटः—यहाँ उद्धव को मधुप कहा गया है। कारे पद श्लिष्ट है, यह-सर्प और श्याम वर्ण वाले दोनों का अर्थ देता है। प्रथम सामान्य नियम देकर अपने अनुभव से उसे पुष्ट किया गया है। चतुर्थ पंक्ति की संगति इससे कम बैठती है। मधुप-रूपी उद्धव योग-रूपी सर्प ले आये हैं, यह योग-सर्प के रूपक के साथ कुछ विशेष युक्ति और सार्थकता के साथ नहीं कहा गया। योग और सर्प में विशेष साम्य नहीं। वायु-भक्षण और कुंडलिनी-रूप में साम्य लिया जा सकता है।

कोउ कहैं री मधुप भेष उनहीं कौ धार्यौ,
स्याम, पीत गुंजार बैन किंकिनि झनकार्यौ।
वा पुर गो-रस चोरिकै, फिरि आयौ यहि देस,
इनकौ जनि मानहु कोऊ, कपटी इनकौ भेस।
चोरि जानि जाय कछु ॥४८॥

शब्दार्थ:—वापुर—बेचारा, उस पुर चोरि जाय—चुराले जाय (चोरना धातु से चोरि क्रिया), मानहु—विश्वास करो।

भावार्थ:—कोई कहती है कि मधुप ने उन्हीं का वेश धारण किया है, वहाँ गो-रस चुराकर फिर यह यहाँ आया है, यह कपट-वेश है, इसका विश्वास न करो, कुछ चुरा न ले जाय।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि मधुप ने उन्हीं का वेश बनाया है, वैसा ही यह श्याम है, पती भी है (पीताम्बर से हरि, अपनी पीत धारी से) मधुप किंकिणी की झंकार सी इसकी गुंजार-गिरा है। बेचारा गो-रस चुराकर चला गया था और अब

फिर यहाँ आया है, यह इसका कपट वेश है, इसका विश्वास न करो, कहीं कुछ चुरा न ले जाय।

नोट:—यहाँ मधुप को कृष्ण-रूप कहा गया है। गो-रस पद श्लिष्ट है, सभंग रूप से कई अर्थ देता है—गो-चला गया, इंद्रिय और गाय का तथा रस-मधु (मधुपार्थ में) सुख और दूध-दही आदि का (कृष्णार्थ में) अर्थ देता है, तीनों ही यहां चरितार्थ भी होते हैं। एक वार का अनुभव है, अतः अब फिर विश्वास कर भूल करना ठीक नहीं। मानहु पद विश्वास करने का अर्थ विशेष रूप से देता है, कैसा सुन्दर प्रयोग है, शब्द से अपना इष्ट अर्थ बलपूर्वक ले लिया गया है।

कोऊ कहै रे मधुप कहैं अनुरागी तुम कौ,
कौन गुननि धौं जानि इहै अचरज है हम कौ।
कारौ तन अति पातकी, मुख पियरौ जग-निन्द,
गुन-अवगुन सब आपनौ, आपुहि जान अलिन्द।
देखि लै आरसी ॥४६॥

शब्दार्थ:—अलिन्द—अलीन्द्र, मलिन्द, मधुप, आरसी—एक शीशेदार आभूषण (अँगूठे का), दर्पण।

भावार्थ:—कोई कहती है कि जाने किन गुणों से तुम्हें अनुरागी कहते हैं, आश्चर्य है, श्याम शरीर, पर पति मुख निंद्य है, तू आरसी ले देख तो अपने गुणागुण।

अर्थ:—कोई कहती है कि हे मधुप! तुझे अनुरागी कहा जाता है, किन्तु जाने किन गुणों के कारण, हमें बहुत आश्चर्य है, तेरा शरीर श्याम है, और जग-निंद्य पातकी मुख पीत है, ले आरसी में अपने गुणागुण आप ही देख।

नोट:—अलिन्द पद श्लिष्ट है, अलि का अर्थ है सखी और मधुप, उसका इंद्र अर्थात् गोपियों के इंद्र या स्वामी तथा मधुपेन्द्र। यहाँ यह भी सूचित है कि यदि हमारे कहने को ठीक न समझ

तो अपना मुख ले आरसी में देख ले, उससे गुणागुण का परिचय मिल जायेगा, क्योंकि मुख पर गुणादि का प्रतिविम्ब रहता है।

कोऊ कहै रे मधुप कहा तू रस की जानै,
बहुत सुमन पै बैठि सबै आपन सम आनै।
आपन सम हमको कियौ, चाहत है मतिमन्द,
दुविध-ज्ञान उपजाय कै, दुखित प्रेम-आनन्द।
कपट कै छन्द सौं ॥५०॥

शब्दार्थः—दुविधि—दो प्रकार का भ्रमात्मक, छंद-छद्म उपाय, वेद या ज्ञान।

भावार्थः—कोई कहती है कि मधुप! तू रस क्या जाने, अपने ही आनंद के लिये अनेक फूलों पर बैठता है, और अपना ही सा हमें भी करना चाहता है, भ्रमात्मक ज्ञान उठाकर छल से प्रेमानन्द को दुखद बनाता है।

अर्थः—कोई कहती है कि हे मधुप! तू रस को (रस-मर्म की बात को) क्या जाने, तू तो अनेक कुसुमों पर अपने रस के ही लिये बैठता है, हे मति-मंद! तू हमें भी अपना ही सा (अनेक सुमन-सेवी) और स्वार्थी करना चाहता है, और प्रेमानंद के कपटोपाय से द्विविध ज्ञान उठाकर दुखित या दुखद करना चाहता है।

नोटः—यहाँ तात्पर्य उद्धव और कृष्ण दोनों से है, या केवल कृष्ण से ही है, कृष्ण ही ने अनेक सुमनों में अपने रस के लिये निवास किया और द्विविधि ज्ञान उद्धव के द्वारा भेज छलोपाय से प्रेमानंद को दुखद किया है। इससे व्यंजित है कि हरि अनेक सुमनों (सुन्दर मनों) में निवास करते हैं, यही व्यापकता उन्हें सुखद है और वे गोपियों को भी अपना सा करना चाहते हैं। उद्धव के प्रति भी व्यंग्य है, वे कृष्णादेश पा भ्रमात्मक ज्ञान से गोपियों के प्रेमानंद को छल के द्वारा दुखद बनाना चाहते हैं।

कोऊ कहै रे मधुप! कहा मोहन-गुन गावै,
हृदय कपट सौं परम प्रेम नाहिंन छवि पावै।
जानति हौं सब भाँति कै, सरबस लयौ चुराय,
वह बौरी ब्रजवासिनी, को जो तुम्हैं पत्याय।
लहे निज जानि कै ॥५१॥

शब्दार्थ:—मोहन—कृष्ण, मोहने वाला (श्लिष्ट है) मोहों के, को—कौन, पत्याय - पतियाय, विश्वास करे। लहे - स्वागत करना। कै - कर के, द्वारा, से (क्रिया और विभक्ति)

भावार्थ:—कोई कहती है कि हे मधुप! क्या मोहन-गुण गाता हो, कपटी हृदय में परम प्रेम शोभा नहीं पाता। सब प्रकार तूने सर्वस्व चुरा लिया, यह हम जानती हैं, तब भला अब कौन ब्रजबाला तेरा विश्वास करे।

अर्थ:—कोई गोपी कहती है कि हे मधुप! तू मोहन के गुण क्या गाता है। हृदय के कपट से परम प्रेम शोभा नहीं देता। हम जानती हैं कि तूने सब प्रकार सर्वस्व चुरा लिया, अब भला वह कौन ब्रजवासिनी है जो तेरा विश्वास करे।

नोट:—यहाँ श्री कृष्ण और उद्धव से तात्पर्य है। कृष्ण ने मोहने वाले गुणों से युक्त गान किये, और उद्धव ने मोहन कृष्ण या मोहों के गुण या अवगुण बताये। कृष्ण भी हृदय में कपट रखते थे, नहीं तो क्यों वियोग-दुख देते, दीखते वे परम प्रेममय हैं—वे स्वतः परम रूप हैं भी—अतः प्रेम भी उनका परम है, किंतु छल के कारण वह अशोभित है। उद्धव ने भी प्रेम दिखलाया और उससे प्रभावित हुए, यह उनका कपठ है, गोपी कहती है कि हरि ने हमारा एक बार में ही सब चुरा लिया, अब गोपियां कैसे विश्वास करें—उनको तो उन्होंने अपना जाना था, इसी से अपनाया था। यही बात उद्धव के लिये भी है।

कोऊ कहै रे मधुप ! तुम्हैं कह को मधुकारी,
लियैं फिरत मुख जोग गाँठ काटत बेकारी।
रुधिर-पान किय बहुत कैं, अरुन अधर रँगरात,
अब ब्रज मैं आयौ कहा, करन कौन को घात।
जात किन पातकी ॥५२॥

शब्दार्थ:—मधुकारी—मधु करनेवाला—रसोत्पादक, विष-योग—विष-रूपी योग या विष-प्रयोग, बधकारी—बधिक, रँगरात—लाल रंग-रंजित, घात—बध, किन—क्यों नहीं।

भावार्थः—कोई कहती है कि कौन तुझे मधुकारक कहता है, जब तू विष-योग मुख में लिये बधिक हो गाँठ काटता है, बहुतों का तूने रुधिर पान किया है—अधर तेरे इसी से लाल हैं, अब ब्रज में किसे मारने आया है, पापी जाता क्यों नहीं।

अर्थः—कोई गोपी कहती हैं कि हे मधुप ! तुम्हें कौन मधुकर (प्रेमामृत-कारक और मधुकारक) कहता है, जब तू मुख में विष-योग लेकर बधिक हो, दूसरों की गाँठ काटता है। बहुतों का रुधिर-पान तूने किया है, इसीसे तेरे अधर लाल रंग-रंजित हैं। अब ब्रज में तू किसको मारने आया है। हे पातकी ! यहां से तू जाता क्यों नहीं।

नोटः—यहाँ भी उद्धव और हरि दोने से तात्पर्य है। उद्धव मधुकारी नहीं हो सकते (इनमें प्रेमामृत कैसे आ सकता है। जब इनके मुख में विष-योग है, मधुप पुष्प-रस ले अपने मुख से उसे शहद बनाता है, उसके मुख में विष नहीं, किंतु यहाँ मुख में विष-का संयोग है या विष-प्रयोग है, उद्धव विष-रूपी योग-चर्चा मुख में लिये हैं, विष-योग पद श्लिष्ट हो बहुत व्यंजक है, समास के अन्तर से अर्थान्तर हो रहा है। गाँठ काटना धना पहरण करना है, यह बधिक का कार्य है।

कोऊ कहै रे मधुप ! प्रेम षट् पद को देख्यौ,
अब लौं यहि व्रज-देस माँहि कोउ नाँहि बिसेख्यौ।
द्वै सिंग आनन पै धरे, कारौ-पीरौ गात,
रज अमृत सम मानहीं, अमृत देखि डरात।
वादि यह रसिकता ॥५३॥

शब्दार्थः—पटपद—भ्रमर, सिंग—शृंग, सींग, वादि-व्यर्थ, त्याज्य।

भावार्थः—कोई कहती है कि हे मधुप ! पटपद-प्रेम तूने देखा हैं, व्रज में उससे विशेष कोई है नहीं। उसके दो सींग मुख पर है और शरीर काला-पीला है। वह रज को अमृत मानता और सुधा से डरता है, व्यर्थ है ऐसी रसिकता।

अर्थः—कोई गोपी कहती है कि हे मधुप ! क्या तूने प्रेम रूपी पटपद को देखा है। अब तक इस व्रज-देश में उससे विशेष कोई नहीं है। उसके मुख पर दो सींग हैं और उसका शरीर काला और पीला है, वह रज को अमृत मानता है और सुधा से डरता है। ऐसी रसिकता त्याज्य और व्यर्थ है।

नोटः—प्रेम को यहाँ पटपद कहा गया है, वह पशु है—तात्पर्य यह है कि मधुप-रूपी उद्धव ने पाशविक प्रेम, जिसके छः भेद हैं, देखा है, व्रज में इसे किसी ने नहीं देखा, या न महत्व ही (विशेपता ही दी) दिया है। इसके मुख पर दो सींग हैं और शरीर-श्याम-पीत है, वह रज या धूल को ही सुधा सा मानता है और सुधा से डरता है। फिर भी रसिकता रखता है। उद्धव योग-रज (विभूति) को वहुत महत्व देते हैं और प्रेम-सुधा-रस से डरते हैं। उद्धव दिव्य प्रेम नहीं जानते, भौतिक पाशविक प्रेम ही जानते हैं, जिसे व्रज में कोई भी विशेप नहीं मानता। इससे व्रज के प्रेम-विचार को महत्व दिया गया है और उद्धव के प्रेम-विचार को पाशविक कहा गया है, जो मधुप के प्रेम

सा, स्वार्थमय है। प्रेम सात्विक ही अमर है, उसमें रज का अंश नहीं, रजमय प्रेम तो निकृष्ट है।

कोऊ कहै रे मधुप! ज्ञान उलटौ लै आयौ,
मुक्ति-परे जे, फेरि तिन्हैं पुनि कर्म बतायौ।
वेद-उपनिषद-सार जे, मोहन-गुन गहि लेत,
तिन कैं आतम सुद्ध करि, फिरि फिरि सन्था देत।
जोग-चटसार में ॥५७॥

शब्दार्थः—फेरि—लौटाकर, उलटा घुमाकर, फिर, संथा—पाठ, चटसार—पाठशाला। करि-पूर्व० क्रिया, करके, कर-का (सम्बन्ध कारक की विभक्ति) फेरि और पुनि में पुनरुक्त वदाभास है।

भावार्थः—कोई कहती है कि मधुप उलटा ज्ञान लाया है और मुक्ति से परे लोगों को कर्मोपदेश देता है। जो वेदोपनिषद-सार रूप हरि के गुण ग्रहण कर लेते हैं, उन्हें यह आत्म-शुद्धि का पाठ बार-बार योग की पाठशाला में पढ़ाता है।

अर्थः—कोई गोपी कहती है कि हे मधुप! तू उलटा या विरुद्ध ज्ञान ले आया है, यह ठीक नहीं, तू मुक्ति से परे लोगों को फिर कर्मोपदेश देता है, वेदोपनिषद के सार-स्वरूप जो कृष्ण हैं, उन्हें जिन्होंने गुणों से ग्रहण कर लिया है, उन्हें तू आत्म-शुद्धि का पाठ योग-पाठशाला में बार-बार पढ़ाता है।

नोटः—जो मुक्ति से परे हैं, उन्हें कर्म की क्या आवश्यकता, भक्ति में मुक्ति को तो छोड़ ही दिया जाता है, भक्त मुक्ति नहीं चाहता, तदर्थ वह कर्म भी नहीं करता। मुक्ति कर्म-प्राप्त होती है और मुक्त होने पर कर्म छूट भी जाते हैं—जो मुक्ति से ही परे हैं उन्हें कर्म से प्रयोजन क्या है। कृष्ण ही वेदोपनिषद-सार हैं, उन्हें जो प्राप्त कर चुका है उसे योग के द्वारा आत्मा की शुद्धि का उपदेश व्यर्थ है—उसकी आत्मा तो हरि-प्राप्ति से शुद्ध ही हो चुकी है।

तब उसके लिये योग के द्वारा आत्म-शुद्धि का प्रयत्न व्यर्थ है। इस छंद में फिर गोपियाँ उद्धव के पूर्वोपदेश का खंडन सा करती हैं। साथ ही हरि की प्रेमा भक्ति का महत्व भी वे दिखाती हैं।

कोऊ कहै रे मधुप ! निगुन इन बहुकरि जान्यौ,
तर्क-वितर्कनि उक्ति बहुत इन ताहि प्रमान्यौ।
पै इतनौ नहिं जानहीं, वस्तु विना गुन नाहिं,
निरगुन भये अतीत कै, सगुन सकल जग माँहिं।
सखा सुन स्याम के ॥४५॥

शब्दार्थः—जुक्ति—युक्ति, चातुर्य, अतीत अति + इति-अत्यंत समाप्ति-रूप ब्रह्म। बहुकरि—बहुत करके, अधिक।

भावार्थः—कोई कहती है, कि इन्होंने निर्गुण को खूब जाना और तर्क से प्रमाना है। किंतु ये यह नहीं जानते कि कोई वस्तु विना गुण के नहीं, यदि ब्रह्म निर्गुण है तो सगुण विश्व में वह कैसे हैं।

अर्थः—कोई गोपी कहती है कि हे मधुप ! इन्होंने (उद्धव ने) निर्गुण को बहुत जाना है और तर्क - वितर्क की युक्तियों से उसे सिद्ध भी किया है, किंतु यह इतना नहीं जानते कि विना गुण के वस्तु नहीं, यदि ब्रह्म निर्गुण है तो सगुण जगत में वह कैसे व्याप्त है।

नोटः—यहाँ से गोपियों का ध्यान अब बदल गया, वे फिर उद्धव से सीधे-सीधे कहती और उनके पूर्व कथित निर्गुणवाद का खंडन करती हैं। वे कहती हैं कि इन्होंने निर्गुण को बहुत जाना-माना है और तर्क-युक्ति से उसे सिद्ध भी किया और यहाँ ला रक्खा है। उन्हें किन्तु यह ज्ञात नहीं कि कोई भी वस्तु विना गुण के नहीं, यदि ब्रह्म शुद्ध है और यह सब विश्व ब्रह्म ही है, तब ब्रह्म निर्गुण कैसे, उसके गुण होने चाहिये, क्यों कि उसके निर्गुण होते हुए यह

सब ब्रह्म-रूप विश्व सगुण कैसे हुआ, इस प्रकार यह दूषित तर्क है। क्या सुन्दर व्यंजनामय तर्क है।

कोऊ कहै रे मधुप! तुम्हैं लाजौ नहिं आवै,
सखा तुम्हारौ स्याम कूबरी-दास कहावै।
यह ऊँची पदवी हुती, गोपी-नाथ कहाय,
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी-जूठनि खाय।
मरत कह बोल कौ ॥५६॥

शब्दार्थ :—बोल को—बोलने को।

भावार्थ :—कोई कहती है कि हे मधुप! तुम्हारे मित्र कुब्ज़ा-दास कहलाते हैं, और तुम्हें लज्जा नहीं आती, यहाँ गोपीनाथ की उपाधि नीची थी, अब दासी का जूठा खाने से यदु-कुल पुनीत हुआ, क्या मरते हो बोलने को।

अर्थ :—कोई व्रजबाला कहती हैं, कि रे मधुप! तुम्हें लज्जा नहीं आती कि तुम्हारे मित्र कूबरी (दासी) के दास कहलाते हैं। यहाँ तो उन्हें गोपीनाथ की नीची उपाधि मिली थी अब कुब्जा-दास की उपाधि ऊँची है। अब दासी का जूठा खा लेने से यदु-कुल पवित्र हुआ, क्या बोलने के लिये मरे जाते हो।

नोटः—सुन्दर व्यंग्य वाक्य है। साथ ही भावनोत्तेजन-दोष (Fallacy of Populum) भी है। उद्धव की भावना को उत्तेजित किया गया है। साथ ही यह भी सूचित किया गया है, कि हरि के लिये दासी का साथ रखना ठीक नहीं, अपने वंश की मर्यादा और आत्म-सम्मान के विरुद्ध आचरण ठीक नहीं होता। इन पंक्तियों से गोपियों की भक्ति साम्य भाव की प्रधानता से प्रभावित है।

कोउ कहै रे मधुप! स्याम जोगी, तुम चेला,
कुबजा-तीरथ जाय कियौ इन्द्रिनि कौ मेला।

मधुवन-सुधि बिसराय कै, आये गोकुल माँहि,
इहाँ सबै प्रेमी बसैं, तुम्हारी गाहक नाँहि।
पधारौ रावरे ॥५७॥

शब्दार्थ—मेला—जमाव, मिलाप। शेप सरल है। इंद्रिनि-कौ मेला—योग-साधना।

भावार्थ:—कोई कहती है कि कृष्ण तो योगी और आप चेला हैं, कुब्जा-रूपी तीर्थ में ऐंद्रिक मेला किया है, मधुवन छोड़ आप गोकुल में आये तो, किन्तु व्यर्थ आये, क्योंकि यहाँ सब प्रेमी हैं, योगी का पूछने वाला कोई नहीं।

अर्थ:—कोई गोपिका कहती है, कि हे मधुकर! कृष्ण तो योगी हैं, और आप उनके शिष्य हैं, कुब्जा-रूपी तीर्थ में जाकर इंद्रियों का मेला किया है। मधुवन का स्मरण छोड़ आप गोकुल में आये, तो व्यर्थ ही आये, क्योंकि यहाँ सब प्रेमी ही रहते हैं, तुम्हारा यहाँ कोई गाहक नहीं, यहाँ से जाइये।

नोट:—इसमें कृष्ण के योगेश्वर और उद्धव के तदानुयायी होने का तथ्य सुन्दर व्यंजना के साथ रक्खा गया है। इंद्रियों के मेले से तात्पर्य दर्शन-स्पर्शन का है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है, कि ब्रज में प्रेमियों का वास है। योग-ज्ञान का ग्राहक यहाँ कोई नहीं। अंत में स्पष्ट कहा गया है कि आप यहाँ से जायें, यह अशिष्ठता-पूर्ण कथन सूचित करता है कि गोपियाँ ऊब उठी हैं, अब वे ऊधव का अधिक रुकना ठीक नहीं समझतीं, व्यंजना के साथ चातुरी से अभीष्ट प्रकाशन है।

कोउ कहै रे मधुप! साधु मधुवन कैं ऐसैं।
और तहाँ के सिद्ध लोग ह्वै हैं धौं कैसैं।
औगुन गुन गहि लेत हैं, गुन कौ डारत मेटि
मोहन निर्गुन कौ गहैं, तुम साधुनि कौ भेंटि।
गाँठि कौ खोय कै ॥५८॥

शब्दार्थ :—सिद्ध—साधुओं का एक भेद, सिद्धि-प्राप्त।

भावार्थ :—कोई कहती हैं कि हे मधुप! मधुवन के साधु तो ऐसे हैं, तब वहाँ के सिद्ध कैसे होंगे, वे अवगुण ही को गुण मान लेते हैं, और गुण को छोड़ देते हैं, इसी से मोहन ने भी निर्गुण (गुण-हीन) को ग्रहण किया है, यह तुम जैसे साधुओं का ही प्रभाव है कि वे गाँठ की लक्ष्मी भी खो चुके हैं।

अर्थ :—कोई सखी कहती है कि हे मधुप! मधुवन के साधु जब ऐसे हैं, (जैसे आप हैं,) तब वहाँ के सिद्ध लोग कैसे होंगे (और गिरे हुये होंगे)। साधु तो अवगुण ही ग्रहण करते अथवा अवगुण को ही गुण सा ग्रहण करते हैं, और गुण को मिटा देते हैं। इसी से तुम्हारे जैसे साधुओं का सम्पर्क पाकर मोहन भी निर्गुण (गुण-रहित, कुब्जा) को ग्रहण किये हैं और अपने पास की श्री को खो चुके हैं।

नोट :—तृतीय पंक्ति में निर्गुण-सगुण-सम्बन्धी व्यंजना है। वे साधु निगुण या गुण-हीन (ब्रह्म या निर्गुणी व्यक्ति) को अपनाते और गुण को (सगुण प्रभु या गुणवान) को छोड़ देते हैं, अर्थात निर्गुण ब्रह्म की स्थापना कर उपासना करते और सगुण प्रभु को हटा देते हैं—कृष्ण ने भी वही किया। निगुणी (कुब्जा तथा मधुवन-वासियों) को अपनाया है और अपनी श्री (सम्पत्ति तथा राधा) को खो दिया है, यह तुम जैसे साधुओं के ही साथ से हुआ है। गाँठ की पाठ से ओर भी भाव स्पष्ट होता है—गाँठ की पद से तात्पर्य है, उस राधिका से जिसके साथ हरि की गाँठ बँध गई है, वही श्री है, सुन्दर व्यंजना है। औगुन और गुन (निगुण भी) पद श्लिष्ट हैं। मुद्राभास है।

कोउ कहे रे मधुप! होंहि तुम तैं जो संगी,
क्यों न होय तन स्याम सकल बातनि चौरंगी।

गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाँहि मुरारि,
मदन त्रिभंगी आपुही, करी त्रिभंगी नारि।
रूप-गुन-सील की ॥५

शब्दार्थ :—चौरंगी—चतुरंगी, चालाक, चंट, जोरी—ज
की. स्त्री. मुरारि— कृष्ण, त्रिभंगी—लाकृति, कृष्ण, तीन स्थ
से टेढ़ा।

भावार्थ :—कोई कहती हैं कि हे मधुप! तुम सा सा
पाकर कृष्ण क्यों न सर्वथा चालाक हों। गोकुल में अपनी जो
न पाकर अपनी सी ही रूप-गुणशील वाली त्रिभंगी स
वहाँ उन्होंने कर ली।

अर्थ :—कोई गोपी कहती हैं कि हे मधुप! तुम्हारे जैसे ज
साथी हों, तब क्यों न श्याम देह वाले (हरि) सब बातों में चतुर (चालाक) हों। गोकुल में मुरारि ने अपनी जोड़ी नहीं पाई तब वहाँ अपने जैसे त्रिभंगी रूप की (तीन स्थानों से टेढ़ी) रूप-गुण-शील वाली स्त्री कर ली।

नोट:—क्या ही सुन्दर व्यंग्य है। दोष सब प्रकार उद्धव का हैं, उनके ही संग से कृष्ण चालाक हुए और उन्होंने कुब्जा को

ता पाछैं इकवारही रुदित, सकल ब्रज-नारि,
हा! करुनामय! नाथ हा! केसव, कृष्ण, मुरारि।
फाटि हियरौ चल्यौ ॥६०॥

शब्दार्थ—व्याज—बहाना, शेष सरल है।

भावार्थ:—यों कृष्ण-स्मरण कर मधुप-व्याज से उद्धव से गोपियाँ कुल-कानि छोड़ कहती हैं, इसके पीछे सभी गोपियाँ एक बार ही रो उठीं, हा! करुणामय नाथ! केशव! कृष्ण! मुरारि! कह उनके हृदय और नेत्र फट पड़े।

अर्थ:—इस प्रकार गोविन्द-स्मरण कर कुल-कानि को छोड़ मधुप-व्याज से उद्धव के प्रति गोपियों ने कहा। तदनन्तर एक बार ही हा करुणामय! नाथ! केशव! कृष्ण! मुरारि! कहती हुई सभी ब्रजबालायें रो उठीं, उनके हृदय और उनके नेत्र वेदना से फट गये।

नोट:—कवि यहाँ गोपियों की स्थिति का वर्णन करता है। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि गोपियों ने स्वकुल-कानि का लोप कर दिया, उसे वस्तुतः त्याग नहीं दिया। तदनन्तर कृष्ण को पाँच नामों से पुकारा, प्रथम करुणामय कहा, यह साभिप्राय है, हरि के करुणामय रूप की ही आवश्यकता है, फिर नाथ कहा, स्वामी को दासी पर करुणा करनी ही चाहिये, तब केशव से कृष्ण का विष्णु होना, तथा कृष्ण पद से स्वानंद या मोक्ष के प्रति कर्षित करने वाला होने और मुरारि से दुष्ट-दलन करने का भाव व्यंजित करते हुए सहेतुक पदों का प्रयोग किया गया है। सुन्दर परिकरालंकार है। सारी पदावली व्यंजक है।

उमगै जौ कोउ सलिल सिन्धु लैतन की धारनि,
भींजत अम्बुज-नीर कंचुकी लहि गुन हारनि

गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाँहि मुरारि,
मदन त्रिभंगी आपुही, करी त्रिभंगी नारि।
रूप-गुन-सील की ॥५६॥

शब्दार्थ :—चौरंगी—चतुरंगी, चालाक, चंट, जोरी—जोड़ की, स्त्री, मुरारि– कृष्ण, त्रिभंगी—लाकृति, कृष्ण, तीन स्थान से टेढ़ा।

भावार्थ :—कोई कहती हैं कि हे मधुप! तुम सा साथी पाकर कृष्ण क्यों न सर्वथा चालाक हों। गोकुल में अपनी जोड़ी न पाकर अपनी सी ही रूप-गुणशील वाली त्रिभंगी स्त्री वहाँ उन्होंने कर ली।

अर्थ :—कोई गोपी कहती हैं कि हे मधुप! तुम्हारे जैसे जब साथी हों, तब क्यों न श्याम देह वाले (हरि) सब बातों में चतुर (चालाक) हों। गोकुल में मुरारि ने अपनी जोड़ी नहीं पाई तब वहाँ अपने जैसे त्रिभंगी रूप की (तीन स्थानों से टेढ़ी) रूप-गुण-शील वाली स्त्री कर ली।

नोट:—क्या ही सुन्दर व्यंग्य है। दोष सब प्रकार उद्धव का है, उनके ही संग से कृष्ण चालाक हुए और उन्होंने कुब्जा को अपनाया, क्योंकि वह उन की सी ही त्रिभंगी रूप, गुण और शील वाली है। त्रिभंगी-पद में यमकालंकार है, त्रिभंगी का पहिले अर्थ है, वेणु-वादन के समय लू सी आकृति विशेष से हरि की मूर्ति और फिर तीन स्थानों से टेढ़े शरीर वाली कूबरी। इसी के साथ उत्प्रेक्षालंकार भी है, गोकुल में कोई कुब्जा सी त्रिभंगी स्त्री नहीं, वहाँ सभी रूप-गुण-शील-सम्पन्ना हैं, यह व्यंजित है। इसके पश्चात् भ्रमरगीत समाप्त होता है और उद्धव की दशा का वर्णन प्रारम्भ होता है।

यहि विधि सुमिरि गोविंद कहत ऊधौ प्रति गोपी,
भृंग संज्ञा करि कहति सकल कुल-लज्जा लोपी।

शब्दार्थ:—गलानि—ग्लानि, सिगरी—सब, निजपात्र—अपने सगे।

भावार्थ:—गोपियों की प्रेमाभक्ति को प्रगट देख उद्धव का द्विविध ज्ञान, उनकी ग्लानि और मंदता मिट गई। यह कहते विस्मय होता है कि ये गोपियाँ हरि की आत्मीय हैं, मैं तो इनके दर्शन मात्र से ही ज्ञान के मल को दूर कर कृतार्थ हो गया।

अर्थ:—गोपियों ने जो प्रेम-भक्ति प्रकाशित की, उसकी व्यवस्था देख, उद्धव की द्विविध ज्ञान-ग्लानि के साथ मंदता सारी मिट गई। वे कहते हैं कि मुझे विस्मय होता है यह कहते हुए कि ये गोपियां हरि की आत्मीय पात्र हैं, अतएव मैं इनके दर्शन-मात्र से ज्ञान-मल मिटाकर कृतार्थ हो गया।

नोट :—कवि ने यहाँ अपनी ओर से कुछ न कह उद्धव की ओर से ही कहलाया है कि गोपियों की शुद्ध प्रेम-भक्ति से उद्धव का ज्ञान, उनकी ग्लानि और मन्दता मिट गई, अथवा ज्ञान की ग्लानि और मंदता नष्ट हो गई। यह स्वीकार करा दिया गया है कि उद्धव का ज्ञान द्विविधामय था, प्रमाण इसका यही है कि उद्धव स्वयमेव ऐसा कहते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि गोपियाँ कृष्ण की आत्मीया हैं, इसे समझ उद्धव को विस्मय होता है, अथवा जब गोपियां अपने को हरि की कहती हैं तब उन्हें विस्मय हुआ था, पाठ यों भी है कि "मोहि भयो निहचय यहै"—तब अर्थ है कि अब मुझे निश्चय हुआ, इस कथन का कोई प्रमाण नहीं, कैसे उन्हें निश्चय हुआ, यह स्पष्ट नहीं, हाँ संकेत-रूप में फिर कहा गया है कि इनके दर्शन मात्र से ही उद्धव कृतार्थ हो गये, तब ये अवश्य ही हरि की आत्मीय हैं। साथ ही यह भी कहलाया गया है कि ज्ञान-मल मिट गया, इससे स्पष्ट है कि उद्धव को अपने ज्ञान की समलता स्वीकृत है।

ताही प्रेम-प्रवाह में, ऊधव चले बहाय,
भली ज्ञान की मेंड हौं, ब्रज में दीन्हीं आय।
कुल तारन भये ॥८१॥

शब्दार्थ :—कंचुकी—चोली, मेंड—सीमा।

भावार्थ:—गोपियों का जो अश्रु-प्रवाह हुआ उससे उनके वस्त्राभरण प्लावित हो गये, और उसी में उद्धव भी वह चले, वे सोचते हैं कि मैंने ब्रज में आकर ज्ञान की मेंड़ दी, यह अच्छा किया, फलतः सब कुल तर गया।

अर्थ:—गोपियों का जो प्रेमाश्रु और प्रणय-जन्य प्रस्वेद-प्रवाह सागर सा उमड़ा, और ज्यों नेत्राम्बुजों के नीर से उनके वस्त्राभरण प्लावित हो गये। त्यों उसी प्रेम-प्रवाह में उद्धव भी वह चले, उन्होंने सोचा कि मैंने ब्रज में आकर ज्ञान-सीमा खींच अच्छा किया, सारा कुल तर गया।

नोटः—कवि यहां गोपियों के प्रेम-प्रवाह में उद्धव को भी बहा देता है और उनके ज्ञानोपदेश को उनके कुल के लिये भी सफल कहता है। बात भी यही है, भगवत्प्रेम ही तार सकता है, ज्ञान तो हरि को प्राप्त नहीं करा पाता। यद्यपि यह बात प्रमाण से सिद्ध तो नहीं हुई, किंतु कवि ने इसे भावना-क्षेत्र में लाकर भाव-प्रभाव से स्वभाव-सिद्ध सा प्रगट किया है। यह गोपियों के हरि के प्रति प्रेम-भक्ति का प्रभाव था, जो उद्धव पर पड़ा। यही प्रभाव उद्धव पर भागवत में भी वर्णित है। सूर ने केवल एक ही पद इस सम्बन्ध में लिखा है।

प्रेम-प्रसंसा करत सुद्ध जो भक्ति प्रकासी,
दुविधा ज्ञान, गलानि, मन्दता सिगरी नासी।
कहत मोहि विस्मय भयो, हरि के ये निज पात्र,
हौं तौ कृतकृत ह्वै गयौ, इन के दरसन मात्र,।
मेटि मल ज्ञान कौ ॥८२॥

शब्दार्थ:—गलानि—ग्लानि, सिगरी—सब, निजपात्र—अपने सगे।

भावार्थ:—गोपियों की प्रेमाभक्ति को प्रगट देख उद्धव का द्विविध ज्ञान, उनकी ग्लानि और मंदता मिट गई। यह कहते विस्मय होता है कि ये गोपियाँ हरि की आत्मीय हैं, मैं तो इनके दर्शन मात्र से ही ज्ञान के मल को दूर कर कृतार्थ हो गया।

अर्थ:—गोपियों ने जो प्रेम-भक्ति प्रकाशित की, उसकी व्यवस्था देख, उद्धव की द्विविध ज्ञान-ग्लानि के साथ मंदता सारी मिट गई। वे कहते हैं कि मुझे विस्मय होता है यह कहते हुए कि ये गोपियां हरि की आत्मीय पात्र हैं, अतएव मैं इनके दर्शन-मात्र से ज्ञान-मल मिटाकर कृतार्थ हो गया।

नोट:—कवि ने यहाँ अपनी ओर से कुछ न कह उद्धव की ओर से ही कहलाया है कि गोपियों की शुद्ध प्रेम-भक्ति से उद्धव का ज्ञान, उनकी ग्लानि और मन्दता मिट गई, अथवा ज्ञान की ग्लानि और मंदता नष्ट हो गई। यह स्वीकार करा दिया गया है कि उद्धव का ज्ञान द्विविधामय था, प्रमाण इसका यही है कि उद्धव स्वयमेव ऐसा कहते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि गोपियाँ कृष्ण की आत्मीया हैं, इसे समझ उद्धव को विस्मय होता है, अथवा जब गोपियां अपने को हरि की कहती हैं तब उन्हें विस्मय हुआ था, पाठ यों भी है कि "मोंहि भयो निहचय यहै"—तब अर्थ है कि अब मुझे निश्चय हुआ, इस कथन का कोई प्रमाण नहीं, कैसे उन्हें निश्चय हुआ, यह स्पष्ट नहीं, हाँ संकेत-रूप में फिर कहा गया है कि इनके दर्शन मात्र से ही उद्धव कृतार्थ हो गये, तब ये अवश्य ही हरि की आत्मीय हैं। साथ ही यह भी कहलाया गया है कि ज्ञान-मल मिट गया, इससे स्पष्ट है कि उद्धव को अपने ज्ञान की समलता स्वीकृत है।

[illegible] कहन बात एकान्त पठायौ,
[illegible] कछु मरम जानि एकौ नहिँ पायौ ।
[illegible] निज मरजाद कौ, ज्ञान-कर्म्म लौ रोपि,
ये सब प्रेमासक्ति हैं, कुल-लज्जा करि लोपि ।
धन्य ये गोपिका ॥६३

शब्दार्थ:—एकान्त—एक+अन्त—रहस्य बात, केवल एक ।

भावार्थ:—हरि ने बार बार कह कर एक बात कहने को भेजा था, मैं इनका भेद न जान पाया । मैंने अपनी शक्ति या सीमा के अनुसार ज्ञान-कर्म को स्थापित किया, किन्तु ये सब कुल-कानि को छोड़ प्रेमा-सक्त हैं ।

अर्थ: हरि ने बारम्बार कहकर मुझे गोपियों से एकान्त में संदेश कहने को भेजा था किन्तु मैं इनका रहस्य कुछ भी न जान पाया । मैंने अपनी मर्यादानुसार ज्ञान और कर्म-सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, किंतु ये सब अपनी कुल की कानि का लोपकर प्रेम में आसक्त हैं, इन्हें धन्य है ।

ही कार्य करती हुई गोपियाँ उसी को प्राप्त हैं, जिसे ज्ञान से भी कठिनाई से प्राप्त किया जा सकता है।

जो ऐसैं मरजाद मेटि मोहन कौ ध्यावै,
काहे न परमानन्द-प्रेम पदवी कौ पावै।
ज्ञान-योग सब करम तैं, प्रेम परे ही साँच,
हौं यहि पटतर देत हौं, हीरा आगैं काँच।
विषमता बुद्धि की ॥६४॥

शब्दार्थ :—परे—पृथक, दूर, पटतर—समानता,। हीरा—आगे—षष्ठि-तत्पुरुष, देखिये एक पद संज्ञा और दूसरा क्रिया-विशेषण है, यहां 'के' विभक्ति का लोप है।

भावार्थ :—लोक-मर्यादा को छोड़ जो हरि का ध्यान करता है, वह परमानन्द प्रद प्रेम और प्रभु के पद पाता है। ज्ञान-योग-कर्म से प्रेम पृथक है, यह सत्य है, प्रेम हीरा है, यह सब काँच हैं।

अर्थ :—जो व्यक्ति इस प्रकार निज लोक-मर्यादा को छोड़ मोहन कृष्ण का ध्यान करता है, वह क्यों न परमानन्दप्रद प्रेम-पद को प्राप्त करे। स्पष्ट है कि ज्ञान, योग और कर्म से सत्य प्रेम परे है, मैं इनकी तुलना यों करता हूँ कि ये ज्ञान-योग-कर्म तो काँच हैं और प्रेम हीरा है।

नोट :—हरि के ध्यानार्थ लोक-सीमा को तोड़ना आवश्यक, है, लोक-मर्यादा को छोड़ ऊपर उठ हरि-स्मरण से ही परमानन्द-स्वरूप प्रेम-पद प्राप्त होता है। पद शब्द देहली-दीपक के साथ है। प्रेम के साथ पद तो स्थान, तथा अधिकार का अर्थ और 'पी कौ' के साथ चरण का अर्थ देता है, अतएव यहाँ श्लिष्ट देहली दीपक है। यहाँ माधुर्य भाव की भक्ति व्यंजित है। यहाँ पी के स्थान पर वी पाठ भी है, तब पदवी शब्द होकर अन्य अर्थ मिलता है। उद्धव के ही द्वारा सत्य प्रेम का महत्व ज्ञान-

पुनि पुनि कहि हरि कहन बात एकान्त पठायौ,
मैं इन कौ कछु मरम जानि एकौ नहिं पायौ।
हौं कहि निज मरजाद कौ, ज्ञान-कर्म्म लौ रोपि,
ये सब प्रेमासक्ति हैं, कुल-लज्जा करि लोपि।
धन्य ये गोपिका ॥६३

शब्दार्थ :—एकान्त—एक+अन्त—रहस्य बात, केवल एक।

भावार्थ :—हरि ने बार बार कह कर एक बात कहने को भेजा था, मैं इनका भेद न जान पाया। मैंने अपनी शक्ति या सीमा के अनुसार ज्ञान-कर्म को स्थापित किया, किन्तु ये सब कुल-कानि को छोड़ प्रेमा-सक्त हैं।

अर्थ : हरि ने बारम्बार कहकर मुझे गोपियों से एकान्त में संदेश कहने को भेजा था किन्तु मैं इनका रहस्य कुछ भी न जान पाया। मैंने अपनी मर्यादानुसार ज्ञान और कर्म-सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, किंतु ये सब अपनी कुल की कानि का लोपकर प्रेम में आसक्त हैं, इन्हें धन्य है।

नोट :—इससे स्पष्ट है कि उद्धव गोपियों की प्रेमाभक्ति का मर्म न जान पाये और उन्होंने अपना सारा ज्ञान लगा दिया। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उद्धव के ज्ञान और कर्मवाद का कोई प्रभाव गोपियों पर न पड़ा, क्योंकि वे प्रेमासक्त हैं, उनकी भावना वृत्तिप्रधान हो कार्य कर रही है, बोध या ज्ञान की वृत्ति दबी हुई है। यहां तक उनमें प्रेम-भावना प्रबल है, कि उन्हें अपने कुल की मान-मर्यादा का भी ध्यान नहीं। प्रेम में ऐसी लीनता है, अतः ये धन्य हैं। मस्तिष्क की तीनों वृत्तियों—बोध, भावना, और इच्छा में से इनमें केवल भावना-वृत्ति ही प्रबल हो कार्य कर रही है। इच्छा और बोध की वृत्तियाँ दबी हुई हैं, इच्छा का दमन या शमन ही योग है। प्रेम-भावना मे

और मुनि-दुर्लभ है, कितना बड़ा महत्त्व है। देखिये तुलसीदास का ऐसा ही दासानुदास-भाव :—

"तुलसी" जिनके हिय बसत, अनुदिन सीताराम।
तिनके पग की पगतरी, मेरे तन कौ चाम।"



होहुँ द्रुम, लता, वेलि, विटप-वल्ली वन माँहीं,
आवत-जात सुभाय परै मोपैं परछाहीं।
सोऊ मेरैं वस नहीं, जौ कछु करौं उपाय,
मोहन होंहिं प्रसन्न जौ,यह वर माँगौं जाय।
कृपा करि देहु जू ॥६८॥

शब्दार्थ :—वल्लरी—वल्लरी—वेलि,। शेष सरल है।

भावार्थ :—कैसे ही मैं इस वन में द्रुम या वेलि हो जाऊँ, जिससे आते - जाते मुझ पर इनकी छाया पड़े, किन्तु यह मेरे वश में नहीं, कि एतदर्थ कुछ उपाय भी करूँ, यदि हरि प्रसन्न हों तो यह वर उनसे माँगूँ कि कृपा कर यह वर मुझे दीजिये।

अर्थ:—उद्धव सोचते हैं कि किसी प्रकार मैं इस वन में वृक्ष-वल्लरी आदि हो जाऊँ, जिससे आते-जाते इन गोपियों की पर-छाहीं मुझ पर पड़ा करे। किन्तु यह मेरे वश की बात नहीं कि कुछ उपाय एतदर्थ करूँ, यदि हरि प्रसन्न हों तो उन्हीं से जाकर यह वरदान माँगू कि कृपा करके यह वर वे मुझे दीजिये।

नोट:—यहाँ अब उद्धव की इच्छा द्रुमादि होने की है, जिससे गोपियों की छाया उन पर पड़ा करे। परछाहीं शब्द व्यंजक है, छाँह में प्रकाशाभाव सा रहता है, अर्थात् वे चाहते हैं कि मेरे ऊपर ज्ञानालोक तो छाया हुआ है किन्तु उससे मैं हरि को नहीं पा सका, बोधवृत्ति का प्रकाश हरि की प्राप्ति में निस्सार सा ही रहा, अब आवश्यकता है उस पर भावना की छाया की, भक्ति-प्रेम की। यह भी वस उस ओर उतनी चैतन्यता के ही साथ हो, जितनी

पुनि कहि परसत पाँय प्रथम इन मोंहिं निवार्‌यौ,
भृंग संज्ञा करि कहत निन्दि सब तैं करि डार्‌यौ।
होइ रहौं ब्रज-भूमि की,पग - मारग की धूरि,
विचरत पद मोपै परैं, सब सुख-जीवन-मूरि।
मुनिन हूँ दुरलभै ॥८७॥

शब्दार्थ :—निवार्‌यौ—रोका, मना किया, निंद—निंद्य, निंदनीय, दुरलभै—दुर्लभ ही (ऐकरान्त करने से ही का बल आता है), पग-मारग—पगदंडी, ।

भावार्थ :—पद-स्पर्श से इन्होंने मुझे प्रथम ही रोक दिया, और भृंग नाम देकर सबसे निंद्यनीय कर दिया, अब मैं ब्रज-भू के मग की धूल ही होकर रहूँ जिससे इनके सुखद पद मुझ पर पड़ें ।

अर्थ :—फिर उद्धव कहते हैं कि इन्होंने अपना पद-स्पर्श करने से मुझे प्रथम ही रोक दिया है, और भृंग नाम देकर मुझे सब से निंदनीय कर दिया । अब मैं ब्रज-भूमि के पग-मग की धूल होकर रहूँगा, जिससे मुझ पर यहाँ विचरती हुई इन गोपियों के सब सुख देने वाले और जीवन-मूल से पद, जो मुनियों के लिये भी दुर्लभ हैं, पड़ा करें ।

नोट :—इसमें प्रथम तो छं० ४६ का संकेत है, उद्धव अब धूल हो इन गोपियों के पदों का स्पर्श चाहते हैं, यह वैष्णव भक्ति का नियम है—"हरि ते प्रिय मोंहि हरि कर दासा—" का आभास है। साथ ही यहाँ एक विशेष भक्ति-भाव की ओर संकेत भी है । उद्धव हरि-भक्त हो कृष्णोपासना, तत्पद-सेवार्चनादि नहीं चाहते, वरन् गोपियों के चरण-स्पर्श के अभिलाषी हैं, वे गोपी-पद-सेवी होना चाहते हैं, क्योंकि गोपियों में हरि का अगाध प्रेम है । एक उर्दू का शेर है—" तुम्हें चाहूँ तुम्हारे चाहने वालों को चाहूँ—"। साथ ही कहा गया है, कि गोपी-पद-स्पर्श सर्व सुखद, जीवन-मूल

और मुनि-दुर्लभ है, कितना बड़ा महत्व है। देखिये तुलसीदास का ऐसा ही दासानुदास-भाव :—

"तुलसी" जिनके हिय बसत, अनुदिन सीताराम।
तिनके पग की पगतरी, मेरे तन कौ चाम।"



होहुँ द्रुम, लता, बेलि, विटप-वल्ली वन माँहीं,
आवत-जात सुभाय परै मोपैं परछाहीं।
सोऊ मेरैं बस नहीं, जौ कछु करौं उपाय,
मोहन होंहिं प्रसन्न जौ,यह वर माँगौं जाय।
कृपा करि देहु जू ॥८८॥

शब्दार्थ :—वल्लरी—वल्लरी—वेलि,। शेष सरल है।

भावार्थ :—कैसे ही मैं इस वन में द्रुम या वेलि हो जाऊँ, जिससे आते-जाते मुझ पर इनकी छाया पड़े, किन्तु यह मेरे वश में नहीं, कि एतदर्थ कुछ उपाय भी करूँ, यदि हरि प्रसन्न हों तो यह वर उनसे माँगूँ कि कृपा कर यह वर मुझे दीजिये।

अर्थ:—उद्धव सोचते हैं कि किसी प्रकार मैं इस वन में वृक्ष-वल्लरी आदि हो जाऊँ, जिससे आते-जाते इन गोपियों की पर-छाहीं मुझ पर पड़ा करे। किन्तु यह मेरे वश की बात नहीं कि कुछ उपाय एतदर्थ करूँ, यदि हरि प्रसन्न हों तो उन्हीं से जाकर यह वरदान माँगू कि कृपा करके यह वर वे मुझे दीजिये।

नोट:—यहाँ अब उद्धव की इच्छा द्रुमादि होने की है, जिससे गोपियों की छाया उन पर पड़ा करे। परछाहीं शब्द व्यंजक है छाँह में प्रकाशाभाव सा रहता है, अर्थात् वे चाहते हैं कि मेरे ऊपर ज्ञानालोक तो छाया हुआ है किन्तु उससे मैं हरि को नहीं पा सका, वोधवृत्ति का प्रकाश हरि की प्राप्ति में निस्सार सा ही रहा अब आवश्यकता है उस पर भावना की छाया की, भक्ति-की। यह भी बस उस और उतनी चैतन्यता के ही साथ हो,

वृन्दादि में होती है। यह अपने वश की बात नहीं। हरि की कृपा की बात है—अतएव उन्हीं से इसकी याचना करने का वे विचार कर रहे हैं। यहीं कवि ने उद्धव की दशादि का वर्णन समाप्त कर दिया है, और उन्हें बस शीघ्र ही लौटा दिया है। अब आगे वे मथुरा के मार्ग पर जा रहे हैं।

ऐसैं मग अभिलाष करत मथुरा फिरि आयौ,
गदगद पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ।
गोपी- गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयौ भूलि,
जीवन कौ लै का करौं, पायौ जीवन-मूलि।
भक्ति कौ सार यह ॥८६॥

शब्दार्थ:—फिरि—लौटकर, गुन गयो—में यौ का पाठ लघु है—या पाठान्तर में गो पद का प्रयोग है। का—क्या।

भावार्थ:—इस प्रकार मन में अभिलाषा करते हुए प्रमावेश-युक्त उद्धव मथुरा आ गये, और वे गोपी-गुण तो गाते हैं, हरि-गुण भूल गये हैं, उन्हें जीवनमूल भक्ति-सार प्रेम मिल गया है।

अर्थ:—यों मार्ग में अभिलाषा करते हुए गद्गद पुलकित हो प्रमावेश से युक्त उद्धव मथुरा आ गये, वहाँ वे हरि-गुण भूल कर गोपी-गुण-गान करने लगे और सोचने लगे कि जीवनमूल तथा भक्ति-सार रूपी प्रेम को पाकर अब जीवन रख कर मैं क्या करूँ।

नोट:—प्रेमावेश में गोपी-गुण-गान तो उद्धव करते हैं किन्तु हरि-गुण भूल गये हैं, साथ ही अब वे प्रेम को, जो भक्ति-सार है, जीवन-मूल समझते हैं, वह उन्हें मिल गया, अतः वे जीवन को भी कुछ नहीं समझते। प्रेम का इस प्रकार महत्व स्पष्ट है। भागवत में इस प्रसंग पर एक ही श्लोक है। सूर ने विस्तार के साथ उद्धव का लौटना तथा गोपियों के संदेश और नंद-यशोदा के संदेशादि का वर्णन किया है।

ऐसैं सोचत जहाँ स्याम राजत तहँ आयौ,
परिकरम, दंडौत करत आवेस जनायौ।
लखि निरदयता स्याम की, करि क्रोधित दोउ नैन,
कह व्रज-वनिता प्रेम की, बोलत रस-भरि बैन।
सुनौ नँद-लाड़िले ॥७०॥

शब्दार्थः—दंडौत—दंडवत-प्रणाम, लाडिले—प्रिय बच्चा।

भावार्थः—यों सोचते हुए वे हरि के निकट आये और प्रणाम परिक्रमा कर उन्होंने प्रेमावेश प्रगट किया। फिर उनकी निर्दयता देख कुपित हो गोपियों की ओर से सप्रेम सरस वाणी से कहा।

अर्थः—इस प्रकार सोचते हुए उद्धव जहाँ श्याम थे, वहाँ दौड़े आये और उनकी प्रदक्षिणा कर दंडवत-प्रणाम कर उन्होंने प्रेमावेश प्रकट किया। फिर हरि की निष्ठुरता को सोचकर सक्रोध नेत्र कर कहा कि व्रज-बालायें सप्रेम सरस गिरा से कहती हैं।

नोटः—उद्धव प्रेमपूरित हैं। उन्होंने कृष्ण की निष्ठुरता (गोपियों के प्रति) सोची और कुपित हुए नेत्रों से यह प्रगट भी कर दिया किन्तु फिर सप्रेम सरस-वाणी से गोपियों के रूप में वे बोले। इस पंक्ति से दो भाव व्यंजित होते हैं। प्रथम तो यह है कि गोपियों का ध्यान करते-करते वे अब उन्हीं के रूप में हो रहे हैं—वे गोपीमय हैं, अतः वे उसी प्रकार बोलते हैं, अथवा गोपियों की ओर से वे उसी प्रकार सप्रेम बोलते भी हैं—अथवा वे इस प्रकार बोलते हैं, मानो सप्रेम सरस-वाणी से गोपियाँ ही बोल रही हों। यहाँ सूर का ही अनुकरण सा किया गया है। सूर ने इस प्रसंग को सविस्तार लिखा है।

करुनामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूठीं,
जबही लौं नहिं लख्यौ तबहि लौं बाँधीं मूँठी।

शब्दार्थ:—नातरु—नहीं तो (ना—नहीं—तरु-वृक्ष—यह अर्थ ठीक नहीं। नतु, नेह-स्नेह—परस्पर का प्रेम।

भावार्थ:—उद्धव वारवार हरि से वृन्दावन में चलकर रहने को कहते हैं—वहाँ प्रेम-पुंज गोपियों का साथ है, और सव काज को छोड़ इस प्रकार वहाँ चल कर यदि उन्हें सुख नहीं देते तो स्नेह-सम्वन्ध टूट जायेगा।

अर्थ:—उद्धव हरि से कहते हैं कि हे श्याम! आओ चलो, वृन्दावन में रहें और परम प्रेम-पुञ्ज रूप-गोपिका-सत्संग प्राप्त करें। इसके आगे और सव कुछ व्यर्थ है। सव कार्य छोड़ कर उन्हें ही सुख देने को चलो, नहीं तो सभी स्नेह-सम्बन्ध टूट जायेगा, तव क्या करोगे।

नोट:—गोपियों को पुंजीभूत प्रेम की मूर्तियाँ कहा गया है—उन्हीं का सत्संग ठीक है, उन्हें ही सुख देना उचित है, और काम तो छोड़े जा सकते हैं, नहीं तो स्नेह-सम्वन्ध टूट जायेगा, और यह तुम्हारे कारण होगा, यह तुम्हारे जैसे व्यक्ति के लिये ठीक नहीं, कहा है :—

"कवहूँ प्रीति न जोरिये, जोरि तोरिये नाहिं"—

एक वार प्रेम के टूट जाने पर फिर जोड़ने से गाँठ पड़ जायेगी:—

"ज्यौं तोरे जोरे वहुरि, गाँठ परति गुन मांहि"—वृंद

ठीक भी है—गोपियाँ भी यही कहती थीं कि क्यों प्रेम से हमें वचाया था यदि इस प्रकार छोड़ना था। गोपियों का भाव कैसी सुन्दरता से लाया गया है, आगे कृष्ण-दशा का चित्र है।

सुनत सखा कैं वैन नैन भरि आये दोऊ,
त्रिवस प्रेम-आवेस रही नाँहिन सुधि कोऊ।
रोम रोम प्रति गोपिका, रमि रहिं साँवर गात,
कलपतरोरुह साँवरो, व्रज-वनिता भईं पात
उलहि अँग अँग तैं ॥७६॥

शब्दार्थः—सरल है।

भावार्थः—सचेत हो हरि कहते हैं कि अच्छा हमने मित्र को भेजा, यह तो हमारे ही अवगुण कहने लगे, मुझ में और गोपियों में तो अभेद ही है।

अर्थः—सचेत होकर हरि कहने लगे कि मैंने अच्छा उद्धव को सुधि लेने को भेजा था, यह तो वहाँ से आकर मेरे ही अवगुण बताने लगे। अरे! मुझमें और गोपियों में एक क्षण के लिये भी कोई अन्तर नहीं, दोनें में अभेद है, जैसे वे मुझमें दीखती हैं, वैसे ही मैं भी उनमें दीखता हूँ, जैसे वारि-तरंग सम्बन्ध हो, हम एक दूसरे से वस्तुतः भिन्न नहीं।

नोटः—सुन्दर पद है। प्रथम पंक्ति में एक प्रकार से हरि का पश्चाताप सा है कि व्यर्थ उद्धव को वहाँ भेजा, यह आकर मेरे ही अवगुण कहने लगे। अव गुन—पाठ भी है, यह अच्छा पाठ है, इससे तात्पर्य होगा कि मैंने अच्छा किया कि इन्हें वहाँ भेजा, अब यह ठीक हो गये—नहीं तो थे यह निर्गुणानुयायी। आगे स्पष्ट सा है, कि हरि ने उद्धव को अपना गोपी-मय रूप इसलिये दिखलाया, जिससे उन्हें यह ज्ञात हो जाये कि उनमें और गोपियों में भेद नहीं, दोनों परस्पर व्याप्त हैं, यहाँ—

"यो माँ पश्यति सर्वत्र, सर्वञ्च मयि पश्यति" का भाव आभासित होता है। उद्धव ने ध्यान तो नहीं दिया किन्तु वहाँ ब्रज में उद्धव के समक्ष गोपियों के सामने प्रत्यक्ष हरि-मूर्तियाँ उपस्थित थीं, हाँ नंददास ने गोपियों के शरीरों के रोम-रोम में हरि की व्यापकता का ऐसा चित्र वहाँ नहीं दिखाया। अंत में वारि-वीचि-न्याय से गोपी-कृष्ण का पारस्परिक भेदाभेद यहाँ सूचित किया है, वह जल-वीचि सम, 'कहियत भिन्न न भिन्न हैं"—"वारि-वीच जिमि गावहिं वेदा"—ऐसा तुलसीदास ने भी कहा है।

शब्दार्थ:—कल्पतरोरुह—कल्पवृक्ष (काम भई तरुवरो-भी पाठ है) उलहि-उलहना, उठना, निकलना, फूटना।

भावार्थ:—सखा के वचन सुनकर हरि के नेत्र भर आये और प्रेमावेश से विस्मृति आ गई, रोम-रोम में गोपियाँ व्याप्त हो गईं।

अर्थ:—उद्धव सखा के वचन सुनकर हरि के दोनों नेत्र (प्रेमाश्रुओं से) भर आये, और वे प्रेमावेश से विवश हो गये, उन्हें कोई सुधि न रह गई। रोम रोम में गोपियाँ व्याप्त हो गयीं, सारा श्याम-शरीर गोपी-मय हो गया, कृष्ण उस समय कामतरु से हो गये और गोपियाँ उसमें से निकली हुई पत्तियों सी हो गईं।

नोट:—कितनी व्यंजक पदावली है। हरि का प्रेमावेश देखिये, गोपियाँ उनके रोम-रोम में व्याप्त हो गईं, उनकी स्मृति सारे शरीर पर छा गई, कृष्ण तो काम-तरु से हुए और गोपियाँ उनकी पत्तियाँ सी हुईं। इससे स्पष्ट है हरि-प्रेम-तरु-स्वरूप हैं, गोपियाँ पत्तियाँ हैं, उन्हीं से वे निकली हैं, वे उनकी ही हैं, अतः उद्धव यदि गोपियों के भक्त हुए तो ठीक हुए, वरं वे हरि के ही भक्त। यहाँ व्याज-रूप से हरि ने अपनी गोपी-मयी मूर्ति उद्धव के सामने प्रगट कर यह सूचित किया है कि मुझसे गोपियाँ पृथक् नहीं, वे मेरी ही हैं, और मुझी में हैं। मैंने निष्ठुर हो कर उन्हें छोड़ा है। यहाँ भेदाभेद-भाव सत्तरूपना से सूचित किया गया है। गोपी-कृष्ण में भेद नहीं, वे उनमें और उनमें वे हैं।

हैं सन्देह काज सखा पठयौ सुधि ल्यावन,
रसगुन हमरे जानि तहाँ तें लरयौ मनावन।
सोऊ उनमें अन्तरौ, पलौ छिन भरि नाहिं,
ज्यों देखत मो माँहि वे, त्यों ही हूँ उन माँहि,
तरंगनि वारि ज्यों ॥५४॥

शब्दार्थः—सरल है।

भावार्थः—सचेत हो हरि कहते हैं कि अच्छा हमने मित्र को भेजा, यह तो हमारे ही अवगुण कहने लगे, मुझ में और गोपियों में तो अभेद ही है।

अर्थ:—सचेत होकर हरि कहने लगे कि मैंने अच्छा उद्धव को सुधि लेने को भेजा था, यह तो वहाँ से आकर मेरे ही अवगुण बताने लगे। अरे! मुझमें और गोपियों में एक क्षण के लिये भी कोई अन्तर नहीं, दोने में अभेद है, जैसे वे मुझमें दीखती हैं, वैसे ही मैं भी उनमें दीखता हूँ, जैसे वारि-तरंग सम्बन्ध हो, हम एक दूसरे से वस्तुतः भिन्न नहीं।

नोटः—सुन्दर पद है। प्रथम पंक्ति में एक प्रकार से हरि का पश्चाताप सा है कि व्यर्थ उद्धव को वहाँ भेजा, यह आकर मेरे ही अवगुण कहने लगे। अब गुन—पाठ भी है, यह अच्छा पाठ है, इससे तात्पर्य होगा कि मैंने अच्छा किया कि इन्हें वहाँ भेजा, अब यह ठीक हो गये—नहीं तो थे यह निर्गुणानुयायी। आगे स्पष्ट सा है, कि हरि ने उद्धव को अपना गोपी-मय रूप इसलिये दिखलाया, जिससे उन्हें यह ज्ञात हो जाये कि उनमें और गोपियों में भेद नहीं, दोनों परस्पर व्याप्त हैं, यहाँ—

"यो माँ पश्यति सर्वत्र, सर्वञ्च मयि पश्यति" का भाव आभासित होता है। उद्धव ने ध्यान तो नहीं दिया किन्तु वहाँ व्रज में उद्धव के समक्ष गोपियों के सामने प्रत्यक्ष हरि-मूर्तियाँ उपस्थित थीं, हाँ नंददास ने गोपियों के शरीरों के रोम-रोम में हरि की व्यापकता का ऐसा चित्र वहाँ नहीं दिखाया। अंत में वारि-वीचि-न्याय से गोपी-कृष्ण का पारस्परिक भेदाभेद यहाँ सूचित किया है, वह जल-वीचि सम, 'कहियत भिन्न न भिन्न हैं"—"वारि-वीच जिमि गावहिं वेदा"—ऐसा तुलसीदास ने भी कहा है।

शब्दार्थ:—कल्पतरोरुह—कल्पवृक्ष (काम भई तरुवरो-भी पाठ है) उलहि-उलहना, उठना, निकलना, फूटना।

भावार्थ:—सखा के वचन सुनकर हरि के नेत्र भर आये और प्रेमावेश से विस्मृति आ गई, रोम-रोम में गोपियाँ व्याप्त हो गईं।

अर्थ:—उद्धव सखा के वचन सुनकर हरि के दोनों नेत्र (प्रेमाश्रुओं से) भर आये, और वे प्रेमावेश से विवश हो गये, उन्हें कोई सुधि न रह गई। रोम रोम में गोपियाँ व्याप्त हो गयीं, मानो श्याम-शरीर गोपी-मय हो गया, कृष्ण उस समय कामतरु से हो गये और गोपियाँ उसमें से निकली हुई पत्तियों सी हो गईं।

नोट:—कितनी व्यंजक पदावली है। हरि का प्रेमावेश देखिये, गोपियाँ उनके रोम-रोम में व्याप्त हो गईं, उनकी स्मृति सारे शरीर पर छा गई, कृष्ण तो काम-तरु से हुए और गोपियाँ उनकी पत्तियाँ सी हुईं। इससे स्पष्ट है हरि-प्रेम-तरु-स्वरूप हैं, गोपियाँ पत्तियाँ हैं, उन्हीं से वे निकली हैं, वे उनकी ही हैं, अतः उद्धव यदि गोपियों के भक्त हुए तो ठीक हुए, क्योंकि वे हरि के ही भक्त। यहाँ व्याज-रूप से हरि ने अपनी गोपी-मयी मूर्ति उद्धव के सामने प्रगट कर यह सूचित किया है कि मुझसे गोपियाँ पृथक नहीं, वे मेरी ही हैं, और मुझी में हैं। मैंने निष्ठुर हो कर उन्हें छोड़ा है। यहाँ भेदाभेद-भाव सत्कल्पना से सूचित किया गया है। गोपी-कृष्ण में भेद नहीं, वे उनमें और उनमें वे हैं।

ह्वै [illegible] बनी मगन पठयो [illegible],
[illegible] हमरे भांति नहीं नैं [illegible]।
सीस उनसें [illegible], [illegible],
ज्यों [illegible] की [illegible], ज्यों हौं [illegible],
[illegible] ज्यों ।७४।

गोपी-रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी,
ऊधौ भ्रमहिं निवारि टारि व्यामोहक जारी।
अपनो रूप दिखाय कै, लीन्हौ बहुरि दुराय,
नन्ददास पावन भयौ, यह हरि-लीला गाय।
प्रेम-रस पुंजनी ॥७४॥

शब्दार्थ:—व्यामोहक—अत्यंत विमोहक।

भावार्थ:—हरि ने अपना गोपी-मय रूप दिखाकर उद्धव के भ्रम को विमोहक जाली के साथ दूर कर दिया, फिर अपना रूप दिखलाकर उसे छिपा भी लिया। नंददास यह प्रेम-रस-पुंजवाली लीला गाकर पवित्र हो गया।

अर्थ:—उद्धव का फिर हरि ने गोपीमय रूप दिखलाया और उनका भ्रम व्यामोहकता के साथ नष्ट कर दिया, फिर अपना सत्य-स्वरूप दिखला कर उसे छिपा लिया। नंददास यह रसमयी लीला गाकर पावन हुए।

नोट:—इस छंद में दो रूप हरि ने दिखलाये हैं, प्रथम गोपी-मय रूप, जिसे दिखाकर उन्होंने प्रगट किया है कि मैं और गोपियां और नहीं; मैं ही गोपी रूप हूँ, ब्रह्म या ईश्वर में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं। इससे पूर्व हरि ने अपने में गोपियों को और गोपियों में अपने को व्याप्त होना सूचित किया था यहाँ अपने को स्वयं गोपी-रूप में दिखा फिर अपना रूप (पुरुष रूप) दिखलाया है और उद्धव की [illegible] ज्ञान-वृत्ति दूर कर दी। स्त्री-पुरुष का भेद क्या किया—यही भ्रमात्मक और व्यामोहक भाव था। यहाँ हरि ने स्पष्ट कर दिया कि मैं एक ही हूँ। फिर अपना रूप छिपा लिया, क्योंकि अब उसकी आवश्यकता नहीं। अब तो हरि-रूप उद्धव की आत्मा में बस गया है। वे उसी हरि-रूप में मग्न हो गये हैं। कैसा ही सुन्दर और सिद्धान्त-प्रकाशक भाव-व्यंजना

है। नंददास इस रस-पुञ्जिनी लीला को गाकर पुनीत हुए। तब हम भी इस लीला-काव्य की इस लघु टीका के लिखने से क्या पवित्र नहीं हुए।



नंददास पावन भये, ज्यौं यह लीला गाय।
त्यौं "रसाल" पावन भयो, सोइ लीला अरथाय।"